

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

बाल-शिक्षण का सन्दर्भ ग्रन्थ

कमला वी. मुकुन्दा

चित्रांकन: राधिका नीलकान्तन

अँग्रेज़ी से अनुवाद

पूर्वा याज्ञिक कुशवाहा



एकलव्य का प्रकाशन

WATIS के सहयोग से

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

SCHOOL MEIN AAJ TUMNE KYA POOCHHA?

कमला वी. मुकुन्दा

चित्रांकन: राधिका नीलकान्तन

कवर डिज़ाइन: कनक शशि

अंग्रेज़ी से अनुवाद: पूर्वा याज्ञिक कुशवाहा

© दिसम्बर 2014

इस किताब के किसी भी भाग का गैर-व्यावसायिक उद्देश्य से उपयोग किया जा सकता है।
स्रोत के रूप में किताब का उल्लेख अवश्य करें तथा एकलव्य को सूचित करें।

संस्करण: दिसम्बर 2014/ 2000 प्रतियाँ

कागज़: 70 gsm नेचुरल शेड और 300 gsm आर्ट कार्ड (कवर)

पराग इनिशिएटिव, सर रतन टाटा ट्रस्ट एवं नवजबाई रतन टाटा ट्रस्ट के वित्तीय सहयोग
से विकसित

अनुवाद तथा प्रकाशन सहयोग – विप्रो एप्लाइंग थॉट इन स्कूल्स (WATIS)

ISBN: 978-93-81300-74-9

मूल्य: ₹ 180.00

प्रकाशक: **एकलव्य**

ई-10, शंकर नगर बी.डी.ए. कॉलोनी,

शिवाजी नगर, भोपाल - 462 016 (म.प्र.)

फोन: (0755) 255 0976, 267 1017

www.eklavya.in/books@eklavya.in

मुद्रक: आदर्श प्रायवेट लिमिटेड, भोपाल (म.प्र.), फोन: (0755) 255 5442

इस किताब में उपयोग किया गया कागज़ नवीकरणीय बागानों से प्राप्त लकड़ी से बना है।

अनुक्रमणिका

प्राक्कथन	07
आमुख	08
आभार	11
परिचय	13
अध्याय-1: मस्तिष्क, उद्विकास और शिक्षण	20

यह अध्याय मस्तिष्क के ढाँचे और कार्यों की मौजूदा समझ का वर्णन करता है और शिक्षा के लिए प्रासंगिक उद्विकासीय मनोविज्ञान (evolutionary psychology) का स्पष्टीकरण प्रस्तुत करता है।

उप-बिन्दु: संरचना एवं कार्य; हिप्पोकैम्पस (hippocampus); मस्तिष्क में मॉड्यूलों (modules) या मापदण्डों का उद्विकास; जन्मजात (innate) और गैर-जन्मजात (non-innate) रूप से सीखना; सिखाना – एक खास मानवीय कौशल।

अध्याय-2: सीखना	37
-----------------	----

यह अध्याय अवधारणात्मक और प्रक्रियात्मक (procedural) तरीके से सीखने का विस्तृत स्पष्टीकरण देता है और शिक्षकों के लिए शोध से उभरे उदाहरणों और सुझावों को प्रस्तुत करता है। विद्यार्थियों में अनौपचारिक विवेचना के महत्व की पड़ताल करता है।

उप-बिन्दु: रचनावाद (constructivism) और अवधारणात्मक बदलाव; खोज द्वारा सीखना; प्रक्रियात्मक ज्ञान और कौशलों को सीखना; सन्दर्भ-आश्रित तर्कशक्ति।

अध्याय-3: स्मृति या याददाश्त

69

यह अध्याय कक्षा के लिए प्रासंगिक मुद्दों पर दीर्घकालिक और अल्पकालिक स्मृति का विस्तृत स्पष्टीकरण उदाहरणों और शोध के साथ देता है।

उप-बिन्दु: दीर्घकालिक स्मृति या लम्बी अवधि की याददाश्त की विषयवस्तु; दीर्घकालिक स्मृतियाँ किस प्रकार व्यवस्थित होती हैं; कामकाजी याददाश्त; कामकाजी याददाश्त और सीखने-सिखाने की प्रक्रिया; स्वचालितता (automaticity): एक विशेष प्रयोग; “मैं पढ़ाई कर रही हूँ”।

अध्याय-4: बाल विकास

92

यह अध्याय उदाहरणों की मदद से बाल विकास के प्रतिद्वन्द्वी सिद्धान्तों को स्पष्ट करता है और शिक्षा के लिए प्रासंगिक क्रान्तिक चरणों (critical periods) की अवधारणा की चर्चा करता है।

उप-बिन्दु: मस्तिष्क का विकास; तंत्रिका कोशिकाओं (neurons) में सन्धियाँ; तंत्रिका कोशिकाओं का मज्जीकरण या मायलिन आच्छादन (myelination); गुणात्मक परिवर्तन दरअसल संचित संख्यात्मक परिवर्तन है; बाल विकास का सतत दृष्टिकोण; बढ़ने में जितना समय लगे, लगाओ; विकास में क्रान्तिक चरण।

अध्याय-5: प्रकृति और परवरिश

121

सीखने और शिक्षा से जुड़े प्रकृति-परवरिश मुद्दे की मौजूदा स्थिति का विस्तृत और समग्र वर्णन।

उप-बिन्दु: सार्वभौमिकता का प्रश्न; प्रकृति हमारी संज्ञानात्मक क्षमताओं में किस प्रकार योगदान करती है; हमारी संज्ञानात्मक क्षमताओं में परवरिश का योगदान; व्यक्तिगत अन्तरों का सवाल।

अध्याय-6: नैतिक विकास

142

यह अध्याय स्कूली शिक्षण के सन्दर्भ में नैतिक विकास के विभिन्न सिद्धान्तों और अध्ययनों का वर्णन करता है।

उप-बिन्दु: यह सही क्यों है? नैतिकता के सहज तत्व; आत्मसात करना यानी एक सक्रिय प्रक्रिया; नैतिक आचरण।

अध्याय-7: बुद्धिमत्ता

175

यह अध्याय बुद्धिमत्ता से सम्बन्धित विभिन्न सिद्धान्तों का उदाहरणों सहित वर्णन करता है (उदाहरणार्थ, गार्डनर, स्टर्नबर्ग) और स्कूली शिक्षण और शिक्षा सम्बन्धी मुद्दों से उन्हें जोड़ता है।

उप-बिन्दु: बुद्धिमत्ता की परिभाषा; बुद्धिमत्ता का मापन; बुद्धिमत्ता में व्यक्तिगत अन्तर; बुद्धिमत्तापूर्ण आचरण के लिए शिक्षित करना।

अध्याय-8: प्रेरणा

207

यह अध्याय आन्तरिक व बाह्य प्रेरणा के सिद्धान्तों और शोध का कक्षा में उनके उपयोगों समेत वर्णन करता है।

उप-बिन्दु: अतृप्त शारीरिक या भावनात्मक आवश्यकताएँ, उद्विगासीय सीमाएँ; नियंत्रण के एहसास का अभाव; इनामों का दुरुपयोग; अप्रासंगिक और चुनौतीहीन काम; कक्षा का वातावरण; शिक्षक का व्यवहार और विद्यार्थियों की प्रेरणा; विद्यार्थियों की मान्यताएँ और प्रेरणा।

अध्याय-9: सीखने का मापन

237

यह अध्याय मापन सिद्धान्त की बुनियादी जानकारी देता है और हमारे स्कूलों के परीक्षण और आकलन अभ्यासों की समालोचना कर, कुछ विकल्प प्रस्तुत करता है।

उप-बिन्दु: मनोवैज्ञानिक परीक्षण का ककहरा; परीक्षा प्राप्तांकों की व्याख्या; मूल्यांकन को सुधारना।

अध्याय-10: भावनाएँ, सीखना और भावनात्मक स्वास्थ्य

259

यह अध्याय सीखने की प्रक्रिया में भावनाओं के महत्व का वर्णन करता है और बताता है कि स्कूल के इस महत्वपूर्ण परन्तु उपेक्षित पक्ष के विषय में शिक्षक किस प्रकार अधिक जागरूक हो सकते हैं।

उप-बिन्दु: अकादमिक भावनाएँ; तनाव!; भावनात्मक परिपक्वता विकसित करना; आत्म-प्रतिष्ठा।

अध्याय-11:

किशोरावस्था, एक जैव-मनो-सामाजिक परिवर्तन 294

यह अध्याय किशोरावस्था की प्रमुख विशेषताओं और इस चरण में आए बदलावों का वर्णन करता है, विकास के इस चरण में विद्यार्थियों की कैसे मदद की जाए, इस सम्बन्ध में सुझाव देता है और किशोरावस्था की सम्भावित सकारात्मक सम्भावनाओं की रूपरेखा प्रस्तुत करता है।

उप-बिन्दु: बदलाव ही बदलाव; स्कूल और किशोर, किशोरावस्था के खतरे और सम्भावनाएँ।

इन्डेक्स

327

कमला वी. मुकुन्दा की पुस्तक के विषय में
चन्द शब्द

शिक्षा पर कमला वी. मुकुन्दा द्वारा लिखी इस किताब जैसी गम्भीर और वृहद पुस्तक पढ़ने का आनन्द अब तक मुझे नहीं मिला था। इसमें कई ऐसी अद्भुत चीज़ें हैं जिन्हें मैंने सोचा था कि मैंने ही खोजी हैं। कमला की विद्वत्तापूर्ण पुस्तक ने मेरे अहंकार की हवा निकाल दी है – इस क्षेत्र में प्रथम आविष्कार कम ही हैं।

बेहद अच्छी लिखी गई यह अद्भुत पुस्तक उन लोगों के लिए एक विश्वकोश-सी सिद्ध होगी जिनकी रुचि बच्चों की शिक्षा में है। हालाँकि मैं यह भी मानता हूँ कि जितना हम शिक्षा से जुड़े लोग मानते हैं, उससे कहीं अधिक स्वायत्तता से गहन चीज़ें सीखी जाती हैं। सम्भवतः स्कूल अक्सर ही कुछ अनमोल विशेषताओं को नष्ट कर डालते हैं।

डॉ. यशपाल
राष्ट्रीय शोध प्रोफेसर

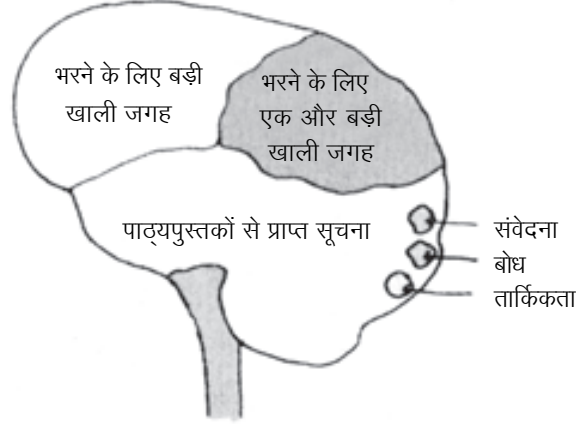
आमुख

स्कूल वह जगह है जहाँ बच्चों को बड़ी मात्रा में औपचारिक (formalised) ज्ञान सिखाया जाता है। इस शिक्षा की योजना बनाने और उसे दिए जाने में भारी ऊर्जा लगाई जाती है। फिर भी पश्चिम और भारत में हुए सर्वेक्षण यही संकेत देते हैं कि यह व्यवस्था दोषपूर्ण है। अमरीका में, जहाँ प्रगतिशील शैक्षणिक विधियाँ अरसे से काम में ली जाती रही हैं, गत 25 वर्षों की रिपोर्टें यही दर्शाती हैं कि विद्यार्थी बुनियादी तत्वों पर पकड़ हासिल नहीं कर पा रहे हैं। और हमारे यहाँ, एक राष्ट्रीय शैक्षणिक सर्वेक्षण ने “विद्यार्थियों के सीखने में चिन्ताजनक कमियों” की सूचना दी है, और वह भी हमारे ‘चोटी के स्कूलों’ में। 27 नवम्बर 2006 को इंडिया टुडे में प्रकाशित इस सर्वेक्षण का निष्कर्ष था कि हमारे विद्यार्थी वास्तव में कुछ भी नहीं समझते हैं, शायद इसलिए क्योंकि यहाँ रटने पर इतना बल दिया जाता है। उनका सुझाव यह था कि शायद हमें अधिक सक्रिय व ‘करके सीखने’ वाले अनुभवों की आवश्यकता है। यह और कई अमरीकी रिपोर्टें इस तथ्य पर दुख जताती हैं कि विद्यार्थी “उच्च-स्तरीय वैचारिक कौशल” सीख नहीं पा रहे हैं।

तो हम गलती भला कहाँ कर रहे हैं? ज़ाहिर है कि इस प्रश्न को अनेक स्तरों पर सम्बोधित किया जा सकता है, परन्तु मैं इस पुस्तक में स्वयं को हमारी शैक्षणिक असफलताओं के पीछे के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों तक ही सीमित रखूँगी।

लगता है कि एक ठेठ भारतीय स्कूल की पाठ्यचर्या की मस्तिष्क के ढाँचे के विषय में अपनी ही निजी समझ होती है। जहाँ तक पाठ्यचर्या का मामला है, हमारा मस्तिष्क शायद कुछ-कुछ आगे दी गई आकृति-सा दिखता है।

हो सकता है कि यह चित्रांकन अतिशयोक्तिपूर्ण हो। पर फिर भी मस्तिष्क भली-भाँति क्या कर सकता है, और हमारा स्कूली शिक्षण उससे क्या उम्मीद रखता है, इनके बीच जो विसंगति है, वह इस चित्र से रेखांकित होती है। इस बेमेलन को कुछ संक्षिप्त वक्तव्यों में समेटा जा सकता है:



- मस्तिष्क वास्तविक जगत् के सन्दर्भों से सीखने में अच्छा होता है। स्कूल अमूर्त या पाठ्यपुस्तकों से सीखने पर बल देते हैं।
- स्कूली उम्र से पहले की एक बच्ची जीव विज्ञान, भौतिकशास्त्र और मनोविज्ञान के क्षेत्र में अपने निजी 'लोक' सिद्धान्त विकसित करने लगती है। स्कूल इनकी उपेक्षा करता है और उनके स्थान पर 'सही' ज्ञान रखने की कोशिश करता है।
- स्मृति रचनात्मक और व्याख्यात्मक होती है। स्कूल सीखी गई सामग्री के पुनरुत्पादन (या हूबहू उगलने) पर बल देते हैं।
- भावनाओं को सीखने और स्मृति से अलग नहीं किया जा सकता। स्कूल सीखने के भावनात्मक पक्ष की उपेक्षा करते हैं।

अन्य भी कई बेमेल बातें हैं, पर प्रमुख तो यही लगती हैं। तो इसका समाधान क्या है? शायद हमें औपचारिक अध्यापन के विचार को ही त्याग देना चाहिए। मैंने कुछ प्रगतिशील शिक्षाविदों को ऐसी टिप्पणियाँ करते सुना है, 'बच्चों को उनके हाल पर छोड़ देना चाहिए और वे ज़रूरत की चीज़ें स्वयं सीख लेंगे।' बेशक यह उस दमघोंटू स्कूली वातावरण के प्रति एक प्रतिक्रिया है जिसमें अधिकांश बच्चे स्वयं को पाते हैं। मैं इस भावना को बखूबी समझ सकती हूँ। परन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि 'उनके हाल पर छोड़ने' का अर्थ दरअसल क्या है? क्या हम सीखने की सामग्री और पुस्तकें उन्हें उपलब्ध करवाएँ? क्या हम उन्हें केवल तभी पढ़ाएँ जब वे सवाल लेकर हमारे पास आएँ? क्या किताबों से घिरे रहने से ही बच्चे खुद ब खुद पढ़ना और लिखना

सीख जाएंगे, जिस तरह वे भाषा-समृद्ध वातावरण में रहते हुए बोलना और समझना सीख लेते हैं?

मैं सोचती हूँ कि यह वाकई सच है कि एक समृद्ध वातावरण में बच्चे वस्तुओं और लोगों से अन्तरक्रिया करते हुए बहुत कुछ सीखेंगे। पर इस अनिर्देशित, अन्तःप्रेरणा से सीखने की सीमाएँ होती हैं। मैं प्रथम अध्याय में यह स्पष्ट करूँगी कि इन्सानों के उद्विकास ने मस्तिष्क को इस तरह नहीं गढ़ा है कि वह 'स्वाभाविक' रूप से हाई स्कूल स्तर का बीजगणित या आवर्त सारणी सीख ले। उपरोक्त सर्वेक्षणों में जिस 'उच्च-स्तरीय सोच-विचार' की कमी का रोना रोया गया था, उसे विकसित करने के लिए कुछ कल्पनाशील व सुस्पष्ट निर्देशों की ज़रूरत होती है। हमारा संसार इस हद तक बदल गया है कि इस प्रकार की चीज़ें सीखना उसमें सफलतापूर्वक अनुकूलित होने के लिए केन्द्रीय रूप से आवश्यक बन गया है। अतः हमें पढ़ाना ही होगा। हम 'अपने बच्चों को यों नहीं छोड़ सकते' कि वे जो चाहें उतना भर सीख लें; समाज की माँगों के सन्दर्भ में देखें तो, ऐसा करना मेरे विचार से गैर-ज़िम्मेदारी होगी। इस आवश्यकता को स्कूली शिक्षण कितनी अच्छी तरह हासिल करता है? इस छानबीन में मदद के लिए हमें इस विषय में अधिक जानना होगा कि मस्तिष्क कैसे काम करता है।

स्मृति, सीखना, बुद्धिमत्ता, बाल विकास व मनोविज्ञान के अन्य क्षेत्र हमें तमाम ऐसी बातें बता सकते हैं जो बेहतर शिक्षक बनने में हमारी मदद करें। इन्हीं शीर्षकों से इस पुस्तक के अध्याय हमें इन विषयों में उपयोगी अन्तरदृष्टि देते हैं। इस पुस्तक को पढ़ते समय यह ध्यान रखें कि ये विषय एक-दूसरे से अलग जलरोधी डिब्बे नहीं हैं। सीखना, स्मृति और बुद्धिमत्ता को एक-दूसरे से काटकर समझा नहीं जा सकता; इस तथ्य के बावजूद इन शीर्षकों से अलग-अलग अध्याय लिखने के कारण ऐसा लग सकता है कि मैं ठीक यही कर रही हूँ। असलियत में ये सब परस्पर सम्बन्धित हैं। यही कारण है कि इन अध्यायों में अक्सर अन्य अध्यायों का उल्लेख होगा और लगेगा कि इनमें कुछ दोहराव (overlap) है। आशा करती हूँ कि आप यदाकदा पिछले अध्यायों पर लौटेंगे, और जो हिस्से रोचक लगे उन्हें पुनः पढ़ेंगे, क्योंकि इससे आपकी समझ और सवाल, दोनों ही पैने होंगे।

कमला वी. मुकुन्दा
मार्च, 2009

आभार

इस किताब के लेखन के दौरान कई लोगों के सहयोग और प्रोत्साहन के लिए मैं उनकी आभारी हूँ। 'विप्रो अप्लायिंग थॉट इन स्कूल्स' ने इसे सम्भव बनाने के लिए वित्तीय अनुदान उपलब्ध करवाया, और मैं आनन्द स्वामीनाथन व प्रकाश अय्यर की शुक्रगुज़ार हूँ। हार्पर-कॉलिन्स की शीमा मुखर्जी को धन्यवाद, जिन्होंने (मूल अँग्रेज़ी संस्करण के) सम्पादन के दौरान धैर्य से, सहर्ष और झटपट मेरे अनन्त प्रश्नों का समाधान किया, और वी.के. कार्तिका को भी जिन्होंने मुझे रोमांच भरी 'हरी झण्डी' दिखाई।

वर्नान हॉल को धन्यवाद जिन्होंने मुझे मनोविज्ञान को समझना सिखाया, शिक्षा के विषय में सोचना सिखाया और यह भी कि कौन-से सवाल पूछना उपयोगी होगा। पुस्तक का शीर्षक भौतिकशास्त्री रिचर्ड फाइनमैन के उद्धरण से प्रेरित है, जो अपनी माँ को श्रेय देते हैं कि वे यह प्रश्न स्कूल से लौटने पर उनसे पूछा करती थीं। प्रतिभाशाली कलाकार राधिका नीलाकान्तन को धन्यवाद जो मेरे बाएँ मस्तिष्क की दाहिनी मस्तिष्क बनीं। उनके चित्रों ने इस पुस्तक के पाठ में जान फूँकी। यह उनकी अनेकों-पुस्तकों-में-प्रथम पुस्तक है। मेरे बचपन की सखी सुमना रमणन का आभार, जिन्होंने मुझे सही समय पर याद करने की ज़हमत उठाई। अहल्या चारी, जो लगभग पन्द्रह वर्षों से मेरी प्यारी, बुद्धिमान मित्र और दिशादर्शक रही हैं। वेणु नारायण, जिनके सहयोग पर मैं न केवल आश्रित रही हूँ, बल्कि लम्बे समय से अक्सर उसे अपना अधिकार ही माना है। देविका नारायण, जिन्होंने मेरी ओर से कई शिक्षकों से साक्षात्कार किया, और इस प्रक्रिया में बह-सी गई। वेंकटेश ओंकार और कर्बी हूमिन्यूइक जिन्होंने पाण्डुलिपि के कुछ अंशों के सम्पादन में मदद की, और माइकल लिटिल जिन्होंने मुखपृष्ठ का विचार दिया। मेरी प्रतिभावान संगीत शिक्षिका भारती प्रताप का आभार, जिन्होंने मेरे जीवन को

समृद्ध किया। प्रोफेसर सी. शेषाद्री का आभार जिन्होंने मुझे आश्वस्त किया कि इस प्रकार की पुस्तक उपयोगी होगी, और वह धक्का भी लगाया जिसकी मुझे आवश्यकता थी।

ऊषा अरुर, इस किताब पर तत्काल व उदार प्रतिक्रिया के लिए आपको धन्यवाद। आपकी कदरदानी मेरे लिए बहुत मायने रखती है। अरविन्द गुप्ता, जो आप हैं बस वही होने के लिए, ऊर्जावान, उत्साही, कटिबद्ध और परवाह करने वाले इन्सान होने के लिए शुक्रिया। जिन लोगों ने आपसे प्रेरणा ली है, उस सूची में मेरा नाम भी दर्ज कर लें। प्रोफेसर यशपाल, आपके अमूल्य परामर्श और उत्साहवर्धन के लिए धन्यवाद, क्योंकि आपके कथन भारतीय शिक्षा की गहन समझ और बच्चों के प्रति असीम प्रेम से उपजे हैं।

अन्त में मैं इन लोगों का धन्यवाद करना चाहूँगी: मेरे पति शशिधर, जिन्होंने मूलतः यह विचार सुझाया, उस पर मुझे भरोसा दिलवाया और वह सारा सहयोग दिया जो इस परियोजना को पूरा करने के लिए आवश्यक था। श्रुति को सबसे प्यारी और माँग न करने वाली बेटी होने के लिए शुक्रिया। मेरे माता-पिता को धन्यवाद, जिन्होंने जीवन में मेरी छोटी से छोटी उपलब्धि की भी प्रशंसा की और चौबीस वर्ष पूर्व भौतिकशास्त्र से मनोविज्ञान में कूदने के मेरे निर्णय का समर्थन किया। मेरे दोनों तरफ के विशाल परिवार के छह माह से लेकर तिहत्तर वर्षीय सदस्यों को उनके प्रेम, प्रोत्साहन और साथ के लिए धन्यवाद। सी.एफ.एल. परिवार को, उनकी दोस्ती के लिए, और काम की जगह व मौका देने, असंख्य तरीकों से बढ़ने का अवसर देने के लिए धन्यवाद। मेरे विद्यार्थियों का आभार जिन्होंने मुझे ऐसे पाठ पढ़ाए जो मैं किताब से कभी सीख नहीं पाती। कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया के मेरे मित्रों और शिक्षकों को धन्यवाद जिनका समर्पण भाव मुझे प्रेरित करता है।

परिचय

यह किताब मुख्यतः शिक्षकों के लिए है। साथ ही यह उन सबके लिए भी है जो बच्चों के निकट सम्पर्क में रहते हैं। एक शिक्षिका होने के नाते मैं अक्सर अपने विद्यार्थियों की सीखने की क्षमताओं और भावनात्मक स्थिति के बारे में सोचती हूँ। एक विद्यार्थी को कोई विषय खास तौर से कठिन लगता है, दूसरा प्रेरणाशून्य है, तीसरी विद्यार्थी अपनी सम्भावनाओं के अनुरूप काम नहीं कर पाती, तो चौथी का ध्यान भटकता रहता है। कभी तो हम इन मुद्दों को सन्तोषजनक रूप से सलटा लेते हैं ताकि काम आगे बढ़ा सकें, परन्तु अक्सर वे अनसुलझे ही लटकते रहते हैं। दरअसल एक शिक्षक के रोज़मर्रा के काम से उभरने वाले सवाल गहरे और बुनियादी होते हैं, व्यापक निहितार्थ वाले, और कई तो ऐसे जिनके कोई ज्ञात जवाब हैं भी नहीं। फिर भी, हर कोई चाहता है कि उसे उसके प्रश्नों के उत्तर मिलें; और शिक्षक भी इससे अलग नहीं हैं। हम अपने अनुभव और अध्ययन द्वारा सीखना, बाल विकास, अभिप्रेरणा (motivation), बुद्धि, नैतिकता, भावनात्मक स्वास्थ्य और अध्यापन के अन्य महत्वपूर्ण पक्षों पर अपने-अपने निष्कर्ष निकालते हैं और अपनी निजी मान्यताएँ गढ़ते हैं। और इन्हीं विश्वासों के आधार पर हम काम करते हैं।

किसी शिक्षक की मान्यताएँ और उसके बोध अक्सर बेहद मज़बूत होते हैं। ऐसा शायद इसलिए होता है क्योंकि हमारी मान्यताएँ घटनाओं की हमारी व्याख्याओं को व्यवस्थित करती चलती हैं, अतः हम जिधर भी देखें हमें केवल उन मान्यताओं की पुष्टि ही नज़र आती है। कई शिक्षकों की बहुत-सी ऐसी मान्यताएँ भी होती हैं जिन्हें उन्होंने कभी शब्दों में अभिव्यक्त नहीं किया होगा, किन्तु फिर भी उनका उनमें दृढ़ विश्वास होता है। मेरे अपने शब्दों में प्रस्तुत किए गए चन्द उदाहरण आपको यह समझा सकेंगे कि आखिर मैं कह क्या रही हूँ।

- जनसंख्या में बुद्धिमत्ता समान रूप से बँटी नहीं होती है।
- सीखना हमेशा मज़ेदार होना चाहिए।
- स्कूल किसी लक्ष्य का साधन मात्र है।
- कक्षा में विविधता एक समस्या है।
- बच्चों को स्वतंत्र विचारक बनना सिखाना चाहिए।
- बच्चों को वयस्कों की तरह सोचना सीखना चाहिए।
- कोई भी कुछ भी सीख सकता है।
- बच्चों को सीखना चाहिए कि वे अपने आपको असली दुनिया के माफिक कैसे बनाएँ।
- बच्चे अपनी ही गति से सबसे अच्छी तरह सीखते हैं।

शिक्षक के रूप में हमारे द्वारा ऐसी मान्यताओं और विश्वासों को मानने के महत्व के बारे में जो कहा जाए वह कम है। आप देख ही सकते हैं कि ऊपर दिए प्रत्येक कथन से कुछ निर्णय और ढाँचे उपजते ही हैं। आप कह सकते हैं कि अगर हमारी मान्यताएँ 'सत्य' हों तो हमारे कर्म भी 'सही' होंगे। परन्तु जब बात शिक्षा और सीखने से जुड़ी हो तो पूर्णतः सत्य कथन बहुत अधिक हैं नहीं। किसी भी दृढ़ विश्वास में इतनी ताकत होती है कि वह हमें शिक्षक के रूप में कठोर और अनमनीय (गैर-लचीला) बना दे, जो, किसी विशेष परिस्थिति में किसी विद्यार्थी विशेष की स्थिति के प्रति हमें असंवेदनशील बना सकता है। बारीकी से देखने पर, ऊपर दिए गए सभी उदाहरण बेहद पेचीदा बन जाते हैं और उनकी सत्यता को आसानी से स्थापित नहीं किया जा सकता। यह अनुभूति दरअसल मुक्त करने वाली है। यह हमें परिस्थितियों को विभिन्न नज़रियों से देखने, दृढ़ विश्वासों पर सवाल उठाने, अपवादों और विचलनों को देखने, और अपने तौर-तरीकों में लचीला बनने के लिए आज़ाद करती है। आवश्यकता है सोच-विचार के लिए समय और स्थान की, अपने नज़रियों और शिक्षक के रूप में खुद पर प्रश्न उठाने की।

जो शिक्षक सीखने-सिखाने की प्रक्रिया पर चिन्तन कर सकता है उसका नज़रिया शिक्षा के प्रति स्वाभाविक रूप से खोजी व जिज्ञासा द्वारा निर्देशित होता है। यह नज़रिया मूलतः वैज्ञानिक है, ऐसा जो मनोविज्ञान की वैज्ञानिक

विधियों से बड़ी सुन्दरता से मेल खाता है। मनोविज्ञान का क्षेत्र उन सभी विषयों का अध्ययन करता है जो हमारे काम में केन्द्रीय हैं: सीखना, स्मृति, बुद्धिमत्ता, अभिप्रेरणा, बाल विकास और भावनात्मक स्वास्थ्य। मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों को प्रतिपादित करते हैं, उन्हें जाँचते हैं, और परिष्कृत करते हैं। उनके लिए कोई भी एक सिद्धान्त कभी भी पूरी तरह और सर्वथा सत्य नहीं होता – चाहे वह अन्य लोगों में कितना भी लोकप्रिय क्यों न हो। प्रत्येक मनोवैज्ञानिक व्याख्या की अपनी चेतावनियाँ, शर्तें और आलोचनाएँ होती हैं। इसलिए मनोवैज्ञानिकों के काम को समझना हमें शिक्षकों के रूप में अपनी मान्यताओं को आलोचनात्मक दृष्टि से देखने में, जागरूक रहने में मदद कर सकता है। हम पाते हैं कि सत्य हमेशा सूक्ष्म और पेचीदा होता है, और उसे 'सफल शिक्षक के लिए तरकीबों' के रूप में पेश नहीं किया जा सकता। मेरे लिए यही मनोविज्ञान की खूबसूरती है और शिक्षा के लिए उसका सबसे सशक्त योगदान भी।

इससे भी महत्वपूर्ण यह है कि मनोविज्ञान का अध्ययन हमें अपने 'छोटे' सवालों को (जो हमारे किसी विद्यार्थी या कक्षा विशेष के बारे में हों) उठाकर, उन्हें सघन मनोवैज्ञानिक बहस के ज़्यादा बड़े, शाश्वत प्रश्नों के बरअक्स देखने में भी मदद करता है। 'उसे यह याद क्यों नहीं रहता?' के सवाल से 'स्मृति दरअसल है क्या?' तक जाना, 'क्या उसमें यह क्षमता है?' से प्रारम्भ कर 'किन क्षमताओं के साथ हम पैदा होते हैं?' के सवाल तक पहुँचना, 'क्या उन्होंने समझ लिया' से चलकर 'ज्ञान का निर्माण कैसे होता है' तक पहुँचना, ये छोटे से कदम हैं। शिक्षकों के रूप में अपने काम और व्यापक सामाजिक और दार्शनिक मुद्दों के बीच जुड़ाव देखना रोमांच पैदा करता है। यह हमें याद दिलाता है कि पढ़ाना दरअसल इन्सान होने के केन्द्र में है।

कुछ स्पष्टीकरण

इस किताब में मैंने शिक्षा से ताल्लुक रखने वाले प्रमुख मनोवैज्ञानिक क्षेत्रों में हो रहे समसामयिक शोध का सार-संक्षेप प्रस्तुत करने की कोशिश की है। बेशक 'समसामयिक' एक सापेक्ष शब्द है। जिन शोधों की यहाँ समीक्षा की गई है, वे दरअसल पिछले कई दशकों में हुए हैं, फिर भी अधिकांश बीते दस या पन्द्रह वर्ष के दौरान के हैं। ये शोध-पत्र पेशेवर मनोवैज्ञानिक

पत्रिकाओं में छपे थे और इंटरनेट का उपयोग करने के बाद भी उन तक भारतीय पाठकों की पहुँच सीमित है। इसके बावजूद मैंने हर उस आलेख को सूचीबद्ध किया है जिसे पढ़कर मुझे इस किताब के अध्यायों को लिखने में मदद मिली। यह उन पाठकों के लिए है जो किसी लेख को तलाशना चाहें। कई लेखों के लिए मैंने लेखकों से सम्पर्क किया और ई-मेल से उनकी प्रतियाँ मँगवाईं। लगभग बिना किसी अपवाद के प्रत्येक अनुरोध पर लेखकों ने सहर्ष प्रत्युत्तर दिया। मैं उन सबकी आभारी हूँ।

जिस तरह के शोध को यहाँ शामिल किया गया है उसके बारे में कुछ बातें स्पष्ट करने की आवश्यकता है। शुरुआत मैं उस नितान्त ज़ाहिर-से विचार से करती हूँ जो भारतीय सन्दर्भ में मनोविज्ञान की किताब पढ़ने वाले किसी पाठक के मन में सबसे पहले उठता है: *अगर यह शोध पश्चिम में किया गया है तो क्या यह हमारी परिस्थिति में वास्तव में प्रासंगिक है?* इस परियोजना को पूरा करने में मुझे जो दो वर्ष लगे उस दरमियान मैं इस अत्यधिक महत्वपूर्ण प्रश्न को और भी पैना कर पाई हूँ।

मैंने भारत में, भारतीय प्रतिभागियों पर किए गए मनोवैज्ञानिक शोध को शामिल करने की कोशिश भी की। हालाँकि मुझे कुछ ऐसे शोध मिले भी परन्तु वह भारतीय शिक्षा के समूचे मनोविज्ञान को गढ़ने के लिए पर्याप्त नहीं थे। भारत में मनोवैज्ञानिक शोध की स्थिति का कई विद्वानों ने अध्ययन किया है और उस पर टिप्पणी भी की है। मैंने पाया कि निहारिका वोहरा¹ का हाल का सर्वेक्षण सर्वाधिक जानकारियों से भरपूर है। वे भारत में मनोवैज्ञानिक शोध के देसीकरण के तीन रास्तों का वर्णन करती हैं। एक रास्ता तो मनोवैज्ञानिक परिघटनाओं के हमारे निजी सांस्कृतिक स्पष्टीकरणों से होकर जाता है। उदाहरण के लिए, अवसाद और चिन्ता पर योग के प्रभाव के बारे में कुछ अध्ययन हुए हैं; या फिर हिन्दू सांख्य दर्शन पर आधारित

1. निहारिका वोहरा (2004) 'द इंडिजनाइज़ेशन ऑफ साइकॉलजी इन इंडिया: इट्स यूनिफ़ॉर्म एंड प्रोग्रेस', जो बी.एन. सेतियादी, ए. सुप्रतीकन्या, डब्ल्यू.जे. लोनेर और वाय.एच. पूर्तिर्लिगा (सम्पादित) *ऑनगोइंग थीम्स इन साइकॉलजी एंड कल्चर* (ऑनलाइन एडिशन), मेलबर्न, एफ.एल.: इंटरनेशनल एसोसिएशन फॉर क्रॉस कल्चरल साइकॉलजी <http://www.iaccp.org> से लिया गया है।

त्रिआयामी व्यक्तित्व सिद्धान्त पर अध्ययन किए गए हैं। परन्तु यह मार्ग अधिक लोकप्रिय नहीं है। शायद इसलिए कि भारतीयों में बेहद सांस्कृतिक विविधता है। दूसरा रास्ता जो अधिक लोकप्रिय है, भारतीय वास्तविकताओं – जैसे गरीबी, भीड़भाड़ और लिंग आधारित अन्तरों – को मनोवैज्ञानिक अध्ययन का विषय बनाना है। तीसरा रास्ता है पाश्चात्य सिद्धान्तों और अवधारणाओं को भारतीय सन्दर्भों में जाँचने का। कई सालों तक इसका अर्थ पाश्चात्य निष्कर्षों की नकल से अधिक कुछ नहीं रहा है। परन्तु हाल ही में इस प्रकार के अधिक कल्पनाशील और मौलिक अध्ययन भी हुए हैं। इन प्रयासों की मात्रा का कुछ अनुमान आपको हो सके, इसलिए बता दें कि वोहरा ने पाया कि भारतीय पत्रिकाओं में 1998 से 2002 के बीच छपे कुल 1,895 प्रयोगाश्रित मनोवैज्ञानिक आलेखों में 26 प्रतिशत आलेख ऐसे थे जिन्हें किसी न किसी रूप में देशज कहा जा सकता था। इनमें से 12 आलेखों में पहला रास्ता अख्तियार किया गया था, 394 दूसरे रास्ते के थे और 85 में तीसरा रास्ता अपनाया गया था। अगर हमारा लक्ष्य एक पूर्णतः स्वायत्त वैज्ञानिक भारतीय मनोविज्ञान है, तो हम उस दिशा में काफी धीमी गति से बढ़ रहे हैं। इस प्रक्रिया को बढ़ाने में सहायक बनने के लिए हमें कुछ अच्छी पत्रिकाओं, क्षेत्रीय और राष्ट्रीय मनोवैज्ञानिक संघों और वोहरा के शब्दों में ‘...परिपक्व शोधकर्ताओं की एक न्यूनतम ज़रूरी संख्या (critical mass)’ की आवश्यकता है, जो राष्ट्रीय रुचि के विषयों और भारतीय सन्दर्भ में प्रासंगिक समस्याओं की पहचान कर सकें।

इस दौरान पाश्चात्य मनोविज्ञान का क्षेत्र हमें अनेकों अन्तरदृष्टियाँ उपलब्ध करवाता है। बेशक हममें सांस्कृतिक अन्तर हैं। हमारे विशिष्ट विश्वास और तौर-तरीके पाश्चात्य लोगों से बहुत अलग हैं। फिर भी चिन्तन (thought) और सीखने (cognition) के काम करने के तरीके समान ही होते हैं। मनोवैज्ञानिक शोध के कुछ निष्कर्षों पर सांस्कृतिक प्रभाव अधिक नज़र आते हैं, तो कुछ पर कम।² इन निष्कर्षों से अधिक महत्वपूर्ण हैं भारत में शिक्षकों

2. इस विषय पर 2005 में छपे आरा नॉरेंज़यान और स्टीवन जे. हाइन के आलेख ‘साइकोलॉजिकल यूनिवर्सल्स: व्हाट आर दे एंड हाऊ कैन वी नो?’ *साइकोलॉजिकल बुलेटिन*, खण्ड-131, संख्या-5: 763-784, में इस पर बढ़िया चर्चा मिलेगी।

के रूप में हमारे लिए उनके निहितार्थ। मैंने पाया कि मैं अमूमन इन निहितार्थों से आसानी से बहुत कुछ निकाल सकती थी।

पाठक यह भी पूछ सकते हैं कि इस किताब के विषय कैसे चुने गए। शैक्षणिक मनोविज्ञान की परम्परागत पाठ्यपुस्तकों की तरह इस किताब में मनोविज्ञान के इतिहास, उसकी विधियों या विभिन्न विचारधाराओं का विस्तृत वर्णन नहीं है। पारम्परिक रूप से पसन्द किए जाने वाले मनोवैज्ञानिकों (उदाहरण के लिए, पियाजे या वायगोत्स्की के सिद्धान्त) की विस्तृत या गहन चर्चा यहाँ नहीं की गई है। बाज़ार में ऐसी कई श्रेष्ठ किताबें उपलब्ध हैं जिन्होंने ठीक यही काम किया है। रुचि रखने वाले शिक्षकों को सिद्धान्त और अमल के बीच स्वयं जुड़ाव स्थापित करना पड़ता है, और ये कड़ियाँ अक्सर साफ-साफ ज़ाहिर भी नहीं होतीं। इस किताब की परिकल्पना करते समय मैंने दरअसल दूसरे छोर से शुरुआत की। मैंने पहले कई ऐसे मुद्दों की सूची बनाई जो शिक्षकों को सबसे रोचक या उलझन पैदा करने वाले लगते थे। ये मुद्दे साथी शिक्षकों से हुई तमाम चर्चाओं और एक शिक्षक के रूप में लगभग दो दशकों तक काम करते समय उठे मेरे अपने सवालों से निकले हैं। इस तरह चुने गए प्रत्येक विषय पर मैंने अब तक उपलब्ध मनोवैज्ञानिक साहित्य को इकट्ठा किया और उसे इस प्रकार व्यवस्थित किया जो मुझे लगा कि प्रासंगिक, जानकारी देने वाला, और पढ़ने में आनन्ददायक होगा।

शिक्षा के लिए प्रासंगिक इस आश्चर्यजनक रूप से समृद्ध साहित्य की छानबीन करते समय मैंने एक निर्णय लिया, जिस पर मुझे पछतावा करने का कोई कारण कभी नहीं मिला। कुछ मनोवैज्ञानिक पशुओं (कुत्तों, बिल्लियों, बन्दरों, चूहों और कबूतरों) के साथ काफी काम करते हैं। हालाँकि मैं उनके काम की निपुणता की प्रशंसक हूँ, पर यह सच्चाई बनी रहती है कि इन पशु-पक्षियों को पीड़ादायक स्थितियाँ झेलनी पड़ती हैं। मैं पशुओं पर किए गए अध्ययनों को छोड़ना चाहती थी। मुझे यह जानकर खुशी हुई कि मैं जिन परिघटनाओं का वर्णन करना चाहती थी, उनका अध्ययन इन्सानों के साथ भी किया गया है, वह भी उन तरीकों से जो पर्याप्त रूप से नैतिक हों और मेरे लिए स्वीकार्य। सो इस किताब में आप परिचित भूलभुलैयाँ में दौड़ते उन चूहों के बारे में नहीं पढ़ेंगे।

इस किताब की योजना बनाते समय मुझसे कई लोगों ने (शिक्षकों व गैर-शिक्षकों दोनों ने समान रूप से) कहा, 'पर शिक्षक तो पढ़ते ही नहीं हैं!' हालाँकि यह सच है कि स्कूल के लम्बे घण्टों के बाद शिक्षकों को निजी स्तर पर पढ़ने का समय बहुत ही कम मिल पाता है, फिर भी यह कहना अतिशयोक्ति है कि वे कतई पढ़ते ही नहीं हैं। शिक्षा और अन्य व्यापक मुद्दों पर पढ़ने का समय निकालना ही नौकरी के रूप में अध्यापन करने और एक सार्थक व रोमांचक पेशे के रूप में पढ़ाने के बीच का ज़रूरी फर्क ला सकता है। अतः यह किताब आपके लिए, एक व्यस्त शिक्षक के लिए है, क्योंकि मेरा विश्वास है कि आप अपने अन्तस में सीखने की आत्मा की लौ जगाए रखना चाहते हैं।

अध्याय-1

मस्तिष्क, उद्विकास और शिक्षण



मस्तिष्क की संरचना की बुनियादी बातें हम में से अधिकांश हाई स्कूल में ही सीख लेते हैं। हम जानते हैं कि मस्तिष्क उन खास कोशिकाओं से बना होता है जो तंत्रिका कोशिकाएँ (neurons) कहलाती हैं। ये विद्युत संवेगों के रूप में सूचना प्रसारित करती हैं। दरअसल तंत्रिका कोशिकाएँ पूरे शरीर में फैली होती हैं और मस्तिष्क तक संवेदन पहुँचाती हैं और मस्तिष्क से सन्देशों को शरीर के विभिन्न भागों तक पहुँचाती हैं। परन्तु मस्तिष्क में स्थित दस खरब तंत्रिका कोशिकाओं का काम एक सम्मोहक रहस्य है। कुछ ऐसे तौर-तरीकों से जिन्हें हमने अब तक समझना शुरू ही किया है, ये तंत्रिका कोशिकाएँ ध्यान, प्रत्यक्ष ज्ञान, स्मृति, तर्क शक्ति, बुद्धिमत्ता और रचनात्मकता को जन्म देती हैं। है ना करामात!

संरचना एवं कार्य

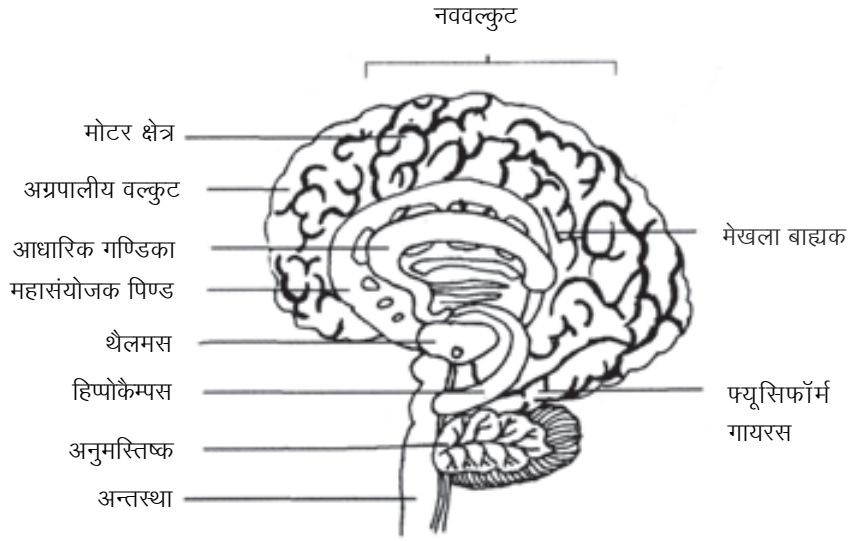
मान लीजिए आप यह जानना चाहते हों कि कोई पेचीदा मशीन कैसे काम करती है। तो आप उसे खोलकर उसके अन्दरूनी कार्यों को करीब से जाँच सकते हैं। यह तरीका घड़ियों, साइकिलों और मोटरगाड़ियों में कारगर होता है – पर मानव मस्तिष्क का मामला कुछ कठिन है। जब आप गाड़ी का बोनट खोलते हैं तो आसानी से अन्दर के कई हिस्सों को पहचान लेते हैं, चाहे आप उनके नाम और काम से परिचित न हों, तब भी। पर मस्तिष्क को देखने पर उसके विभाजनों को देख पाना मुश्किल है। पहली नज़र में तो वह एक ठोस पुंज-सा लगता है; बारीकी से जाँचने पर कुछ आकार और संरचनाएँ नज़र आती हैं जिन्हें हम दिमाग के 'हिस्से' कह सकते हैं।



मोटरगाड़ी की ही तरह, हम उम्मीद यह रखते हैं कि मस्तिष्क के अलग-अलग हिस्सों के भिन्न-भिन्न कार्य होंगे, और यह बात काफी हद तक सच भी है। मस्तिष्क के कुछ हिस्से उद्विकासीय अर्थ में अधिक पुराने हैं; अर्थात् ये अन्य पशुओं में भी, जिनमें सरीसृप और मछलियाँ शामिल हैं, पाए जाते हैं। इनके नाम हैं महासंयोजक पिण्ड (corpus callosum), आधारिक गण्डिका (basal ganglia), अन्तस्था (medulla) और अनुमस्तिष्क (cerebellum)। ये जो काम करते हैं उनमें प्रतिवर्ती क्रियाएँ (reflexes), श्वास और हृदयगति का नियमन, सूक्ष्म और स्थूल हरकतों का समन्वयन, नींद और भूख के चक्रों का नियमन और अन्य कई काम भी शामिल हैं।

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

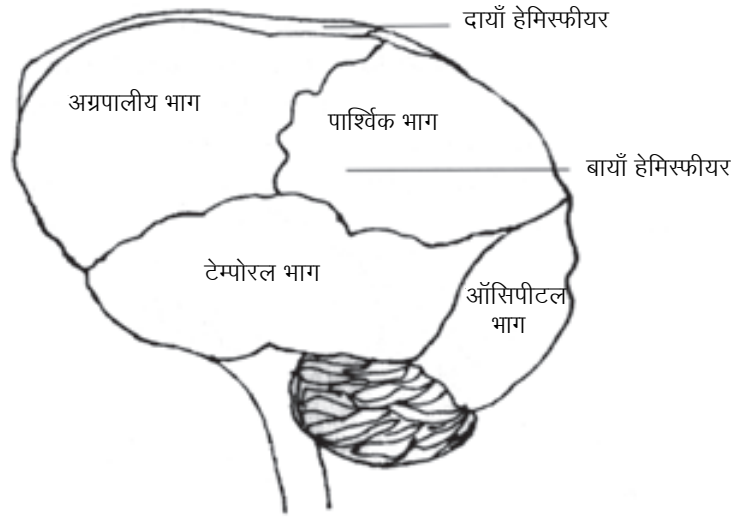
मस्तिष्क का एक बड़ा भाग उसका बाह्य आवरण है जिसे **नववल्कुट** (neocortex) कहते हैं। यह तीन मिलीमीटर मोटा, झुर्रीदार, ऊतकों का धूसर पिण्ड है जो दिखने में कुछ खास नहीं। पर यही हमारा तथाकथित 'उच्चतर' मस्तिष्क है जो हमें अन्य पशुओं से अलग बनाता है। शिक्षकों के रूप में हम अपने विद्यार्थियों से स्कूल में जो कुछ करवाना चाहते हैं – समझना, याद रखना, सह-सम्बन्ध जोड़ना, सम्प्रेषण करना, अनुमान लगाना, समस्या समाधान करना और खोजना – ये सभी काम इस नववल्कुट द्वारा किए जाते हैं। शरीर के अनुपात में शेष पशुओं की तुलना में हम मानवों का मस्तिष्क ही सबसे बड़ा होता है। और आकार में यह वृद्धि इस बड़े हुए नववल्कुट के कारण ही होती है। नीचे दी गई तस्वीरें मस्तिष्क के आन्तरिक और बाहरी स्वरूप को दर्शाती हैं।



मनोवैज्ञानिकों ने मस्तिष्क के विभिन्न भागों के नामांकित चित्र बनाना जिन तरीकों से सीखा, उनमें एक था उन रोगियों का अध्ययन जिनके मस्तिष्क क्षतिग्रस्त हो गए थे। मस्तिष्क को पहुँचे नुकसान को कुछ खास (कभी-कभार अजीबोगरीब) लक्षणों से जोड़ा जा सकता है। दूसरे शब्दों में, हम यह मान सकते हैं कि मस्तिष्क का एक खास क्षतिग्रस्त हिस्सा उस लुप्त या प्रभावित कार्य के लिए ज़िम्मेदार था। पहले केवल रोगी की मृत्यु के बाद

शव-परीक्षा से ही यह पता लगाना सम्भव था कि नुकसान मस्तिष्क के किस हिस्से में हुआ है। परन्तु आज मस्तिष्क को स्कैन करने की तकनीकें हमें उस नुकसान के चित्र तत्काल उपलब्ध करवा देती हैं। सच तो यह है कि जैसे-जैसे स्कैनिंग तकनीक में सुधार आ रहा है, मनोवैज्ञानिक सामान्य क्रियाशील मस्तिष्क तक को 'देख' सकते हैं।

तकरीबन एक शताब्दी से भी अधिक समय से हो रहे इस प्रकार के शोध के कारण हम अब काफी अच्छी तरह समझने लगे हैं कि मस्तिष्क में कार्यों का विभाजन किस तरह से होता है। मसलन हम जो कुछ देखते हैं उसको हमारे



मस्तिष्क का निचला पिछला हिस्सा प्रसंस्कृत या प्रोसेस (process)* करता है, और हम सभी (कुछ अपवादों के साथ) भाषा को मस्तिष्क के उस हिस्से में प्रोसेस करते हैं जो हमारे बाएँ कान के पीछे और उसके इर्द-गिर्द है। हम शारीरिक संवेगों को मस्तिष्क के ऊपर की एक सँकरी पट्टी में प्रोसेस करते हैं, और उसी के सामने वाली समान्तर पट्टी से हमारी मांसपेशियों को

* प्रसंस्करण या प्रोसेस करने को आम बोलचाल की भाषा में हम 'पचाना' भी कहते हैं – जैसे किसी चीज़ या बात को दिमाग द्वारा पचाना।

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

निर्देश भेजते हैं। हम सब अपनी नई स्मृतियों को प्रोसेस कर मस्तिष्क के केन्द्र में बनी एक छोटी संरचना में रखते हैं जिसे हम हिप्पोकैम्पस कहते हैं।

मस्तिष्क के इन 'भागों' का और बारीकी से उप-विभाजन किया जा सकता है: उदाहरण के लिए पढ़ना और लिखना, वाचा (बोलने) और बोध से भिन्न स्थानों पर स्थित हैं। इसी तरह अर्थों (शब्दार्थ विश्लेषण) और व्याकरण (वाक्य विन्यास) को प्रोसेस करने के अलग-अलग भाग हैं। यह हम इसलिए जानते हैं क्योंकि ऐसे रोगी हैं जिनके मस्तिष्क का एक क्षेत्र क्षतिग्रस्त है और वे तेज़ी से, धाराप्रवाह, व्याकरण की दृष्टि से सही पर निरर्थक प्रलाप करते हैं। इसके विपरीत ऐसे रोगी भी हैं जिनके मस्तिष्क के दूसरे हिस्से को चोट पहुँची है, जिससे वे अटक-अटककर, व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध बोलते हैं, पर जिनके कहे का अर्थ समझ में आता है। इससे भी बारीक विभाजन है: कुछ रोगियों को जीवित वस्तुओं और भोजन के नाम याद रखने में परेशानी होती है, पर परिचित वस्तुओं के नाम में नहीं। जबकि अन्य रोगी सभी चीज़ों के नाम आसानी से बता पाते हैं सिवाय जीवित वस्तुओं और भोजन के (बॉक्स-1 में यह बताया गया है कि विभिन्न हिस्सों का समन्वयन कौन करता है)।

हिप्पोकैम्पस



हिप्पोकैम्पस से मिलिए, यह मस्तिष्क के मध्य में बसी एक नन्ही-सी मोहक संरचना है जो 'नई स्मृतियाँ बनाने' के लिए ज़िम्मेदार है। हाल में यह सीखने और स्मृति निर्माण सम्बन्धी रोचक नए शोध का विषय बना हुआ है परन्तु

मनोवैज्ञानिकों का ध्यान इसकी ओर कई साल पहले गया था। मस्तिष्क के इस भाग के विषय में हमारा ज़्यादातर प्रारम्भिक ज्ञान उन रोगियों से प्राप्त हुआ था जिनका हिप्पोकैम्पस और इसके आसपास के हिस्से क्षतिग्रस्त हो गए थे। इन सबको 'हिप्पोकैम्पस प्रणाली' कहते हैं। ऐसे रोगी बात को एक से दूसरे पल में भूल जाते हैं: वही विख्यात 'अल्पकालिक स्मृति' का खोना। ये रोगी नए अनुभवों को स्थाई स्मृति में तब्दील ही नहीं कर पाते। आप जितनी बार भी उनसे मिलें, वे आपका ऐसे अभिवादन करेंगे मानो वे पहली बार मिल रहे हों – फिर चाहे आप उनसे पाँच मिनट पहले ही क्यों न मिले हों। इसके बावजूद उनकी 'पुरानी या दूरस्थ स्मृतियाँ' बनी रहती हैं, जो वे तमाम बातें हैं जिन्हें एक बिन्दु तक उन्होंने सीखी या अनुभव की हों। पर चूँकि वे नई चीज़ें सीखने और याद करने में अक्षम होते हैं, वे एक तरह से उसी बिन्दु पर अटक-से जाते हैं। यह उन्हें स्मृति-लोप वाले रोगियों से भी अधिक असमर्थ बनाता है, जो कम से कम अपना जीवन फिर से शुरू तो कर सकते हैं।

यहाँ एक रोचक भेद करना ज़रूरी है। हिप्पोकैम्पस क्षति **प्रत्यक्ष** (explicit) सीखने को प्रभावित करती है पर **अन्तर्निहित** (implicit) सीखने को नहीं। ऐसे रोगी बारम्बार अभ्यास से नए कौशल सीख सकते हैं (implicit learning)। उदाहरण के लिए अगर आप ऐसे रोगी को सप्ताह भर तक हर दिन स्कूटर चलाना सिखाएँ, तो वह उसकी सवारी कर सकेगा। परन्तु उसे सीखने की प्रक्रिया की कोई याद नहीं होगी और सप्ताह भर बाद इतनी अच्छी तरह स्कूटर चला पाने पर उसे अचरज होगा। वह नए तथ्य, नए विचार सीख नहीं सकता, ना ही वह नए लोगों से मिल उनसे परिचित हो सकता है (explicit learning)। अतः लगता है कि हिप्पोकैम्पस ही उन स्मृतियों को स्थापित करता है जिन्हें हम सचेतन रूप से याद कर पाते हैं और मौखिक रूप से अभिव्यक्त कर पाते हैं। ये स्मृतियाँ चीज़ों, तथ्यों और सन्दर्भों के बीच नए अन्तरसम्बन्धों से बनी होती हैं।

हिप्पोकैम्पस इस अर्थ में अनूठा है कि वह इन अन्तरसम्बन्धों को बड़ी तेज़ी से दर्ज कर लेता है, एक बार उनका अनुभव पाते ही। यह बात मस्तिष्क के दूसरे हिस्सों से भिन्न है जिन्हें कई बार के परिचय और अभ्यास की ज़रूरत

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

पड़ती है। समय गुज़रने के साथ हिप्पोकैम्पस में जो अन्तरसम्बन्ध बनते हैं वे नववल्कुट (neocortex) में एक अधिक स्थाई स्थान पर 'स्थानान्तरित' कर दिए जाते हैं, और इस प्रक्रिया में वे हिप्पोकैम्पस से गायब हो जाते हैं। अतः अगर चोट हिप्पोकैम्पस को पहुँचे और नववल्कुट को नहीं, तो हाल की स्मृति को नुकसान पहुँचता है परन्तु पुरानी स्मृतियाँ अप्रभावित रहती हैं।

हिप्पोकैम्पस जिस अनोखे तरीके से काम करता है, प्राप्त संवेगों के प्रत्युत्तर में लगातार सह-सम्बन्ध बनाना और उनके नववल्कुट में स्थानान्तरित होने के बाद उन्हें हिप्पोकैम्पस से नष्ट करते जाना, उससे ऐसा लगता है कि वह मस्तिष्क के अन्य भागों से आधारभूत स्तर पर भिन्न है। माना जाता है कि तंत्रिका कोशिकाएँ (neurons) शेष शरीर की कोशिकाओं की तरह न तो पुनरुज्जीवित होती हैं न ही स्वयं को बदलती हैं। यह बात कमोबेश सच है, सिवाय हिप्पोकैम्पस के। हाल के शोध ने दर्शाया है कि मस्तिष्क के इस क्षेत्र में वयस्क अवस्था में भी न्यूरॉन उत्पन्न होते हैं (जिसे adult neurogenesis कहा जाता है)। सम्भव है कि हिप्पोकैम्पस का विशिष्ट कार्य इसे आवश्यक बनाता हो; नए अनुभवों को दर्ज करने के लिए नए न्यूरॉन उत्पन्न होते हैं, और समय के साथ स्मृति जब मस्तिष्क के अधिक स्थाई तंत्रिका संजाल (neural networks) में स्थानान्तरित हो जाती है, तो वे नष्ट हो जाते हैं।

यह रोचक कथा आगे और भी है। हिप्पोकैम्पस में न्यूरोजेनेसिस को कम करने वाले कारक आपको कौन-से लगते हैं? वृद्ध होने की सामान्य प्रक्रिया के अलावा इसमें सबसे बड़ा अपराधी है सतत बने रहने वाला तनाव (chronic stress) और शरीर में ग्लूकोर्कोर्टिकॉइड्स (glucocorticoids)*¹ का उत्पादन। अध्ययनों ने सुझाया है कि लगातार बने रहने वाला तनाव इन्सानों की याददाश्त को कमज़ोर बनाता है। हालाँकि यह शोध नया और अस्थायी है, फिर भी शायद यह ऐसा खास कुछ नहीं बताता जो हम पहले से ही जानते न हों। किसी भी शिक्षक का प्रत्यक्ष अनुभव यह गवाही देगा कि तनाव की

*¹ यह एक ऐसा रसायन है जो तनाव की प्रतिक्रिया स्वरूप निकलता है।

बॉक्स 1

बॉस कौन है?

मस्तिष्क को अगर सूक्ष्मदर्शी से देखा जाए तो गतिविधियों और पेचीदगियों से भरी एक दुनिया का पता चलता है। मस्तिष्क के समूचे पिण्ड में तकरीबन दस-खरब तंत्रिका कोशिकाएँ (neurons) होती हैं, जो विद्युत-रासायनिक प्रतिक्रियाओं के आधार पर काम करती हैं। तंत्रिका-संचारक या स्नायु-संचारक (neurotransmitters) कहलाने वाले रसायन ऐसे विद्युत संवेगों को उत्पन्न करते हैं जो तंत्रिका कोशिका के एक सिरे से दूसरे सिरे तक जाते हैं और स्वयं को नन्हे अन्तरालों, जिन्हें सूत्रायुग्मन (synapses) कहा जाता है, के पार स्थित अन्य तंत्रिका कोशिकाओं तक पहुँचाते हैं (यह काम भी तंत्रिका-संचारकों की मदद से किया जाता है)। बाहरी दुनिया से सन्देश इन्द्रियों द्वारा मस्तिष्क में प्रवेश करते हैं और मस्तिष्क से निकलकर हमारे हाथ-पैरों व अन्य अंगों तक जाते हैं ताकि हम कोई काम या प्रतिक्रिया कर सकें। मस्तिष्क में चहुँ-ओर आने-जाने वाले सन्देशों की संख्या तेज़ी से बढ़ती जाती है, क्योंकि प्रत्येक तंत्रिका कोशिका हज़ारों अन्य तंत्रिका कोशिकाओं से जुड़ी होती है।

जैसे-जैसे हम मस्तिष्क के क्रियाकलाप की गुत्थी सुलझाने लगते हैं, एक सवाल बार-बार उठता है: इसका नियंत्रक कौन है? और नियंत्रण केन्द्र भला कहाँ है? शोध से पता लगा है कि मस्तिष्क में असल में कोई एकमात्र नियंत्रक या सर्वसर्वा नहीं है। मस्तिष्क का कार्य तंत्रिका कोशिकाओं के सतत बदलने वाले अन्तरसम्बन्धों के अलावा कुछ नहीं है। और ऐसी कोई एक तंत्रिका कोशिका या उनका कोई एक समूह नहीं है, जो बाकी से अधिक 'चतुर' हो।



स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

अर्थात् बॉस कहीं नहीं है – या हर कहीं है। मस्तिष्क एक खास तरीके से काम करता है जिसे समानान्तर वितरित प्रसंस्करण या प्रोसेसिंग (parallel distributed processing) कहते हैं। यानी संवेगों और सन्देशों को प्रोसेस करने, या बोलचाल की भाषा में कहें तो, पचाने की एक ऐसी व्यवस्था जिसमें काम वितरित व समानान्तर रूप से होता रहता है। पहली बात, स्मृति, विचार और ज्ञान नववल्कुट में व्यापक रूप से वितरित होते हैं। दूसरी बात, मस्तिष्क में प्रोसेसिंग का काम क्रमिक या सिलसिलेवार तरीके से होने की बजाय समानान्तर रूप से होता है। उदाहरण के लिए, किसी विशेष विचार-क्रम को सक्रिय करने के लिए मस्तिष्क के विभिन्न हिस्सों में कई हजार तंत्रिका कोशिकाएँ एक साथ ही काम करती हैं। अगर प्रोसेसिंग का काम एक क्रम में होता, तो फिर सन्देशों को एक से दूसरी तंत्रिका-कोशिका में एक क्रम में चलना पड़ता। ऐसे में किसी 'त्वरित विचार' को उभरने में भी काफी समय लगता। निश्चित रूप से इतना समय होता ही नहीं है कि सारी सूचनाएँ किसी केन्द्रीय स्थान तक पहुँचें और तब जाकर कोई निर्णय लिया जाए या किसी काम को अंजाम दिया जाए। तंत्रिका-कोशिकाओं को दागने की क्रिया धीमी होती है (प्रति सेकंड 1 से 100 मीटर के बीच) और हमारे सोचने और क्रिया करने की रफ्तार बेहद तेज़ होती है, पल भर के भी एक अंश की। साफ है कि मस्तिष्क में प्रोसेसिंग का काम क्रमवार हो ही नहीं सकता।

फिर भी यह सच है कि हमें यह लगता है कि मानो कोई प्रभारी है – और हम में से अधिकांश यह मानते हैं कि यह माई-बाप हमारे सिर में स्थित है। कुछ काम जिनमें हमें 'इच्छाशक्ति' की आवश्यकता पड़ती है – स्वैच्छिक ध्यानाकर्षण प्रक्रियाएँ (voluntary attentional processes) – का सम्बन्ध मस्तिष्क के उस क्षेत्र से होता है जिसे मेखला बाह्यक (cingulate cortex) कहा जाता है। जब भी हम उपलब्ध विकल्पों में से किसी एक को सोच-समझकर चुनते हैं, पुरानी स्मृति को तलाशते हैं, जानबूझकर किसी सूचना को भण्डारित करने के लिए चुनते हैं, किसी भावात्मक अनुक्रिया को या किन्हीं विचारों को सायास दबाते हैं, तब हमारे मस्तिष्क का यह छोटा-सा खास हिस्सा सक्रिय होता है।

स्थिति में सीखना बाधित होता है। अगर हम चाहते हैं कि हमारे विद्यार्थी सीखें तो ज़ाहिर है कि स्कूल का वातावरण सतत तनाव उत्पन्न करने वाला नहीं होना चाहिए।

मस्तिष्क के विभिन्न हिस्सों की संरचना और उनके क्रियाकलाप तुलनात्मक रूप से एक नए विचार-क्षेत्र – उद्विकासीय मनोविज्ञान (evolutionary psychology) से करीब से जुड़े हैं। इस अध्याय के शेष हिस्से में हम इस क्षेत्र के कुछ रोचक सिद्धान्तों पर नज़र डालेंगे और यह भी देखेंगे कि उन्हें शिक्षा पर किस तरह लागू किया जाता है।

मस्तिष्क में मॉड्यूलों (modules) या मापदण्डों का उद्विकास

मानव मस्तिष्क बहुत पुराना है। एक प्रजाति के रूप में इन्सान तकरीबन तीस लाख वर्षों से ही अस्तित्व में है। इस अवधि के लगभग 99.9 प्रतिशत समय तक वह शिकारी मानव के रूप में ज़िन्दा रहा है, जिसे कुछ खास तरह के खतरों और चुनौतियों से निपटना पड़ता था। पिछले दस हज़ार वर्षों से, जब से खेती की जाने लगी, उसे कुछ अलग प्रकार की चुनौतियों का सामना करना पड़ा है। और पिछले 200 वर्षों के औद्योगीकरण, जिसकी परिणति आज के कम्प्यूटर युग में हुई है, ने हमारे पर्यावरण को इस कदर बदल डाला है कि यह हमारे पूर्वजों के परिवेश-सा रहा ही नहीं है।

परन्तु मानव मस्तिष्क और शरीर में हुए उद्विकासीय बदलावों की समयसारणी इस लम्बे दौर में बहुत धीमी गति से चली है। प्राकृतिक चयन की प्रक्रिया को उन बदलावों को लाने में अनेकानेक पीढ़ियों की ज़रूरत पड़ी जो हमें हमारे वानर सम्बन्धियों से जुदा बनाते हैं। इन बदलावों के उदाहरण हैं, सीधे खड़े होना, औज़ारों और भाषा का उपयोग करना। परन्तु पिछली कुछ शताब्दियों में हम जो पर्यावरणीय बदलाव इतनी तेज़ी से लाए हैं, उनके प्रत्युत्तर में बदलने के लिए हमारे मस्तिष्क और शरीर को पर्याप्त पीढ़ियों के गुज़रने का समय ही नहीं मिल पाया है। इस कारण मनोवैज्ञानिक जॉन टूबी और



स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

लेडा कॉस्मिडेस कहते हैं कि “हमारी आधुनिक खोपड़ियों में पाषाण युगीन मस्तिष्क बसे हैं!”

‘प्राचीन’ मस्तिष्क एक ऐसी दुनिया के माफिक बखूबी ढल गया था जहाँ न बिजली थी, न परिष्कृत चीनी और ना ही स्कूल! मसलन मीठी चीजों के प्रति हमारी चाहत उस ज़माने में तो अनुकूल थी, पर आज नहीं है। टूबी और कॉस्मिडेस के अनुसार मस्तिष्क ने तमाम अलग-अलग **मॉड्यूल** या मापदण्ड बनाए जो उस समय की चुनौतियों का सफलतापूर्वक सामना कर सकते थे। उदाहरण के लिए, एक मापदण्ड ऐसा जो हमें यह बताए कि क्या खाने योग्य है, एक यह मार्गदर्शन करे कि अच्छा जीवनसाथी कौन बन सकता है, एक चेहरे के हावभावों के ज़रिए सम्प्रेषण करने के लिए, एक व्याकरण सीखने के लिए, एक चेहरे पहचानने के लिए, एक स्थानिक नक्शे बनाने के लिए, आदि-आदि। स्मृति, तर्क, निर्णय लेने और सीखने की प्रक्रियाएँ तक हमारे पूर्वजों के सन्दर्भों के अनुरूप विशेष तौर पर बनी थीं।

आज भी हम अपने दिमागों में इन्हीं मापदण्डों को लिए फिरते हैं, हालाँकि हमारा पर्यावरण हमारे समक्ष बिलकुल भिन्न चुनौतियाँ प्रस्तुत करता है। सो आज भी हमारी तार्किक बुद्धि उन सामाजिक परिस्थितियों के लिए बेहतर है जिनका सामना हमारे पाषाणयुगीन पूर्वजों ने किया होगा। तभी तो चेहरे याद रखने की हमारी शक्ति शब्दों की याददाश्त से बेहतर है। बच्चों को बोली गई भाषा के नियम सीखना वर्तनी या लिखित भाषा के नियमों को सीखने से अधिक आसान लगता है। इतना ही नहीं, हमारे पास हमारे मौजूदा वातावरण, जैसे साक्षरता, कम्प्यूटर प्रोग्रामिंग या क्वांटम भौतिकी के लिए उपयुक्त मानसिक मापदण्ड नहीं हैं। आप कल्पना कर ही सकते हैं कि शिक्षा के लिए इस तथ्य के कुछ निहितार्थ निश्चित रूप से होंगे।

जन्मजात और गैर-जन्मजात रूप से सीखना

डेविड गेयरी एक अन्य मनोवैज्ञानिक हैं जो मापदण्ड के उद्विकास के बारे में लिखते हैं और एक बेहद रोचक सिद्धान्त पेश करते हैं। जैसा कि हम कह चुके हैं, प्रत्येक प्रजाति अपनी विशिष्ट चुनौतियों का सामना करने के लिए कुछ मापदण्डों को विकसित करती है। हमारे पूर्वजों के समक्ष जो चुनौतियाँ

थीं उन्हें मोटे तौर पर तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है: भौतिकी, जीव विज्ञान और मनोविज्ञान। परिस्थिति से अनुकूलित होने में सफल होने के लिए मनुष्य को –



तिहरी पीएच.डी.!

- भौतिक वस्तुओं की त्रिआयामी दुनिया में अपना रास्ता खोजना पड़ता था। उन्हें पत्थर, तीर या भाले जैसी चीजों के प्रक्षेप-पथ (trajectories) समझने पड़ते थे, गति का अनुमान लगाना पड़ता था, और वस्तुओं की मानसिक छवि बनाकर अपने हाथों से उनके साथ काम करना पड़ता था (जो औजारों के उपयोग के लिए ज़रूरी था);
- उन्हें वनस्पतियों और जन्तुओं को खाने लायक/न खाने लायक/औषधीय और शिकार/शिकारी की श्रेणियों में वर्गीकृत करना पड़ता था;
- उन्हें एक सामाजिक दुनिया में अपनी राह तलाशनी पड़ती थी (खासकर इसलिए क्योंकि वे समूहों में रहते थे), उन्हें चेहरे पहचानने होते थे, हावभाव पढ़ने पड़ते थे, रिश्तेदारों को पहचानना पड़ता था, और दुनिया को 'अपने समूह के' और 'बाहर के' सदस्यों में बाँटना पड़ता था, भाषा का उपयोग करना पड़ता था और अन्य लोगों की मानसिक स्थितियों का अनुमान लगाना पड़ता था।

मानव ज्ञान और कौशल के इन तीन क्षेत्रों को हम लोक-भौतिकी, लोक-जीव विज्ञान और लोक-मनोविज्ञान कह सकते हैं (लोक शब्द का उपयोग इन्हें स्कूल और उसके बाद औपचारिक रूप से सीखे जाने वाले ज्ञान से अलग करने के लिए किया गया है)। बच्चे इन तीनों क्षेत्रों में वयस्कों के विशेष प्रयास के बिना ही अच्छी-खासी दखल हासिल कर लेते हैं। गेयरी ने उन मापदण्डों को सूचीबद्ध करने की कोशिश की जिन्हें मिलाकर ये कौशल क्षेत्र बनते हैं। इनमें से कुछ मापदण्डों के लिए मस्तिष्क के कुछ विशिष्ट स्थानों का पता भी लगाया जा चुका है। उदाहरण के लिए, भौतिक स्थान की

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

मानसिक छवि बनाने में पार्श्विक वल्कुट (parietal cortex) के कुछ हिस्से और हिप्पोकैम्पस काम में आते हैं। जीवित वस्तुओं को नाम दे पाने की क्षमता में पिछले नववल्कुट (posterior neocortex) के अंश काम में आते हैं, पर वे निर्जीव वस्तुओं की पहचान में मददगार नहीं होते। चेहरों को पहचानने में फ्यूसिफॉर्म गायरस (fusiform gyrus) के कुछ हिस्से और वल्कुट का सामने वाला भाग काम में आता है जिसे पूर्व-अग्रपालीय वल्कुट (prefrontal cortex) कहते हैं।

आदिवासी लोगों में, जिनमें औपचारिक शिक्षा नहीं होती, हम इन तीनों क्षेत्रों में ज्ञान और कौशल को बहुत बढ़िया तरीके से विकसित पाते हैं। आदिवासी संस्कृतियाँ अपने परिवेश की वनस्पतियों और पशुओं के ज्ञान की गहराई और विशेषज्ञता के लिए मशहूर हैं। इसी प्रकार वे साथ जीने और एक-दूसरे के साथ सहकार करने के सामाजिक पक्षों में बेहद कुशल होते हैं और उनके सगोत्रता, सामाजिक अनुक्रम, प्रतिष्ठा और रिश्तेदारी के नियम बखूबी व्यवस्थित हैं। वे घरेलू औजारों और अस्त्रों के उपयोग में भी बेहद कुशल होते हैं। मनोवैज्ञानिकों ने यह दर्शाया है कि स्कूल में प्रवेश करने से पहले ही बच्चों में जीव विज्ञान, भौतिकी और मनोविज्ञान सम्बन्धी समृद्ध लोक-सिद्धान्त मौजूद होते हैं। परन्तु हम उनके इस ज्ञान की पूरी तरह उपेक्षा करते हैं और उसे हमारी स्कूली पाठ्यचर्या द्वारा विस्थापित करते हैं।¹

एक प्रकार से हम इन कौशलों को जन्मजात या स्वाभाविक कौशल कह सकते हैं। यहाँ 'जन्मजात' शब्द का अर्थ ज्ञान के साथ जन्म लेना नहीं है – क्योंकि ऐसा तो असम्भव है। बल्कि, इसका मतलब है कि हमारे दिमाग का कुछ हिस्सा, पहले से ही, कुछ खास सह-सम्बन्ध बनाने, कुछ विशेष तरह की चीज़ें सीखने, के लिए ही बना होता है।

भाषा इसी प्रकार काम करती है: भाषा की क्षमता इस अर्थ में जन्मजात है कि शिशु कुछ इस प्रकार बने ही (programmed) होते हैं कि वे दुनिया की किसी भी भाषा को सीख लें। इस अर्थ में जन्मजात नहीं कि शिशु पैदा ही भाषा के ज्ञान के साथ होते हैं।

1. अध्याय दो में *अवधारणात्मक बदलाव* शीर्षक के तहत इसका वर्णन किया गया है।

इस बिन्दु पर आपके मन में यह विचार उभर सकता है कि क्या कुछ ऐसा भी है जिसे गैर-जन्मजात सीखना कहा जा सके? क्या मनुष्य ऐसी चीजें भी सीख सकता है जिन्हें सीखने के लिए वह पहले से ही तैयार न हो? हमने सीखने के कई जन्मजात स्वरूपों का उल्लेख किया है। अब शिक्षकों के रूप में हमें तुरन्त ही यह एहसास होता है कि परम्परागत स्कूली पाठ्यक्रम में और इस प्रकार से सीखी गई बातों या कौशलों में अगर कुछ साम्य है भी, तो वह बहुत ही कम है। और इसके बावजूद ढेरों बच्चे कई साल की स्कूली पढ़ाई से गुजरते हैं और कई 'गैर-जन्मजात' कौशलों (जैसे पढ़ना, लिखना, कलन (calculus), केपलर के नियम और शास्त्रीय संगीत) को सीख लेने का प्रमाण-पत्र पाते हैं। यह भला कैसे सम्भव है? जब हम पशुओं को देखते हैं और यह भी कि उन्हें क्या कुछ करने को प्रशिक्षित किया जा सकता है, तो प्रशिक्षित पशु आचरण के सबसे आश्चर्यजनक उदाहरण भी मानव शिशुओं द्वारा सीखी जा सकने वाली चीजों के विस्तार और नवीनता के सामने फीके लगते हैं। ज़ाहिर है कि मानव मस्तिष्क कुछ अलग है, और अन्तर यह है कि मानव मस्तिष्क दरअसल गैर-जन्मजात कौशलों को सीखने की विशेषज्ञता से लैस है।

सिखाना – एक खास मानवीय कौशल

मस्तिष्क का, और खास तौर से प्रमस्तिष्कीय वल्कुट (cerebral cortex) का जो गुण गैर-जन्मजात बातों या कौशलों को सीखना सम्भव बनाता है उसे तंत्रिकीय लचीलापन (neural plasticity) कहा जाता है। मानव मस्तिष्क में काफी 'अतिरिक्त' परिपथीय सामग्री (circuitry) होती है जो नए सह-सम्बन्ध और जुड़ाव बनाने के लिए उपलब्ध होती है। पाषाण युग के मनुष्य के लिए यह तंत्रिकीय लचीलापन औज़ारों और सम्प्रेषण के नवाचारी उपयोग के लिए एक बड़ा भारी वरदान था। आज यही तंत्रिकीय लचीलापन वायलिन बजाने से लेकर कठिन से कठिन गणितीय कलन के हल निकालने तक, सब कुछ सीखने में हमारे काम आता है। इससे भी महत्वपूर्ण एक बात है जो हमारे निकटतम सम्बन्धी चिम्पैन्जियों से भी हमें अलग करती है। वह यह है कि इन्सान जो कुछ सीखता है उसे एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाया जा सकता है। यह ज़रूरी नहीं है कि प्रत्येक पीढ़ी फिर से वह सब खोजे-तलाशे जिसे

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

उसके माता-पिता सीख चुके थे, इसलिए क्योंकि मनुष्य एक प्रजाति के रूप में प्रत्यक्ष रूप से सिखाता भी है। तंत्रिकीय लचीलापन और सम्प्रेषण व सिखाने की क्षमता का सम्मिश्रण हमें एक प्रजाति के रूप में बिलकुल पृथक करता है।

इसी बात को दूसरे तरीके से देखते हुए गेयरी जैविक रूप से प्राथमिक व द्वितीयक क्षमताओं की बात करते हैं, जिन्हें हमने जन्मजात या स्वाभाविक और गैर-जन्मजात रूप से सीखना कहा है। उनका कहना है कि बच्चे खेल-खेल में वातावरण से जो अन्तरक्रिया करते हैं, उससे, और ढेर सारे स्व-प्रेरित अभ्यास से, वे प्राथमिक क्षमताएँ हासिल करते हैं जो इन कौशलों को ऊँचे दर्जे तक विकसित कर देती हैं। (इसका श्रेष्ठतम उदाहरण है 'भाषा')। परन्तु बच्चे कई द्वितीयक क्षमताएँ भी हासिल कर सकते हैं, और यहीं से शिक्षा की भूमिका सामने आती है। हमारे मस्तिष्क की संरचनाएँ इन द्वितीयक क्षमताओं के सीखने को भी समर्थन दे सकती हैं, परन्तु इसके लिए सुस्पष्ट निर्देशों की और कुछ (जबरन!) कवायद और अभ्यास की ज़रूरत होगी। दूसरे शब्दों में, अगर हम वायलिन बजाना या फिर कठिन से कठिन गणितीय कलन के हल निकालना सीखना चाहते हैं तो हमें इनको करने का तरीका सिखाया जाना होगा, और हमें इस कौशल का सायास अभ्यास भी करना होगा।

बेशक स्कूल ही वह स्थान है जिसको इस प्रकार की द्वितीयक क्षमताओं या गैर-जन्मजात कौशलों को औपचारिक रूप से सिखाए जाने के लिए ईजाद किया गया है। हम स्कूलों से बच नहीं सकते, परन्तु इसका मतलब यह भी नहीं है कि हम ठीक उसी तरह पढ़ाएँ जैसे हम फिलहाल पढ़ाते हैं। मस्तिष्क किस तरह काम करता है और बच्चे किस प्रकार विकसित होते हैं, उसे ध्यान में रखते हुए हम अपनी शिक्षण पद्धतियों को ढाल सकते हैं ताकि पहले जिस तरह के बेमेलपन का ज़िक्र किया गया था, उससे बचा जा सके। सीखना सार्थक और मज़ेदार हो सकता है। मस्तिष्क की आश्चर्यजनक क्षमताओं के उपयोग ने पहले ही हमारे सीखने की सम्भावनाओं को इतना विस्तार दिया है, जिसकी कल्पना तक हम सौ वर्ष पूर्व नहीं कर सकते थे। और हम इसके लिए पीठ थपथपाकर खुद को शाबाशी भी दे सकते थे,

सिवाय इसके कि कई विद्यार्थियों के लिए शिक्षा पीड़ादायक और मूलतः एक असफल प्रक्रिया है। क्या किसी कम दुखद तरीके से इससे कुछ बेहतर हासिल किया जा सकता है? यही हम शिक्षकों को तलाशना है।

सन्दर्भ और पुस्तक सूची

1. बैरेट, एच. क्लार्क और आर. कुर्जबान, 2006। 'मॉड्यूलैरिटी इन कॉग्निशन: फ्रेमिंग द डिबेट'। *साइकोलॉजिकल रिव्यू*, खण्ड-113, संख्या-3, 628-47
2. कॉस्मिडेस, एल. और जे. टूबी, 1997। *एवोल्यूशनरी साइकोलॉजी: अ प्राइमर*।
3. गेयरी, डी.सी., 1995। 'रिफ्लैक्शंस ऑफ एवोल्यूशन एंड कल्चर इन चिल्ड्रेंस कॉग्निशन: इम्प्लिकेशंस फॉर मैथेमैटिकल डेवलपमेंट एंड इंस्ट्रक्शन'। *अमेरिकन साइकोलॉजिस्ट*, खण्ड-50, संख्या-1, 24-37
4. गेयरी, डी.सी., 1996। 'द एवोल्यूशन ऑफ कॉग्निशन एंड द सोशल कंस्ट्रक्शन ऑफ नॉलेज'। *अमेरिकन साइकोलॉजिस्ट*, खण्ड-51, संख्या-3, 265-66
5. गेयरी, डी.सी., और के.जे. हफमैन, 2002। 'ब्रेन एंड कॉग्निटिव एवोल्यूशन: फॉर्म ऑफ मॉड्यूलैरिटी एंड फंक्शंस ऑफ माइंड'। *साइकोलॉजिकल बुलेटिन*, खण्ड-128, संख्या-5, 667-98
6. गूल्ड, ई., पी. टैनेपैट, एन.बी. हेस्टिंग्स और टी.जे. शोर्स, 1999। 'न्यूरोजेनेसिस इन एडल्टहुड: अ पॉसिबल रोल इन लर्निंग'। *ट्रेंड्स इन कॉग्निटिव साइंसेस*, खण्ड-3, संख्या-5
7. मैडिन, डी.एल., और एस. एटरन, 2004। 'द नेटिव माइंड: बायोलॉजिकल कैटेगोराइज़ेशन एंड रीज़निंग इन डेवलपमेंट एंड अक्रॉस कल्चर्स'। *साइकोलॉजिकल रिव्यू*, खण्ड-111, संख्या-4, 960-83
8. नैशनल कमीशन ऑन एक्सिलेंस इन एजुकेशन, 1983। *अ नेशन एट रिस्क: द इम्पैरेटिव फॉर एजुकेशन रिफॉर्म*। शिक्षा विभाग, यू.एस.ए.।
9. नेल्सन, सी.ए., 2000। 'न्यूरल प्लास्टिसिटी एंड ह्यूमन डेवलपमेंट: द रोल ऑफ अर्ली एक्सपीरिएंस इन स्कल्पटिंग मेमरी सिस्टम्स'। *डेवलपमेंटल साइंस*, 3:2, 115-36

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

10. पिंकर, एस., 2003। 'हाउ टु गेट इन्साइड अ स्टूडेंट्स हैड'। *द न्यू यॉर्क टाइम्स*, 31 जनवरी, 2003
11. पोस्नर, एम.आई., और जी.जे. डिगिरोलामो, 2000। 'कॉग्निटिव न्यूरोसाइंस: ओरिजिंस एंड प्रॉमिस'। *साइकोलॉजिकल बुलेटिन*, खण्ड-126, संख्या-6, 873-89
12. सैक्स, ओ., 1990। 'द मेन हू मिसटुक हिज़ वाइफ फॉर अ हैट एंड अदर क्लिनिकल टेल्स'। *हार्पर पेरेनियल*, न्यू यॉर्क।
13. स्कॉयल्स, जे.आर., 1999। 'न्यूरल प्लास्टिसिटी एंड एक्ज़ैप्टेशन'। *अमेरिकन साइकोलॉजिस्ट*, खण्ड-54, संख्या-6, 438-39
14. स्कॉयर, एल.आर., 1992। 'मेमरी एंड द हिप्पोकैम्पस'। *साइकोलॉजिकल रिव्यू*, खण्ड-99, संख्या-2, 195-231
15. स्प्रिंगर, एस.पी., और जी. डॉयच, 1985। 'लेफ्ट ब्रेन, राइट ब्रेन' (संशोधित संस्करण)। डब्ल्यू.एच. फ्रीमन एंड को., न्यू यॉर्क।
16. थॉमसन, आर.एफ., 1993। 'द ब्रेन: अ न्यूरोसाइंस प्राइमर'। डब्ल्यू.एच. फ्रीमन एंड को., न्यू यॉर्क।

अध्याय-2

सीखना



पिछले अध्याय में हमने मस्तिष्क और उसके उद्विकास की कुछ ऐसी विशेषताओं को देखा जो शिक्षा के लिए प्रासंगिक हैं। अब इस दूसरे अध्याय का स्वाभाविक विषय है 'सीखना'। बच्चे कैसे सीखते हैं के प्रश्न को सम्बोधित करने के पहले यह चर्चा करना आवश्यक होगा कि हम किस तरह की चीज़ें अपने विद्यार्थियों को सिखाना चाहते हैं। मैं पहले यही करती हूँ।

सीखने के तीन क्षेत्र वांछनीय हैं और वे ही हमारे स्कूली शिक्षण का लक्ष्य हैं: विभिन्न क्षेत्रों का **अवधारणात्मक** ज्ञान (जैसे- जीव विज्ञान, रसायनशास्त्र,

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

भाषा), विभिन्न कौशलों का **प्रक्रियात्मक** ज्ञान, और उच्च-स्तरीय **तार्किक** कौशल। किसी भी विषय क्षेत्र के बुनियादी सिद्धान्तों की समझ अवधारणात्मक ज्ञान है। इसमें कार्य-कारण सम्बन्ध की और उस क्षेत्र में क्या सम्भव है, इसकी समझ शामिल होती है। उदाहरण के लिए, बड़ी संख्याओं के जोड़ में बच्चों को दशमिक अंकगणित में स्थानीय मान की अवधारणात्मक समझ ज़रूरी होती है। प्रक्रियात्मक ज्ञान से तात्पर्य उन आचरण सम्बन्धी कौशलों से है जो किसी कार्य को करने के लिए ज़रूरी हों। जोड़ के उदाहरण में दो संख्याओं को एक के नीचे एक सही स्थान पर रखना, अंकों को जोड़ना और हासिल को ले जाना, आदि शामिल होगा। प्रक्रियात्मक ज्ञान की अन्य रोचक विशेषताएँ भी होती हैं जिन्हें इस अध्याय में स्पष्ट किया जाएगा। तार्किक कौशल को एक-दो वाक्यों में परिभाषित करना कुछ कठिन है। सम्भव है कि इसके अभाव के अर्थ में इसे परिभाषित करना अधिक उपयोगी हो। मनोवैज्ञानिक अधिकांश मानवीय चिन्तन का वर्णन करने के लिए छिछला चिन्तन, मस्तिष्क-शून्यता, अपतार्किकता (dysrationalia) जैसे शब्दों का प्रयोग करते हैं। शिक्षकों के रूप में हमारी रुचि इसमें होनी चाहिए कि विद्यार्थियों के चिन्तन की *गुणवत्ता* कैसे सुधारी जाए। अध्याय के अन्तिम भाग में यही तलाशा जाएगा।

स्कूल में जो भी अवधारणात्मक और प्रक्रियात्मक ज्ञान हम देना चाहते हैं उसका अधिकांश भाग 'गैर-जन्मजात' होता है। आपको याद होगा कि पिछले अध्याय में हमने देखा था कि मस्तिष्क शुरुआती उम्र से ही सीखने के कुछ 'जन्मजात' क्षेत्रों की क्षमता रखता है, और इसमें अवधारणात्मक और प्रक्रियात्मक दोनों ही प्रकार का सीखना शामिल है। इसका एक सरल उदाहरण है कि जब बच्चे चीज़ों की गिनती करते हैं, वे **जानते हैं** (अवधारणात्मक अर्थ में) कि हरेक वस्तु को केवल एक ही बार गिनना है, और वे यह भी जानते हैं कि **यह कैसे** (प्रक्रियात्मक) करना है, एक-एक कर वस्तु को छूकर या उसकी ओर इशारा करके। दरअसल, जन्मजात या जैविक रूप से प्राथमिक विषय क्षेत्रों में सीखने के ये दोनों प्रकार अभिन्न होते हैं, और बच्चे उनके बीच अन्तर के प्रति सचेत भी नहीं होते। परन्तु जैसा हम कह चुके हैं, मस्तिष्क में बहुत कुछ ऐसा सीखने की भी क्षमता होती है जो गैर-जन्मजात हो, और यहाँ (जैविक रूप से गौण क्षेत्रों में) अधिक प्रभावी रूप

से सिखाने के लिए सीखने के दोनों प्रकारों को अलग किया जा सकता है। दरअसल यह रोचक है कि अवधारणात्मक और प्रक्रियात्मक सीखने पर दिए जाने वाले बल में जो अन्तर है, वही प्रगतिशील और परम्परागत शिक्षा के प्रतिरूपों (मॉडलों) में अन्तर को दर्शाता है। हम परम्परागत शिक्षा पर यह आरोप लगा सकते हैं, जो शायद अन्याय ही हो, कि वह प्रक्रियात्मक ज्ञान पर ध्यान केन्द्रित कर अवधारणात्मक ज्ञान को छोड़ ही देती है, जबकि प्रगतिशील शिक्षा प्रक्रियात्मक ज्ञान की कीमत पर अवधारणात्मक ज्ञान पर बल देती है।

अगर अवधारणात्मक व प्रक्रियात्मक दोनों ही प्रकार का गैर-जन्मजात सीखना सम्भव है, तो अध्यापन का सबसे अच्छा तरीका क्या होगा? स्टीवन पेंकर, जो मनोवैज्ञानिक हैं और जिन्होंने मानव मस्तिष्क के उद्विकास पर बहुत लिखा है, इस समस्या को बहुत बढ़िया तरीके से रखते हैं, “शिक्षाविदों को उन संकायों (faculties) को सहयोजित (co-opt) करने का उपाय तलाशना चाहिए जो बिना प्रयास काम करती हैं और बच्चों से उन्हें उन समस्याओं पर लागू करवाना चाहिए जिनमें उनकी नैसर्गिक क्षमता न हो।”

यह कहना आसान है, करना कठिन। वे ‘संकाय’ भला कौन-सी हैं जो ‘बिना प्रयास काम करती हैं’, और उनका सहयोजन कैसे किया जा सकता है? मैंने ऐसी कुछ संकायों को सूचीबद्ध किया है जो मेरे मत में इस योग्य हो सकती हैं – रचनावाद (constructivism) और अवधारणात्मक बदलाव, अभ्यास और प्रक्रियात्मक रूप से सीखना, और सन्दर्भ-आश्रित तर्कशक्ति। इनमें से प्रत्येक संकाय का प्रभाव इस बात पर पड़ता है कि विद्यार्थी सबसे अच्छी तरह से कैसे सीखते हैं। अतः हम कैसे पढ़ाएँ, इस पर भी प्रत्येक का प्रभाव होना चाहिए।

रचनावाद और अवधारणात्मक बदलाव

रचनावाद वह शब्द है जो दशकों से मनोवैज्ञानिकों द्वारा इस्तेमाल किया जाता रहा है और भारत में हाल में यह एक लोकप्रिय नारा बन गया है। सीधी-सादी भाषा में कहें तो इसका तात्पर्य इस बात से है कि मस्तिष्क में ज्ञान या सूचना किस प्रकार भण्डारित होती है। मस्तिष्क में कुछ भी ठीक

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

वैसे दर्ज नहीं होता जैसे उसे अनुभव किया गया हो। यह तथ्य हमारी पाँचों इन्द्रियों से प्राप्त हुए अनुभवों के विषय में सच है। जब दो लोग एक ही बात को सुनें या देखें, उन्होंने जो कुछ भी देखा या सुना उसकी उनकी स्मृतियाँ निश्चित रूप से अलग होंगी। हमारे बोध और स्मृतियों में अन्तर इसलिए उत्पन्न होता है क्योंकि हम जो कुछ अनुभव करते हैं उसकी व्याख्या (interpretation) भी करते हैं, और यह व्याख्या हमेशा हमारे पास मौजूद ज्ञान की रोशनी में ही की जाती है। इस प्रकार अनुभवों की हमारी व्याख्या से नया ज्ञान बनता है, जो लगातार बढ़ता है और नए अनुभवों की व्याख्या करने में मदद करता है। सीखने वाले के द्वारा ज्ञान की **रचना** का यही अर्थ होता है।

ज्ञान का एक दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि वह मस्तिष्क में अर्थपूर्ण तरीकों से **व्यवस्थित** होता है। आप जानते ही हैं कि ज्ञान को भिन्न-भिन्न तरीकों से व्यवस्थित किया जाता है, जो इस बात पर निर्भर करता है कि वह कहाँ दर्ज है – पाठ्यपुस्तक में, किसी विश्वकोश में या शब्दकोश में। मानव मस्तिष्क में ज्ञान इन सभी व अन्य तरीकों से लचीले रूप में व्यवस्थित किया गया होता है (अध्याय तीन इसका विस्तृत वर्णन देगा)। ज़्याँ पियाजे एक मनोवैज्ञानिक थे जिन्होंने बाल विकास के बारे में बहुत व्यापक रूप से लिखा था। उन्होंने मस्तिष्क में ज्ञान की इन व्यवस्थित संरचनाओं को 'स्कीमा' का नाम दिया। उनका कहना था कि हमारी स्कीमाओं में लगातार अनुभव जोड़े या 'फिट किए' जाते हैं (आत्मसात करना) और इन स्कीमाओं को भी नई सूचनाओं को अन्दर आने देने के लिए खुद को बदलना (समायोजित होना) पड़ता है।

रचनावाद और व्यवस्थापन के सिद्धान्तों के अनुसार अगर मस्तिष्क इस प्रकार कार्य करता है, तो क्या हम अपने पढ़ाने के तरीकों में इन संकायों का सहयोजन कर रहे हैं? दुर्भाग्य से उत्तर ना है। शिक्षा अक्सर इन दोनों ही मसलों पर बच्चों को धोखा देती है:

- हम अपने विद्यार्थियों को असम्बद्ध टुकड़ों में ज्ञान देते हैं, और
- हम अपने विद्यार्थियों से अपेक्षा रखते हैं कि वे कमोबेश उसी प्रकार ज्ञान को प्रस्तुत करेंगे और आगे तक सँजोए रखेंगे जिस प्रकार उन्होंने उसे प्राप्त किया था।

ज्ञान को असम्बद्ध टुकड़ों में प्रस्तुत करने से विद्यार्थी वह नहीं कर पाते जो वे सबसे अच्छा कर सकते हैं – मौजूदा ज्ञान के प्रकाश में नई जानकारी की व्याख्या। नतीजतन वास्तविक अवधारणात्मक समझ असम्भव बन जाती है, जो, जैसा कि आप तीसरे अध्याय में देखेंगे, सीखी गई चीज़ों की बाद की स्मृति को भी प्रभावित करती है। इसके अलावा यह अपेक्षा करना भी अनुचित है कि किसी भी दिए गए पाठ को हमारे विद्यार्थी ठीक उसी रूप में समझेंगे जैसे वह पाठ्यपुस्तक में लिखा गया है। सच तो यह है कि जब इस तरह की समानता नज़र आए तो वह यही संकेत देता है कि विद्यार्थी ने पाठ को तोते की तरह रट लिया है।

इस स्थिति को सुधारने के लिए हमें शिक्षण के प्रति अपने नज़रिए में नाटकीय परिवर्तन करना होगा। अब तो हमें यह स्वीकारना होगा कि सभी बच्चे वास्तविकता की अपनी-अपनी पूर्व-धारणाओं से प्रारम्भ करते हैं। यहाँ 'पूर्व' से तात्पर्य यह है कि ये धारणाएँ उनमें औपचारिक शिक्षा या स्कूल से जुड़ने के पहले विकसित हो चुकी थीं! अर्थात् बच्चे कोरी स्लेट नहीं होते, जिस पर हम पन्ना-दर-पन्ना जानकारी लिखते चलें। मनोवैज्ञानिकों को ऐसे कई उदाहरण मिले हैं जिनमें बच्चों ने विभिन्न विषयों, जैसे बल, पदार्थ, पृथ्वी और संख्याओं पर अपने 'सरल' या सहज बोध से उपजे सिद्धान्त बनाए थे। कभी ऐसा भी हो सकता है कि बच्चों द्वारा निर्मित ये सरल सिद्धान्त वयस्कों के 'सही' सिद्धान्तों से मेल खाते हों। उदाहरण के लिए, बच्चे अमूमन यह समझ लेते हैं कि प्राकृतिक संख्याएँ (natural numbers) वियुक्त (discrete) होती हैं और अनन्त रूप से आगे बढ़ती जाती हैं। परन्तु अक्सर विद्यार्थियों का सहज ज्ञान पाठ्यपुस्तक के ज्ञान से या स्वीकृत ज्ञान से टकराता भी है। ऐसे उदाहरण काफी आम हैं: उदाहरण के लिए, उच्चतर माध्यमिक स्कूल के विद्यार्थी बल को वस्तुओं के निजी गुण के रूप में देखते हैं, न कि एक



स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

पूरे तंत्र के गुण के रूप में। या जब वे किसी वस्तु की पानी में सतह पर तैरने या डूबने की बात करते हैं, तो उसे केवल वज़न के सन्दर्भ में ही समझाते हैं। हमारी वृत्ति ऐसे कथनों को गलत करार देने की होती है। बेशक, वे हमारी दृष्टि से गलत होते भी हैं। परन्तु विद्यार्थियों के स्पष्टीकरण अमूमन आन्तरिक रूप से सुसंगत सिद्धान्तों पर आधारित होते हैं (ये कोई बेतरतीब गलतियाँ नहीं होतीं)। मुझे तो बार-बार अचरज होता है कि बच्चे कैसे किसी भी परिघटना के स्पष्टीकरण की आन्तरिक सुसंगतता की तरफ बढ़ने में जुटे रहते हैं।

बहरहाल, हमें उन सिद्धान्तों को सही सिद्धान्तों से बदलना ही पड़ता है। और यहीं हमसे एक गलती होने की सम्भावना बनी रहती है, यह मानकर कि हम उन सहज सिद्धान्तों को आसानी से 'प्रतिस्थापित' कर सकते हैं। जैसा कि हम देख ही चुके हैं, मस्तिष्क ऐसे काम नहीं करता। वह एकदम किसी स्कीमा को किसी नई स्कीमा के लिए यों ही खारिज नहीं कर सकता। उसे तो पुराने के सन्दर्भ में नए की व्याख्या करनी पड़ती है, पुराने को समायोजित करना पड़ता है ताकि नया प्रवेश कर सके, आदि। ध्यान रखें, ज्ञान निर्मित करना पड़ता है, उसे थोक में आयातित नहीं किया जा सकता। शोध के अनुसार, यह प्रक्रिया अमूमन धीमी और क्रमिक होती है, न कि अचानक व तात्कालिक। इस राह में विद्यार्थी की परिवर्तित स्कीमा में भी तब तक कई भ्रान्तिपूर्ण धारणाएँ, गलतियाँ, और कभी-कभार असंगतताएँ भी होंगी, जब तक कि सम्पूर्ण व पक्की समझ नहीं बन जाती।

इस प्रकार का सीखना **अवधारणात्मक बदलाव** कहलाता है, और शिक्षा सम्बन्धी शोध में यह एक बेहद सम्भावनापूर्ण क्षेत्र बन चुका है। यह तथ्य कि विद्यार्थी अवधारणात्मक बदलाव की प्रक्रिया से ही सबसे अच्छी तरह सीखते हैं, बेहद महत्वपूर्ण है; क्योंकि अगर ऐसा अवधारणात्मक परिवर्तन नहीं हो तो पुरानी स्कीमाएँ मज़बूती से जस की तस बनी रहती हैं। विज्ञान और गणित के प्रश्नों के उत्तरों में हाई स्कूल तो क्या कॉलेज के विद्यार्थी भी आश्चर्यजनक भ्रान्तियाँ दर्शाते हैं। आश्चर्यजनक इसलिए क्योंकि कहने को तो वे सही सिद्धान्तों की सफल शिक्षा प्रक्रिया से गुज़र चुके होते हैं। पिछले अध्याय में जिस राष्ट्रीय शैक्षणिक सर्वेक्षण का उल्लेख किया गया था, उससे स्पष्ट

हुआ था कि 'चोटी के भारतीय स्कूलों' के विद्यार्थी भी विज्ञान, गणित और अंग्रेजी की अवधारणाओं की समझ में अनेक कमियाँ दिखाते हैं। ज़ाहिर है कि इन कमियों के बावजूद वे स्कूली जाँचों व परीक्षाओं में सन्तोषजनक 'प्रदर्शन' कर पाते हैं। इसका एक मनोवैज्ञानिक स्पष्टीकरण यह है कि कभी-कभी अकादमिक ज्ञान रोज़मर्रा के अनुभव से काफी दूर होता है। नतीजतन होता यह है कि कक्षाओं में जो कुछ सिखाया जाता है, उसकी स्कीमाओं को विद्यार्थी रोज़मर्रा के अनुभवों की स्कीमाओं से स्वतंत्र और कटा हुए रख सकते हैं। ये स्कीमाएँ अकादमिक कार्य के सन्दर्भ में ही सक्रिय होती हैं और इसलिए परीक्षाओं और गृहकार्य करने में तो मदद करती हैं, पर वास्तविक परिघटनाओं की बेहतर समझ उनसे नहीं मिल पाती।

विद्यार्थियों में अवधारणात्मक बदलाव को प्रोत्साहित करने का सबसे बढ़िया तरीका है उनके सामने ऐसे स्पष्ट उदाहरण रखना जिनकी व्याख्या उनकी स्कीमाओं से मिल ही न सके। ऐसे में विद्यार्थियों को अपनी स्कीमाओं को संशोधित करना ही होगा। यह प्रक्रिया कदम-दर-कदम बढ़ने वाली प्रक्रिया है। जैसे-जैसे विद्यार्थियों का सामना नए तथ्यों से होगा, जिनको उन्हें स्पष्ट करना होगा, वे अपनी स्कीमाओं को संशोधित करते चलेंगे। उदाहरण के लिए विद्यार्थियों की मान्यता यह हो सकती है कि गुणा करने से हमेशा एक अधिक बड़ी संख्या मिलेगी, या ज़्यादा अंकों का मतलब बड़ी संख्या होता है। परन्तु जब वे भिन्नों का गुणा करना सीखते हैं ($10 \times \frac{1}{2} = 5$) तो उन्हें अपनी पहली अवधारणा को बदलना पड़ता है, और जब उनका परिचय दशमलवों से होता है (1.234, 1.24) तो उपरोक्त दूसरी अवधारणा को बदलना ज़रूरी हो जाता है। जैसा मैं पहले भी बता चुकी हूँ, यह परिवर्तन अमूमन एकबारगी



स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

न होकर क्रमिक ही होता है। एक शिक्षक/शिक्षिका होने के नाते इस तरह के परिवर्तन के लिए हमें कम से कम इतना तो करना ही होगा कि स्पष्ट व युक्तियुक्त प्रदर्शन के प्रयास करते रहें। उदाहरण के लिए, बच्चे ऐसा मानते हैं कि किसी गतिमान वस्तु का हरेक भाग एक समान गति से चलता है। यह बात एक सीधी रेखा में चल रही वस्तुओं के लिए तो सच है, पर किसी गोलाकार रेस मैदान में चल रही कार का दाहिना और बायाँ दरवाज़ा एक समान गति से नहीं चलता। इस स्थिति में अगर अवधारणात्मक बदलाव लाना हो तो एक सीधा सरल भौतिक प्रदर्शन किया जा सकता है। दो विद्यार्थी एक ऐसी छड़ को पकड़कर, जो किसी केन्द्रीय धुरी से जुड़ी हो, उसके इर्द-गिर्द चलें। यह प्रदर्शन शब्दों की मदद से समझाने से कहीं अधिक प्रभावी होगा। जो विद्यार्थी धुरी से अधिक दूरी पर है, उसे अनुभव होगा कि उसे धुरी के पास स्थित विद्यार्थी के साथ-साथ चलने के लिए अधिक तेज़ चलना पड़ रहा है।

जब विद्यार्थी अपनी स्कीमाएँ निर्मित और पुनर्निर्मित करने में जुटते हैं तो सम्भव है कि वे पुरानी व नई के बीच की किसी मध्यवर्ती स्कीमा के आधार पर तर्क प्रस्तुत करें। मनोवैज्ञानिक स्टेला वॉसनिएडाओ और उनके सहकर्मी इसका अध्ययन करते रहे हैं कि अवधारणात्मक बदलाव कैसे होते हैं और विद्यार्थी किन प्रकारों की मध्यवर्ती स्कीमाएँ बनाते हैं। इसका एक अच्छा उदाहरण भिन्नो के विषय से जुड़ा है। वॉसनिएडाओ ने ग्रीस के दस से पन्द्रह वर्षीय विद्यार्थियों से कहा कि वे सबसे छोटे और सबसे बड़े भिन्न की कल्पना करें और अपने उत्तरों को समझाएँ। विद्यार्थियों के उत्तरों से भिन्नो के विषय में चार पृथक स्कीमाएँ सामने आईं।

1. भिन्न के अंश और हर को दो अलग-अलग संख्याओं की तरह देखा जाता है। इसलिए बच्चों को लगता है कि अंश की संख्या बड़ी हो तो भिन्न का मान भी बड़ा होगा। जैसे $2/4$ और $3/16$ में से $2/4$ छोटा है क्योंकि 2, 3 से छोटा है। इस स्कीमा में भिन्न के आकार का (गलत) प्रतिनिधित्व दो स्वतंत्र संख्याओं से किया जाता है।
2. भिन्न का अंश (या हर) बढ़ता है तो भिन्न का मान छोटा होता जाता है। यह एक मध्यवर्ती स्कीमा है जो इस तथ्य की आंशिक समझ पर

आधारित है कि भिन्न एकल संख्याओं से फर्क आचरण करते हैं – ‘भिन्नों में, किसी कारणवश, छोटा दरअसल बड़ा होता है।’

3. भिन्न तब बड़ा होता है जब अंश, हर के मान के पास आने लगता है। यहाँ भिन्न को दो संख्याओं (अंश और हर) के बीच के सम्बन्ध के रूप में देखा जाता है, जो सही है। पर यह समझ अब भी अपूर्ण है क्योंकि 1 मान के भिन्न सबसे बड़े नहीं होते।
4. उदाहरण के लिए $2/4$ और $6/4$ दोनों में अंश और हर के बीच समान अन्तर है। पर दोनों समान नहीं हैं। जैसे-जैसे हर की तुलना में अंश का मान बढ़ता जाता है, वैसे ही भिन्न का मान भी बढ़ता जाता है। इस समझ से कुछ विद्यार्थी इस सही निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सबसे छोटा या सबसे बड़ा भिन्न कोई नहीं होता। उदाहरण के लिए $7/3 < 10/3 < 13/3 < \dots$

वॉसनिएडाओ के काम का एक अन्य उदाहरण परिमेय संख्याओं (rational numbers) की सघनता (density) से है। जैसा आप पहले देख चुके हैं कि संख्याओं के विषय में बच्चों का एक ‘सहज-सरल’ विचार होता है कि वे वियुक्त (discrete) होती हैं। अर्थात् जब गिनती की जाए तो हम 1, 2, 3, ... के क्रम में बढ़ते जाते हैं और उनके बीच कुछ नहीं होता। बेशक प्राकृतिक संख्याओं (natural numbers) की सूची अनन्त क्रम में बढ़ती जाती है – क्योंकि वे अपरिमित रूप से अनेक होती हैं। गिनने की क्रिया के लिए प्राकृतिक संख्याओं की यह वियुक्ति की अवधारणा बेहद ज़रूरी होती है, और बच्चे इसे अपने-आप, अन्तर्बोध से विकसित कर लेते हैं। परन्तु परिमेय संख्याओं का आचरण भिन्न होता है – दो परिमेय संख्याओं के बीच अनन्त परिमेय संख्याएँ होती हैं। वॉसनिएडाओ ने चौदह वर्षीय विद्यार्थियों से परिमेय संख्याओं पर कई प्रश्न पूछे, जैसे .005 और .006 के बीच, $3/8$ और $5/8$ के बीच, और $5/8$ व 8.5 के बीच कितनी संख्याएँ हैं। उनके उत्तरों से अवधारणात्मक बदलाव के चार चरण पहचाने जा सके (जिनमें चौथा चरण बिलकुल सही था)।

1. दशमलवों में, जैसे .005 और .006 के बीच, कोई संख्याएँ नहीं हैं, और $3/8$ और $5/8$ के बीच केवल $4/8$ है।

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

2. .005 और .006 जैसे दशमलवों के बीच कुछ ही (सीमित) संख्याएँ होती हैं जैसे किन्हीं भी दो भिन्नों के बीच हों।
3. .005 और .006 के बीच सीमित संख्या में संख्याएँ होती हैं पर दो भिन्नों के बीच असीमित संख्या में संख्याएँ होती हैं।
4. किन्हीं भी दो दशमलवों या दो भिन्नों के बीच अनन्त संख्याएँ होती हैं।

उपरोक्त दोनों उदाहरण आपको यह विश्वास दिलाने के लिए पर्याप्त होंगे कि विद्यार्थियों के 'गलत उत्तरों' के पीछे कितना पेचीदा चिन्तन होता है। हमें इस तथ्य के प्रति सचेत रहना चाहिए कि हमारे विद्यार्थी अवधारणाओं के आधार पर तर्क करते हैं, कि ये 'वैकल्पिक' अवधारणाएँ अक्सर 'सही' अवधारणाओं से टकराती हैं, और यह भी कि इन अवधारणाओं को बदलना उनके लिए हमेशा आसान नहीं होता। बॉक्स-1 वैकल्पिक अवधारणाओं के विषय में एक सिद्धान्त का वर्णन करता है।

किसी शोधकर्ता के लिए विद्यार्थियों की विभिन्न पूर्व-धारणाओं की छानबीन करना तो ठीक है, परन्तु शिक्षक/शिक्षिकाओं के रूप में हम अपने विद्यार्थियों की स्कीमाओं के बारे में कैसे जान सकते हैं? बातचीत, कक्षा चर्चाएँ, खुले सवाल और डायरी लेखन इसमें मददगार हो सकते हैं। हमें उनसे बार-बार इस तरह के सवाल पूछने चाहिए जैसे, "तुम्हारा मतलब क्या है?", "तुम्हारी बात उसने जो कहा, उससे अलग कैसे है?" और "क्या कोई उदाहरण दे सकते हो?" हमें लग सकता है कि हमारे पास इस सबके लिए समय नहीं



बॉक्स-1

गलत अवधारणाएँ नहीं बल्कि वैकल्पिक अवधारणाएँ

मिशेलिन ची व अन्य शोधकर्ता मनुष्यों की विभिन्न प्रकार की वैकल्पिक संकल्पनाओं को श्रेणीबद्ध करने पर काम करते रहे हैं, और इस माध्यम से वे यह समझने की कोशिश भी करते रहे हैं कि कुछ गलत-अवधारणाओं को 'सुधारना' क्यों खास तौर से कठिन होता है। हम यह जानते ही हैं कि किसी भी विषय में कुछ अवधारणाओं को सीखना अन्य अवधारणाओं की तुलना में अधिक कठिन होता है। क्या इसका सम्बन्ध उन सहज अवधारणाओं से हो सकता है जो मनुष्य गढ़ लेते हैं? ची कहते हैं कि मनुष्य में (शिशुओं से लेकर वयस्कों तक में) किसी भी परिघटना को समझाने के लिए *सीधे, प्रत्यक्ष, क्रमबद्ध कार्य-कारण* का सहारा लेने की प्रवृत्ति होती है। बजाय इसके कि वे परिघटनाओं को स्वतंत्र रूप से परन्तु एक साथ काम करने वाले तत्वों के तंत्रों से उभरने वाले (emergent) पेचीदा गुणों के रूप में देखें। इस कथन को समझने के लिए हमें कुछ उदाहरण देखने होंगे। ताप को ही लें – सहजबोध के आधार पर कई विद्यार्थी इसकी कल्पना किसी पदार्थ के रूप में करते हैं और ऊष्मा के स्थानान्तरण की व्याख्या करते समय वे यह मानते हैं कि 'गर्मी' जैसा कोई पदार्थ एक से दूसरी वस्तु में स्थानान्तरित होता है। इसी तरह तापमान को भूलवश किसी चीज़ की 'मात्रा' मान लिया जाता है। ची कहते हैं कि मानवों की ऐसी प्रवृत्ति है कि कई अवधारणाओं को वे क्रम से चलने वाले प्रत्यक्ष कारण और प्रभाव के रूप में ही समझा पाते हैं। साथ ही यह प्रवृत्ति भी हो सकती है कि वे अवधारणाओं को भी *प्रक्रियाओं* के बदले *वस्तुओं* के रूप में देखें (उदाहरणार्थ, ताप, विद्युत व बल)। फिर भी कई महत्वपूर्ण परिघटनाएँ (प्रसारण, मौसम के पैटर्न, कुछ खास ज्यामितीय आकार [fractals], मानवीय आचरण, वाष्पीकरण, प्राकृतिक चयन...) ऐसी नहीं होतीं। ये परिघटनाएँ एक तंत्र के ऐसे गुण हैं जो विभिन्न तत्वों की अन्तरक्रियाओं से उभरते हैं। क्योंकि हम चीज़ों को इस दृष्टि से देखते ही नहीं हैं, अतः हमें इस तरह से उभरने वाली प्रक्रियाओं को समझने में खास तौर से कठिनाई होती है।

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

ची के अनुसार समाधान यह हो सकता है कि शिक्षक पहले यह स्पष्ट करें कि कुछ अवधारणाएँ दरअसल वस्तु या पदार्थ नहीं बल्कि प्रक्रियाएँ हैं। और तब एक उभरने वाली (emergent) प्रक्रिया के विचार को आकार दें। ऐसा मॉडलों के उपयोग या अभिनय की मदद से किया जा सकता है। एक बार जब उभरने वाली प्रक्रिया की स्कीमा स्थापित हो जाएगी तो नई अवधारणाओं को उनके सन्दर्भ में ही समझना होगा।

है, या कक्षा में इतने अधिक विद्यार्थी हैं कि यह तरीका कारगर हो ही नहीं सकता। परन्तु जब हम कम से कम कभी-कभार अपने विद्यार्थियों के साथ चर्चाएँ और बातचीत करते हैं, तो सम्भव है कि यह प्रक्रिया उनके मन में आत्मसात हो जाए। आखिरकार हम उन्हें अच्छे शिक्षार्थी ही तो बनाना चाहते हैं, और ऐसा करने में एक बात जो मददगार हो सकती है, वह यह है कि वे स्वयं में होने वाले अवधारणात्मक बदलाव के प्रति सजग हो जाएँ। जहाँ तक बड़ी कक्षाओं का प्रश्न है, अगर वहाँ प्रत्येक विद्यार्थी को बोलने का 'अवसर नहीं मिल पाता' तब भी, सभी ऐसे आदान-प्रदान को सुनने से लाभ ले सकते हैं।

कई अन्य अच्छे अध्यापन अभ्यास भी अवधारणात्मक शिक्षण को प्रोत्साहित करते हैं। आपके विद्यार्थियों में गणित के बुनियादी सिद्धान्तों और सम्बन्धों की बेहतर समझ विकसित करने के लिए शोध से प्राप्त कुछ सुझाव इस प्रकार हैं:

- अपने विद्यार्थियों से सही सवाल पूछें। मनोवैज्ञानिकों ने गणित शिक्षकों द्वारा पूछे जाने वाले प्रश्नों को विभिन्न प्रकारों में वर्गीकृत किया है। ज्यादातर सवाल इस प्रकार के होते हैं "फलों का जवाब क्या है?"। पर कुछ शिक्षक यह भी पूछते हैं "आप फलों कैसे करेंगे?", और "यह उत्तर सही क्यों है?"। कैसे और क्यों सम्बन्धी प्रश्न इतने आम नहीं हैं पर वे अवधारणात्मक समझ में मददगार होते हैं। ऐसे प्रश्न पूछने वाले शिक्षकों के विद्यार्थी गणित में बेहतर होते हैं। ऐसा तब भी होता है जब विद्यार्थी दरअसल प्रश्न का जवाब देना भी नहीं है – इस बारे में सोचने भर से उच्चतर स्तर की अवधारणा बनाने को (higher level conceptualisation) प्रोत्साहन मिलता है।

- अपने विद्यार्थियों से पूछें कि किसी समस्या का हल अलग-अलग तरीकों से कैसे किया जा सकता है। वैकल्पिक विधियों से एक समान परिणाम निकलते देखना और यह समझना कि यह कैसे हुआ, अवधारणात्मक शिक्षण को प्रोत्साहित करेगा। लगभग प्रत्येक समस्या को हल करने के अनेक तरीके होते हैं, अतः इस विचार को आजमाकर देखना आसान है।
- विद्यार्थियों को प्रोत्साहित करें कि वे विभिन्न समस्याओं को उनके समाधान की विधि के अनुसार वर्गीकृत करें। जो समस्याएँ सतही स्तर पर अलग-सी लगती हैं, उनमें भी एक-समान अन्तर्निहित संरचनाएँ होती हैं। इस तथ्य को पहचान लेने से अवधारणात्मक समझ सुदृढ़ होती है। हो सकता है कि आपको ऐसा करने के लिए प्रश्न या समस्याएँ इकट्ठी करनी पड़ें या खुद उन्हें बनाना पड़े। अधिकांश पाठ्यपुस्तकें विधि के अनुसार प्रश्नों को प्रस्तुत करती हैं। फलस्वरूप विद्यार्थियों को इस चुनौती का कभी सामना ही नहीं करना पड़ता – जब तक कि इसका सामना परीक्षा में न हो!
- अपने विद्यार्थियों से कहें कि वे किसी अवधारणा को किसी दूसरे विद्यार्थी को सिखाएँ। मनोवैज्ञानिक शोध यह दर्शाता है कि किसी दूसरे को सिखाने के मकसद से महज़ पढ़ना भी अवधारणात्मक समझ को बेहतर बनाता है।
- यह सुनिश्चित करें कि शब्दों में पूछे जाने वाले गणित के इबारती प्रश्नों के सन्दर्भ ऐसे हों जिनसे विद्यार्थी परिचित हों या जो उनके लिए प्रासंगिक हों।

भाषा शिक्षण में अवधारणात्मक समझ को प्रोत्साहित करने के लिए आप विद्यार्थियों को अन्य लेखकों (खुद या बड़े बच्चों) के लेखन के शुरुआती काम और अन्तिम संशोधित आलेख दिखा सकते हैं। इससे वे स्वयं यह सीख सकते हैं कि क्या बदला या सुधारा गया है। विद्यार्थी एक-दूसरे के या खुद अपने ही लेख का सम्पादन भी कर सकते हैं। इतिहास पढ़ाते समय विद्यार्थियों को किसी एक घटना के विभिन्न विवरण दिए जा सकते हैं, और उन्हें यह सोचने को प्रोत्साहित किया जा सकता है कि इतिहास का

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

प्रस्तुतीकरण कैसे किया जाता है, उसकी व्याख्या कैसे की जाती है, अतः उसे कैसे गढ़ा जाता है। वे स्वयं साक्ष्यों को (प्राथमिक स्रोतों, जैसे यात्रियों के वर्णन या लोगों से लिए साक्षात्कार से) जाँच सकते हैं, और खुद इतिहास सम्बन्धी निजी सिद्धान्त बना सकते हैं। फिर इनकी तुलना वे अपनी पाठ्यपुस्तकों में दिए गए सिद्धान्तों और स्पष्टीकरण से कर सकते हैं।

आप जो भी विषय पढ़ाएँ, विद्यार्थियों को 'सही सवाल' पूछना सीखने दें – जो दरअसल 'सही जवाब' देने से भी अधिक कीमती कौशल है। अवधारणाओं को समझाने के लिए सादृश्यों, उदाहरणों, मॉडलों या चित्रों आदि का इस्तेमाल करें (नीचे दिए उदाहरण देखें)। विद्यार्थियों को प्रोत्साहित करें कि वे जो सीख रहे हों उसकी बात (वर्णन से, स्पष्टीकरण से, सविस्तार बता के) करें। वे अपनी डायरियों में खुद यह दर्ज भी कर सकते हैं कि वे किसी कक्षा के पहले क्या जानते थे और उसके बाद उनकी समझ किस प्रकार बदली।

सादृश्य के उपयोग द्वारा सौर मण्डल को समझना:

अगर सूर्य एक कद्दू हो तो पृथ्वी एक सरसों के दाने जितनी बड़ी होगी और दोनों के बीच तकरीबन 50 मीटर का फासला होगा। अगर सूरज सरसों का दाना हो तो पृथ्वी 50 से.मी. दूर होगी और सबसे पास का तारा तकरीबन 60 कि.मी. दूर होगा।

बीज गणित के समीकरण को तोहफा लपेटने के मॉडल और सन्तुलित तुला मॉडल के उपयोग द्वारा सुलझाना:

किसी समीकरण को सुलझाकर लिखने के लिए तोहफा लपेटने के मॉडल में इस तरह देखेंगे – किसी वस्तु को पहले कागज़ में लपेटें, उसे एक डिब्बे में रखें, और उसे एक रस्सी से बाँधें। इस 'तोहफे' को खोलने के लिए आपको ऊपर बताए गए चरणों को बिलकुल सही-सही पर उलटे क्रम में दोहराना होगा। नीचे जो चरण दर्शाए गए हैं, वे इसलिए गलत हैं क्योंकि यह ऐसा है मानो आप रस्सी खोले बिना ही डिब्बा खोलना चाहते हैं।

$$\frac{2x + 4}{7} = 10$$

$$\frac{2x}{7} = 10 - 4 = 6$$

विद्यार्थियों को याद दिलाएँ कि वे हमेशा खुद से पूछें कि 'तोहफा कैसे लपेटा गया था', ताकि उन्हें उसे खोलना भी पता हो। नीचे जो अभिव्यक्ति दी गई है, उसमें उन्हें यह कहना आना होगा कि हमने "पहले x को 2 से गुणा किया, तब उसमें 4 जोड़ा और नतीजे को 7 से भाग दिया।"

$$\frac{2x + 4}{7}$$

एक अज्ञात संख्या वाले समीकरण को हल करने के लिए किसी फल (नींबू बखूबी काम करते हैं) और वज़नों (बाटों) का उपयोग करें:



$$4x + 3 = 2x + 6$$

$$2x = 3$$

$$x = 1.5$$

खोज द्वारा सीखना

अवधारणात्मक परिवर्तन की एक सशक्त विधि है स्वनिर्देशित खोज की प्रक्रिया, खास तौर से विज्ञान और गणित में। हाल में खोज द्वारा सीखने का विचार भारतीय शैक्षणिक धड़ों में बेहद आकर्षक बन गया है। खोज द्वारा सीखने की एक ठेठ स्थिति में विद्यार्थियों को कई तरह की उपयुक्त सामग्रियाँ दी जाती हैं, और उम्मीद यह की जाती है कि वे स्वनिर्देशित प्रयोगों के द्वारा सक्रिय रूप से ज्ञान का निर्माण करेंगे ताकि अवधारणात्मक बदलाव

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

हासिल हो सके। रचनावादी नज़रिए से यह परिदृश्य श्रेष्ठ है। सामान्यतः इसको 'प्रतिपादक विधि' (expository approach) से विपरीत रखकर देखा जाता है जिसमें शिक्षक एक पाठ तैयार कर उसकी प्रस्तुति (भाषण शैली में) करता है, या कक्षा किसी पाठ्यपुस्तक का हूबहू अनुकरण करती है। नीचे दी जा रही तालिका प्रतिपादक पाठों के लाभ और हानियों का वर्णन करती है।

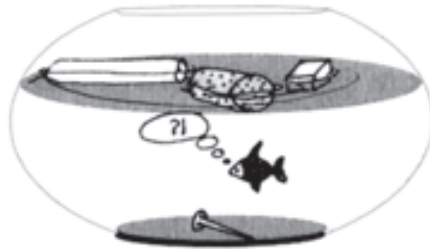
लाभ	हानियाँ
1. विद्यार्थियों को अवधारणाएँ स्पष्ट व प्रत्यक्ष तरीके से समझाई जा सकती हैं।	1. विद्यार्थी निष्क्रिय बन जाते हैं और अगर उन्हें बोलने या सोचने को न कहा जाए तो दिमाग 'बन्द' कर लेते हैं।
2. विषय के तहत आने वाले मुद्दों को क्रमवार रखने से अवधारणात्मक परिवर्तन में मदद मिलती है।	2. एक सुसंगत भाषण तैयार करने के लिए शिक्षक को विद्यार्थियों की पृष्ठभूमियों का ध्यान नहीं रखना पड़ता, अतः पाठ उबारू या बेहद कठिन भी बन सकता है।
3. सभी प्रासंगिक विचार शामिल कर लिए जाते हैं और यह भाग्य पर नहीं छोड़ा जाता कि विद्यार्थी स्वयं सब कुछ खोज लेंगे।	

प्रतिपादक कक्षाएँ ज्ञान निर्माण की सम्भावना को खारिज नहीं कर देतीं। अच्छी तरह दिए गए भाषण को ध्यान से सुनने पर विद्यार्थी कई चीज़ें 'खोज' सकते हैं, पहले से मौजूद जानकारी को प्रस्तुत किए जा रहे ज्ञान/जानकारी से जोड़ भी सकते हैं। पर ऐसे पाठों की बढ़िया तैयारी करनी पड़ती है, तैयारी के समय विद्यार्थियों की रुचियों और पृष्ठभूमियों का ध्यान रखना पड़ता है, और ढेरों ऐसे सवाल तैयार रखने होते हैं जो उन्हें लगातार चौकन्ना रखें। परन्तु दुर्भाग्य से, अनेक प्रतिपादक कक्षाएँ एकालाप में बदल जाती हैं। ध्यान रखें कि कुछ नया सीखें इसके लिए दो बातें आपको करनी होंगी: पहले से मौजूद प्रासंगिक स्कीमाओं को सक्रिय बनाना और मौजूदा स्कीमाओं में नई सूचनाएँ फिट करना। पढ़ाने की प्रतिपादक विधि में खतरा यह होता है कि उपरोक्त दो में से *पहला* काम हो ही नहीं। इस तरीके की निराशाजनक असफलता ने ही खोज द्वारा पढ़ाने के तरीके के पक्ष में माहौल बनाया है।

फिर भी, सीखने का जो उपरोक्त दूसरा भाग है, वह खोज विधि द्वारा उस स्थिति में होगा ही नहीं, अगर विद्यार्थियों का सामना उस नई जानकारी से न हो जो सीखनी है।

इलोंका हार्डी और अन्य शोधकर्ताओं ने जर्मनी में एक अध्ययन किया जो 'विशुद्ध' खोज विधि की समस्या को सामने रखता है और उससे निपटने का उपाय भी दिखाता है। इन शोधकर्ताओं ने जर्मनी में आठ वर्षीय बच्चों के साथ 'तैरने और डूबने' पर आठ सत्रों का एक छोटा पाठ्यक्रम आयोजित किया। विज्ञान की औपचारिक कक्षाओं में इस विषय से इन विद्यार्थियों का पहले सामना नहीं हुआ था (क्योंकि यह अवधारणा काफी आगे की है)। विद्यार्थियों के समक्ष छानबीन के लिए यह प्रश्न रखा गया, "लोहे से बना एक बड़ा जहाज़ तैरता क्यों है?" छोटे बच्चे सामान्यतः तैरने या डूबने के सवालियों के जवाब केवल एक ही घटक के सन्दर्भ में देखते हैं ("भारी चीज़ें डूब जाती हैं" या "बड़ी वस्तुएँ डूबती हैं" या "जिन चीज़ों में छेद होते हैं वे तैर सकती हैं")। परन्तु एक वैज्ञानिक व्याख्या में वस्तु और तरल पदार्थ के घनत्व के सम्बन्ध पर, और गुरुत्वाकर्षण व उत्प्लावकता (buoyancy) बलों के सम्बन्ध पर विचार किया जाता है। यह ज्ञान जो भौतिकशास्त्रियों ने वैज्ञानिक बारीकियों के साथ विकसित किया है, उसे छोटे बच्चे स्वतःस्फूर्त तरीके से तलाश लें, इसकी उम्मीद क्या रखी जा सकती है?

यह जाँचने के लिए पाठ्यक्रम के दौरान कई तरह की सामग्रियाँ उपलब्ध करवाई गईं – विभिन्न आकारों के टुकड़े या रोज़मर्रा की वस्तुएँ जो लकड़ी, धातु, मोम, मिट्टी आदि से बनी थीं। ये सामग्रियाँ ऐसी थीं जो परिकल्पना को जाँचने के अवसर दें। उदाहरण के लिए, समान आयतन की परन्तु



अलग-अलग सामग्री से बनी दो वस्तुएँ यह दर्शा सकती थीं कि तैरना केवल आयतन पर निर्भर नहीं करता। प्रयोग करने के लिए कुछ जगह बनाई गई थी और जुगाड़ जमाए गए थे, जिनके साथ निर्देश, संकेत,

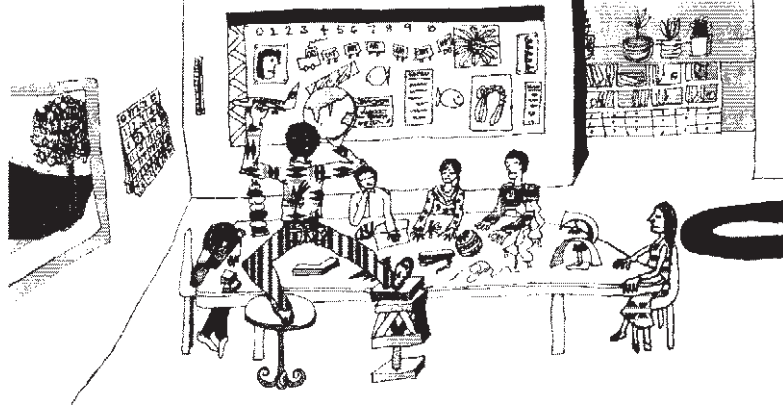
स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

इशारे और निर्देशक प्रश्न भी थे और काम के दौरान एक शिक्षक भी मौजूद था।

अध्ययन सीखने की दो विधियों की तुलना करता था: जिन्हें हमें 'विशुद्ध खोज पद्धति' और 'निर्देशित खोज पद्धति' कह सकते हैं। विद्यार्थियों के एक समूह को अपनी इच्छा से सामग्रियों से खेलने, अपने प्रयोग खुद ईजाद करने और विभिन्न वर्कशीटों को भरने के लिए मुक्त छोड़ा गया (इसे निम्न अनुदेशात्मक सहयोग या *low instruction support* कहा गया)। इस समूह में जो शिक्षक उपलब्ध था वह चर्चा को प्रोत्साहित करने और यदा-कदा कोई टिप्पणी करने के लिए था, पर वह सीखने को किसी भी रूप में कोई ढाँचा नहीं देता था। कई स्वतःस्फूर्त चर्चाएँ उभरीं और इस समूह में सीखने की प्रक्रिया निश्चित रूप से विद्यार्थी-केन्द्रित थी। विद्यार्थी अपनी इच्छा के मुताबिक स्वयं पहल करने, काम करने और सीखने के लिए पूरी तरह स्वतंत्र थे। दूसरे समूह को शिक्षक ने ढाँचाबद्ध निर्देश दिए, आठ विषयों में बाँटकर शिक्षण क्रमबद्ध किया और केन्द्रित चर्चाएँ आयोजित कीं (इसे उच्च अनुदेशात्मक सहयोग या *high instruction support* कहा गया)। विद्यार्थियों को एक तयशुदा क्रम में प्रयोग करने और वर्कशीट को पूरा करने को कहा गया। यह शिक्षण विद्यार्थियों की तैरने और डूबने सम्बन्धी अवधारणाओं को बदलने और उन्हें ऐसे विपरीत उदाहरणों से परिचित करवाने के लिए था जो ज्ञान की उनकी स्कीमाओं में संशोधन को प्रोत्साहित करे। इस समूह में प्रत्येक विद्यार्थी को निर्देशों का लाभ मिला, पर उन्हें प्रयोगों और गतिविधियों में स्वयं पहल करने की छूट नहीं थी।

तो हुआ क्या? दोनों ही समूहों ने अवधारणात्मक समझ को जाँचने के लिए तत्काल ली गई परीक्षा में समान रूप से अच्छा प्रदर्शन किया, और उस आधाररेखा समूह के बच्चों से बेहतर किया जो इस शिक्षण से गुज़रे ही नहीं थे। परन्तु साल भर बाद ली गई अनुवर्ती परीक्षा में निम्न अनुदेशात्मक सहयोग या विशुद्ध खोज समूह के बच्चों का प्रदर्शन कमज़ोर हुआ। साल भर बाद इस समूह के बच्चों की कई भ्रान्तियाँ वापस लौट आई थीं, जबकि निर्देशित खोज (*guided discovery*) समूह की समझ साल भर बाद भी बाकायदा बरकरार थी। इसी अध्ययन के समान कई अन्य शोध हुए हैं जो

दर्शाते हैं कि कुशल तरीके से सीखने, याद रखने और सीखे हुए को नई समस्याओं पर लागू करने में निर्देशित खोज, विशुद्ध खोज से बेहतर है।



शिक्षा मनोवैज्ञानिक रिचर्ड मेयर ने सन् 2005 में लिखे एक शोधपत्र में यह भावमय गुहार की, कि 'रचनावादी' विधि से सीखने को स्वयं 'हाथों से करके' सीखने के समतुल्य नहीं माना जाए। हम अक्सर भूलवश यह मान बैठते हैं कि रचनावादी तरीके से सीखने का तात्पर्य है व्यावहारिक रूप से सक्रिय विद्यार्थी। व्यावहारिक गतिविधियों के लोकप्रिय उदाहरणों में हाथों से किया जाने वाला कार्य, चर्चा, समूह कार्य और सामग्रियों की मुक्त छानबीन शामिल हैं। परन्तु मेयर के अनुसार रचनावादी सीखना हुआ है, यह कह पाने के लिए न तो व्यावहारिक गतिविधि एक आवश्यक शर्त है, न ही यह पर्याप्त है। इसके लिए वास्तव में जिसकी ज़रूरत होती है वह है संज्ञानात्मक गतिविधि (आ रही सूचनाओं को देखना, उनमें से जो प्रस्तुत स्थिति के लिए प्रासंगिक हो उसे चुनना, और उसे पहले से मौजूद ज्ञान में व्यवस्थित और आत्मसात करना)। शिक्षकों के रूप में हमारे लिए शायद अपनी कक्षाओं के रंग-रूप को बदलना भर पर्याप्त नहीं है (हालाँकि यह अपने-आप में फायदेमन्द हो सकता है)।

ढेरों गतिविधि, हलचल और विद्यार्थियों की भागीदारी अपने आप में लक्ष्य नहीं हैं। हम शिक्षकों को अपने पाठों का ढाँचा बनाना होता है, अवधारणाओं को

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

उचित क्रम में रखकर सिखाना होता है, और चुनौतीपूर्ण सवाल पूछने पड़ते हैं (अगर हम ढंग से लिखी गई किसी पाठ्यपुस्तक के अनुसार चल रहे हों, तो इनमें से ज्यादातर बातों का स्वतः ही ध्यान रख लिया गया होता है)। इस पुख्ता बुनियाद पर विद्यार्थियों द्वारा की जाने वाली गतिविधि और विद्यार्थियों की पहल से हुई खुली चर्चाएँ अधिक लाभदायक होती हैं।

हम सीखने को कैसे देखते हैं वही अन्ततः यह तय करता है कि हमारे पढ़ाने का तरीका कैसा होगा। हमारे पढ़ाने के तरीकों में छोटे या क्रमिक बदलाव भी लाभदायक सिद्ध होंगे। अब हम सीखने के दूसरे क्षेत्र, प्रक्रियात्मक ज्ञान की ओर मुड़ते हैं।

प्रक्रियात्मक ज्ञान और कौशलों को सीखना

आपको याद ही होगा कि प्रक्रियात्मक सीखना यानी यह जानना कि चीज़ें कैसे की जाती हैं। स्कूल में लगभग जो कुछ भी हम सिखाते हैं उसमें कुछ हद तक प्रक्रियाओं को सीखना शामिल होता है। गणित, ललित कलाओं, भाषा, विज्ञान, आदि में कैसे करना है के कौशल की ज़रूरत पड़ती है। इन कौशलों को नमूना (model) पेश करके सिखाया जाता है; अर्थात् शिक्षक/शिक्षिका स्वयं करके उस कौशल को दर्शाते हैं; फिर चाहे यह किसी समीकरण को हल करना हो, वाक्यों का पद-निरूपण हो या सुलेख हो। तब विद्यार्थी अपनी श्रेष्ठतम क्षमता के हिसाब से उसे दोहराते हैं।

परन्तु प्रक्रियात्मक सीखना केवल उन कामों तक सीमित नहीं होता जो विद्यार्थी स्कूल में करते हैं। दरअसल यह मस्तिष्क में एक पृथक व बेहद महत्वपूर्ण सीखने की विधि का प्रतिनिधित्व करता है, जिसके बिना हमारे जीवन ही ठप्प हो जाएँ। प्रक्रियात्मक सीखना लगातार चलता रहता है, ठीक पहले दिन से शुरू हो जाता है, जब शिशु करवट बदलना, रेंगना, चीज़ों को थामने के लिए हाथ बढ़ाना, सार्थक ध्वनियाँ निकालना... चम्मच का उपयोग करना, जूते के तस्मे बाँधना, साइकिल चलाना, माचिस जलाना... सड़क पार करना, किसी समीकरण को सन्तुलित करना, रोटी बनाना आदि सीखता है। वयस्कों के रूप में हम लगातार नई प्रक्रियाएँ सीखते हैं, जैसे स्कूटर चलाना, टाइप करना, या किसी नई मशीन को चलाना। इन तमाम

विभिन्न परिस्थितियों में जो समानताएँ हैं, वे हैं:

- ये सभी प्रक्रियाएँ करने पर ही सबसे अच्छी तरह से सीखी जा सकती हैं न कि मौखिक निर्देशों का पालन करके, या दूसरों को इन कार्यों को करते देख;
- बार-बार के मौकों और अभ्यास से इनमें सुधार होता है;
- ये अव्यक्त होती हैं, इन्हें शब्दों में अभिव्यक्त करना आसान नहीं होता (उदाहरण के लिए, मुगल शासकों की सूची बनाई जा सकती है पर रोटी गोल बेलने की विधि के चरण?)।
- एक बिन्दु के बाद ये स्वचालित, प्रयासहीन और अक्सर हमारे सचेतन नियंत्रण के बाहर हो जाती हैं।

प्रक्रियात्मक सीखने में सीखे जाने वाले कौशल को बार-बार करने के मौके मिलने से प्रदर्शन में तब तक सुधार आता जाता है जब तक कि अभ्यास द्वारा वह कौशल स्वचालित न बन जाए। किसी कौशल को सीखना किसी अवधारणा को सीखने से पूर्णतः भिन्न होता है। इन दोनों में एक अहम फर्क



स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

है **अभ्यास** की आवश्यकता। मनोवैज्ञानिक हमें बताते हैं कि किसी प्रक्रियात्मक कौशल को प्रभावी रूप से सीखने का एकमात्र तरीका है उसे दोहराते जाना। स्कूल में हम जो 'निरर्थक' अभ्यास (drill) करते हैं उसका मूल लक्ष्य सम्भवतः यही होता है। मनोविज्ञान और शिक्षा के विषय में एक सामान्य बात कहने का यह उचित समय है। जो मनोवैज्ञानिक प्रक्रियात्मक सीखने पर शोध करते हैं वे इष्टतम सीखने की आदर्श परिस्थितियों की छानबीन कर रहे होते हैं, उनमें अन्तर्निहित चरणों व क्रियाओं को देख-परख रहे होते हैं। उदाहरण के लिए, वे बताते हैं कि किसी प्रक्रिया को सीखने का एकमात्र तरीका है लगातार अभ्यास, और वह भी ढेर-सा। अब एक शिक्षक के नाते हम इस पर कैसे काम करें? क्या हम विद्यार्थियों पर ढेर सारा दोहराना व अभ्यास करना लाद दें?

बारम्बार दोहराने और 'सीखने' पर उसके घातक परिणाम के बारे में इतना कुछ कहा जा चुका है कि मैं उसमें कुछ और जोड़ना नहीं चाहती। कई शिक्षक इन दो विरोधाभासी तथ्यों से परिचित ही हैं – दोहराव उबाऊ हो सकता है, तथापि अभ्यास कुछ प्रक्रियाओं में महारत हासिल करने का एकमात्र तरीका है। दोहराव में समस्या तब होती है जब हम यह मान लेते हैं कि वह **समझ का स्थान ले सकता है**। अवधारणाएँ और प्रक्रियाएँ दो अलग चीज़ें हैं, विद्यार्थियों को इन दोनों को ही सीखना पड़ता है। अभ्यास अकेले अवधारणात्मक ज्ञान की ओर नहीं ले जाता, और केवल समझ, प्रक्रिया पर काबिज़ नहीं होने देती।

पहले जब हम जन्मजात सीखने की बात कर रहे थे, हमने देखा था कि अवधारणात्मक और प्रक्रियात्मक ज्ञान, दोनों ही उसका हिस्सा होते हैं। बहुत छोटे बच्चे स्वतःस्फूर्त रूप से, पर बड़े श्रम से अपने प्रक्रियात्मक कौशलों का अभ्यास करते हैं। वे कुछ ध्वनियाँ या कृत्य बारम्बार, तब तक दोहराते हैं जब तक उन पर अधिकार न स्थापित कर लें। हम यह प्रवृत्ति उनके शैशव से ही देखते हैं – लगता यह है कि बच्चों को दोहराव में मज़ा आता है, और हम इसे 'खेल' कहते हैं। कितना अद्भुत हो अगर हमारे विद्यार्थी एक पन्ना भर गुणा के सवाल को 'खेल' कह पाते! परन्तु गैर-जन्मजात प्रक्रियाओं को दोहराना एक हद के बाद मज़ेदार नहीं लगता। अगर विद्यार्थियों का बस चले

तो वे शायद उस तरह का दोहराव कभी न करें जिसकी ज़रूरत किसी प्रक्रिया पर काबिज़ होने के लिए पड़ती है।

डेविड गेयरी (हम अध्याय एक में उनसे मिल चुके हैं) का कहना है कि अत्यधिक दोहराव से नाखुशी, हम में से कुछ को, प्रक्रियात्मक ज्ञान की कीमत पर अवधारणात्मक समझ पर बल देने की दिशा में ले जा सकती है। गेयरी की चिन्ता है कि विद्यार्थियों को यह सुझाना कि सीखना हमेशा मज़ेदार ही होना चाहिए, फायदे से अधिक नुकसान पहुँचाता है। कुछ बातों की शिक्षा को सामाजिक अर्थ और समर्थन दिया जाना चाहिए, ताकि विद्यार्थी मज़े के अभाव के बावजूद अभ्यास करने को प्रोत्साहित हो सकें। अत्यधिक 'प्रगतिशील' शिक्षा प्रणालियों में, जैसे संयुक्त राज्य अमरीका की प्रणाली में, यह एक जायज़ सरोकार हो सकता है। परन्तु भारत में दोहराव पर अब तक भी नाजायज़ बल दिया जाता है और कई कक्षाओं में अवधारणात्मक समझ की अनदेखी की जाती है। हमें दरअसल जिसकी ज़रूरत है, वह है दोनों प्रकार के सीखने में एक सन्तुलन की।

लोग अक्सर ऐसी चीज़ें भी करते हैं जो आवश्यक रूप से 'मज़ेदार' नहीं होतीं। इस विचार का सम्बन्ध अभिप्रेरणा (motivation) से है जिसकी चर्चा अध्याय आठ में की गई है। परन्तु यहाँ भी इस पर कुछ वाक्य प्रासंगिक होंगे। ज़ाहिर है कि बच्चों में 'जन्मजात' कौशलों के अभ्यास की अभिप्रेरणा होती है, और 'गैर-जन्मजात' कौशलों के अभ्यास के प्रति भी बच्चे अभिप्रेरणा दर्शाते हैं हालाँकि यह कुछ मायनों में कम होती है। यह बाद वाली अभिप्रेरणा कुछ अलग प्रकार की होती है – इसमें खेल का अभाव हो सकता है, परन्तु छोटे-छोटे सुधारों से पुरस्कार मिलता है और झुँझलाहट के बावजूद हमें उस काम में जुटे रहने देता है। दीर्घकालिक अभ्यास करने की अभिप्रेरणा हमें कई वर्षों में विविध क्षेत्रों में विशेषज्ञ बनने में मदद कर सकती है। कृपया ध्यान दें कि हम स्कूली कार्य की उस अभिप्रेरणा की बात नहीं कर रहे हैं जो सज़ा पाने के डर से उपजती है। इस तरह की प्रेरणा तो आखिरकार खुद को ही परास्त करने वाली होती है।

दोहराव (drill) क्या वास्तव में समझने में मदद कर सकता है? कई शिक्षाविदों का मानना है कि अवधारणात्मक और प्रक्रियात्मक ज्ञान का रिश्ता एकतरफा

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

है – अर्थात् किसी अवधारणा को अच्छी तरह समझना उसकी प्रक्रिया को सीखने में सुधार लाता है, परन्तु प्रक्रिया को बखूबी सीखने से अवधारणा की समझ बेहतर नहीं होती। फिर भी, हाल का शोध उन उपायों की छानबीन कर रहा है जिनसे दोनों एक-दूसरे को सुधार सकें, और अवधारणात्मक और प्रक्रियात्मक रूप से सीखने के बीच लगातार आगे-पीछे जाया जा सके। अब लगने यह लगा कि दोनों के बीच का सम्बन्ध वास्तव में दो-तरफा भी हो सकता है। प्रक्रिया के उपयोग पर सोच-विचार अवधारणा की हमारी समझ को भी पुख्ता करता है। हमें अपने विद्यार्थियों से पूछना चाहिए कि कुछ प्रक्रियाएँ क्या वास्तव में कारगर हैं, और अगर हैं तो क्यों कारगर हैं जबकि अन्य प्रक्रियाएँ गलत हैं। उदाहरण के लिए, बड़ी संख्याओं को जोड़ते समय यह क्यों महत्वपूर्ण होता है कि उन्हें दूसरी संख्या के ठीक नीचे एक खास तरीके से रखा जाए?

बेहतर प्रक्रियात्मक ज्ञान का एक और लाभ यह है कि जब कोई कौशल स्वचालित बन जाता है, तब मानसिक संसाधन और ध्यान उच्चतर स्तर के तर्क की माँग करने वाले कामों के लिए आज़ाद किए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए, नियोजन करना, निगरानी रखना, सह-सम्बन्ध बनाना और मूल्यांकन करना। हम सब जानते हैं कि किसी नई भाषा में मूल-पाठ का अर्थ समझना तब तक श्रमसाध्य और कठिन होता है जब तक हम शब्दों को पढ़ने में स्वचालितता (धारा-प्रवाह पाठ) के स्तर तक नहीं पहुँच जाते। अध्याय तीन में इस पर अन्य उदाहरणों के साथ और चर्चा की गई है।

इसलिए, अभ्यास अपने आप में बुरी चीज़ नहीं है, पर हमें इसके उपयोग को ज़्यादा कारगर बनाना चाहिए। अच्छे अभ्यास के सिद्धान्त यह हैं कि इसमें:

- एक सत्र में एकाधिक प्रक्रियाओं का मिश्रण होना चाहिए;
- एक लम्बे अर्से के दौरान इसे छोटी मात्रा में दिया जाना चाहिए (कुछ मनोवैज्ञानिक सुझाते हैं कि किसी भी एक कौशल पर प्रतिदिन 20 मिनट से अधिक नहीं लगाए जाने चाहिए);
- कुछ प्रक्रियाएँ कारगर क्यों रहती हैं पर चिन्तन को भी पूरक के रूप में शामिल करना चाहिए।

‘समझ विकसित करने के लिए सिखाना’ के जुमले को सामान्यतः अवधारणात्मक शिक्षण तक सीमित कर दिया जाता है। परन्तु, अगर इस भाग के अन्त में आप इसे अवधारणात्मक और प्रक्रियात्मक सीखना, दोनों का उपयोग करना समझेंगे, तो मेरा उद्देश्य हासिल हो चुका होगा।

सन्दर्भ-आश्रित तर्कशक्ति

1985 में मनोवैज्ञानिक डेविड पर्किन्स ने शिक्षण के विषय में यह लिखा, “उम्मीद यह है कि 12 वर्ष या उससे भी अधिक सालों के अध्ययन के बाद विद्यार्थी न केवल बेहतर तरीके से पढ़-लिख, समझ, या कुछ खास तथ्यों को याद कर पाएँगे, बल्कि सोच भी सकेंगे।” पर्किन्स ने सोचने की इस क्षमता को ‘अनौपचारिक तर्कशक्ति’ या रोज़मर्रा की तर्कशक्ति कहा है। वे इस बात पर दुख जताते हैं कि स्कूल इसे पोषित करने पर या तो बहुत कम, या कतई ध्यान नहीं देते। अनौपचारिक तर्कशक्ति, औपचारिक तर्कशक्ति से इस अर्थ में अलग होती है कि इसमें कठोर निगमन (deduction) या परिकलन (calculation) नहीं किया जाता। जब भी हम किसी दावे या परिस्थिति का सामना करते हैं, हमें अक्सर उसके दोनों (या और अधिक) पक्षों के सबूतों को तौलने के बाद उसका मूल्यांकन करना पड़ता है। उदाहरण के बतौर अगर आपसे पूछा जाए “क्या टेलीविजन और कम्प्यूटर खेलों की हिंसा समाज में हिंसा को बढ़ाती है?” आपका उत्तर सीधे-सीधे हाँ या ना में नहीं हो सकता। आपको कई तरह के साक्ष्यों पर विचार करना होगा, सभी पक्षों को सावधानी से तौलना होगा। उम्दा किस्म की अनौपचारिक तर्कशक्ति में तर्क की कई धाराएँ शामिल होंगी, स्वयं अपने ही बिन्दुओं पर अनेक आपत्तियाँ होंगी और चर्चित मुद्दे पर टिके रहने की क्षमता भी होगी।

परन्तु स्कूली विद्यार्थियों और कॉलेज के स्नातकों के साथ किए गए पर्किन्स के शोध ने दर्शाया कि उनकी अनौपचारिक तर्कशक्ति के कौशल आश्चर्यजनक रूप से कमज़ोर थे। इन लोगों से जो सवाल पूछे गए, उन पर बहुत ही कम तर्क प्रस्तुत किए गए और अपने तर्क पर उठाई गई आपत्तियाँ तो और भी कम थीं (पर यह बात मुझे चकित नहीं करती)। किसी भी मुद्दे की बहुत कम छानबीन (under-exploration) करने की प्रवृत्ति पर पहले भी शोध किए

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

जा चुके हैं। विद्यार्थियों के पास जितना भी प्रासंगिक ज्ञान मौजूद होता है, वे उसके केवल कुछ ही भाग तक पहुँचकर उसका उपयोग करते हैं, और उनके द्वारा प्रस्तुत तर्क उनकी बौद्धिक क्षमता से काफी कम होता है। कई लोग केवल एक ही तर्क देते हैं और उससे ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। इसे कई बार 'जड़ ज्ञान' (inert knowledge) की समस्या कहा जाता है, जो मुझे उपयुक्त लगता है। छिछला और संकीर्ण होने के साथ ही यह चिन्तन अक्सर जल्दबाजी वाला या आवेगपूर्ण, अस्पष्ट या धुँधला होता है।

जैसा पर्किन्स कहते हैं, शिक्षा खुले (open-ended) मुद्दों को सम्बोधित करने की क्षमता को प्रोत्साहित नहीं करती – ऐसे मुद्दे जिनके हल या जवाब आपको नहीं पता हों। स्कूली कार्य सही जवाबों, तेज़ी से काम खत्म करने और एक-रेखीय चिन्तन पर केन्द्रित होते हैं। जबकि वास्तविक जगत् की कई परिस्थितियों में खुले मुद्दों पर चिन्तन की ज़रूरत पड़ती है। हमारे कई निर्णयों को – जिनका सरोकार धन से लेकर स्वास्थ्य, या आपसी सम्बन्धों से हो – बेहतर तर्कशक्ति द्वारा सुधारा जा सकता है। अतः इस अध्याय के लिए प्रश्न यह है: क्या हम बेहतर चिन्तन करना सीख सकते हैं? शोध बताते हैं कि इसके दो सम्भावित तरीके हो सकते हैं। पहला तरीका है चिन्तन को एक अलग विषय की तरह पढ़ाना, और इस प्रकार के कई कार्यक्रम स्कूली उम्र के बच्चों के लिए विकसित कर जाँचे गए हैं। ऐसे सभी कार्यक्रम दो काम करते हैं, वे विद्यार्थियों को उनके चिन्तन की प्रक्रिया के प्रति (उसकी मज़बूतियों, कमज़ोरियों, सम्भावित खतरों के प्रति) सचेत करते हैं और उनके चिन्तन को रणनीतियों की मदद से पुनर्व्यवस्थित करते हैं। इसका अच्छा उदाहरण है मैथ्यू लिपमैन द्वारा रचित बेहद सफल आलोचनात्मक चिन्तन का कार्यक्रम। परन्तु ऐसे कार्यक्रमों की एक समस्या यह है कि उसमें बहुमूल्य स्कूली समय खपाना पड़ता है – तकरीबन आठ सप्ताहों तक प्रति सप्ताह दो या तीन कालांश। हमारी भारतीय पाठ्यचर्या में एक और विषय के लिए जगह भला कहाँ है? दूसरी समस्या यह है कि ऐसे कार्यक्रम विषय-वस्तु की सूचना से कन्नी काटते हैं और अमूर्त समस्याओं या पहेलियों से चिपके रहना पसन्द करते हैं। परन्तु ज़रूरी नहीं कि ऐसा करना विद्यार्थियों को स्थितिपरक चिन्तन (situated thinking) का कौशल दे, जो ज्ञान और विशेषज्ञता के किसी भी क्षेत्र को विकसित करने के लिए महत्वपूर्ण होता है।

बॉक्स-2

पारस्परिक अध्यापन

मनोवैज्ञानिक ऐन ब्राउन और उनके सहकर्मियों ने 1980 के दशक में पारस्परिक अध्यापन विधि विकसित की और उसे जाँचा। यह आपकी कक्षा को एक **सहयोगी सीखने वाले समुदाय** में बदलने का तरीका है, जिसमें विद्यार्थी स्वयं अपने सीखने की ज़िम्मेदारी ले लेते हैं। चुनौतीपूर्ण पाठ सामग्री को समझने के एक माध्यम के रूप में यह तरीका विद्यार्थियों (और एक शिक्षक) के बीच संवाद का उपयोग करता है। इस प्रक्रिया के दौरान विद्यार्थियों के अधिसंज्ञानात्मक (metacognitive) कौशलों में भी सुधार आता है। पाठ किसी भी विषय का हो सकता है और यह ज़रूरी होता है कि उसे छोटे अंशों में, सामान्यतः अनुच्छेदों में, बाँट दिया जाए।



इस विधि का उपयोग 6 से 17 विद्यार्थियों के समूह में किया गया है। परन्तु अगर आपकी कक्षा अधिक बड़ी हो तो निराश न हों, आप शिक्षक के न्यूनतम सहयोग से विद्यार्थियों के छोटे समूहों में पारस्परिक सीखने की विधि के पीछे के विचारों का उपयोग कर सकते हैं। आप अपनी कक्षा को 6 से 8 विद्यार्थियों के कई समूहों में बाँट सकते हैं, और स्वयं कक्षा में घूमते हुए जहाँ भी मार्गदर्शन या मदद की ज़रूरत हो वहाँ जा सकते हैं। शुरु-शुरु में शिक्षक के रूप में आपको स्वयं चारों कौशलों का प्रदर्शन करना होगा: सार-संक्षेप करना, व्याख्या करना, प्रश्न पैदा करना और भविष्यवाणी करना (नीचे दिए गए वर्णन को देखें)। धीरे-धीरे आपके विद्यार्थियों को तरीका समझ में आने लगेगा और वे खुद-ब-खुद काम जारी रख सकेंगे।

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

समूह के सभी विद्यार्थी एक साथ एक अनुच्छेद पढ़ते हैं, और तब कोई एक विद्यार्थी उसका सारांश अपने शब्दों में रखती है। अगला विद्यार्थी उन हिस्सों को स्पष्ट करता है जो समझने में कठिन हों, या समूह की मदद से सम्भव असंगतियों को स्पष्ट करता है। तीसरी विद्यार्थी पाठ पर आधारित प्रश्न पूछती है। यह सवाल ऐसा हो सकता है जिसका जवाब अनुच्छेद में ही दिया गया हो, या ऐसा भी जो पढ़ने से उपजा हो। इसके बाद कोई अन्य विद्यार्थी, अब तक पढ़े गए पाठ के आधार पर और उस विषय पर अपने सामान्य ज्ञान के आधार पर यह भविष्यवाणी करता है कि अगले अनुच्छेद में क्या लिखा गया होगा। इसके बाद समूह पाठ के अगले हिस्से की ओर बढ़ता है और ठीक यही प्रक्रिया समूह के चार अन्य विद्यार्थियों के साथ दोहराई जाती है।

कागज़ी वर्णन से यह विधि इतनी सरल लगती है कि इसके प्रभावी होने पर भी शंका हो सकती है। पर आजमाकर तो देखें! यह स्तर की उस गहराई को ही बदल देती है जिस पर विद्यार्थी पाठ पढ़ते हैं, और साथ ही उनकी समझ के स्तर को भी। क्रमशः कठिन पाठों को पढ़ने की यह विधि विद्यार्थियों में गहरे पैठ जाती है, और वे 'सीखने के लिए पढ़ने' लगते हैं और साथ ही सामग्री की अपनी समझ की निगरानी भी स्वयं कर पाते हैं।

दूसरा तरीका दोनों ही समस्याओं का एक ही झटके में समाधान कर देता है। यह है विभिन्न विषयों के माध्यम से बेहतर सोचना सिखाना। पर्किन्स इसे **अन्तर्वेशन (infusion)** कहते हैं, क्योंकि इससे उम्मीद यह रखी जाती है कि ये कौशल सामान्य चिन्तन में भी फैल जाएँगे। इसका बेहतरीन उदाहरण पारस्परिक अध्यापन है, जो 1980 में मनोवैज्ञानिक ऐन ब्राउन ने विकसित किया था। इसका विस्तृत वर्णन बॉक्स-2 में दिया गया है। इस विधि का उपयोग किसी भी विषय की सामग्री के लिए किया जा सकता है, और यह *सामग्री के बारे में हमारी निजी समझ के प्रति सजगता* को भी प्रोत्साहित करता है। इस सजगता का एक भला-सा नाम है: **अधिसंज्ञान (metacognition)**। सरल शब्दों में यह वह जानने की क्षमता है कि व्यक्ति स्वयं क्या जानता है, कितनी अच्छी तरह से उसे जानता है, और अपने ज्ञान को सुधारने में क्या चीज़ उसकी मदद करेगी। आपको यह जानकर अचरज होगा कि यह क्षमता अधिकतर विद्यार्थियों में नहीं होती है। सामान्यतः लोग

अपने ज्ञान व समझ को वास्तव से कहीं अधिक या फिर बहुत कम आँकते हैं और फलतः सीखने के लिए उपयुक्त रणनीतियों का उपयोग नहीं करते। बाल विकास पर केन्द्रित अध्याय चार में आप बाल्यावस्था में अधिसंज्ञानात्मक क्षमताओं के विकास के बारे में और पढ़ेंगे। अधिसंज्ञान निश्चित रूप से अनौपचारिक तर्कणा का महत्वपूर्ण हिस्सा है।

अन्तर्वेशन इस हद तक भी काम कर सकता है कि ज्ञान की वृद्धि अपने आप में ही हमारी तार्किक क्षमता को सुधार दे। कुछ मनोवैज्ञानिक यह अतिवादी दावा भी करते हैं कि बढ़िया तर्कशक्ति सुव्यवस्थित ज्ञान से ज़्यादा कुछ नहीं! जो व्यक्ति समाज शास्त्र, बाल्यावस्था और सहसम्बन्ध-एवं-कार्यकारण सम्बन्ध के बारे में कुछ जानता हो, क्या वह टीवी पर हिंसा सम्बन्धी प्रश्न पर उस व्यक्ति से बेहतर तर्क प्रस्तुत कर सकेगा, जो इन विषयों पर कुछ भी नहीं जानता हो? ऐसा सम्भव है। बात यह है कि अवधारणात्मक और प्रक्रियात्मक ज्ञान, दोनों ही, विभिन्न क्षेत्रों में विकसित होते हैं (गणित, विज्ञान, भाषा, इतिहास आदि-इत्यादि)। जो ज्ञान और कौशल यों विकसित होते हैं, वे विभिन्न क्षेत्रों में सामान्यीकृत भी होते जाते हैं और अन्ततः उनका उपयोग नई स्थितियों में तर्क लगाने के लिए भी किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, अगर हम अपने विषय कुछ इस प्रकार पढ़ाएँ कि विद्यार्थियों की तर्कशक्ति किसी *सन्दर्भ* में विकसित हो, तो हम यह भी सुनिश्चित करते हैं कि हमारे विद्यार्थियों को अधिक और बेहतर रूप से व्यवस्थित ज्ञान प्राप्त हो, जो फिर उनकी *सामान्य* तार्किक क्षमताओं को भी बेहतर बना सकता है। बुद्धिमत्ता पर केन्द्रित सातवें अध्याय में आप इस बारे में और पढ़ेंगे, क्योंकि बुद्धिमत्ता को परिभाषित करने का एक तरीका सामान्य तर्कशक्ति भी है।

मेरा निजी समाधान होगा अवधारणात्मक और प्रक्रियात्मक समझ को ध्यान में रखते हुए विषयों को पढ़ाना, जहाँ भी सम्भव हो पारस्परिक अध्यापन विधि का उपयोग करना और अपने विद्यार्थियों से सीखने, समझने और याद रखने की प्रकृति पर यदाकदा बातचीत करना। अगर आप सप्ताह में एक कालांश खुले सवाल पर चर्चाओं के लिए रख सकते हैं, तो यह अनौपचारिक तार्किक कौशलों के अभ्यास में विद्यार्थियों की मदद करेगा। इन सत्रों में विद्यार्थियों को कमज़ोर तर्कशक्ति के खतरों के प्रति भी चेताएँ: संकीर्णता, छिछलापन,

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

असटीक चिन्तन, बोलते समय विषय बदल देना... और उन्हें खुद भी अन्य खतरे सुझाने दें।

निष्कर्ष

होता यह है कि हम अपने विद्यार्थियों की सीखने की क्षमता को कम आँकते हैं – कुछ शिक्षक हमेशा ही ऐसा करते हैं, और सभी शिक्षक कभी-कभार तो ऐसा करते ही हैं। अतः सीखने की पेचीदा और परिष्कृत (sophisticated) प्रकृति को ध्यान में रखना अच्छा रहता है और मानव के सीखने के सिद्धान्तों के साथ बढ़ना भी। मानव स्मृति का सीखने से घनिष्ठ सम्बन्ध है जिसकी चर्चा अगले अध्याय में है। दरअसल ये दोनों एक ही हैं: सीखने का मतलब है याद रखना। अतः अध्याय तीन में आप फिर से कुछ भिन्न शब्दावली के साथ अवधारणाओं और प्रक्रियाओं से मिलेंगे, और साथ ही स्मृति के कुछ बिलकुल अलग पक्षों से भी परिचित होंगे।

सन्दर्भ और पुस्तक सूची

1. ब्रेन्स्फोर्ड जे., आर. शेरवुड, एन. वार्ड, और जे. राइज़र, 1986। 'टीचिंग थिंकिंग एंड प्रॉब्लम सॉल्विंग।' *अमेरिकन साइकॉलॉजिस्ट*, खण्ड-41, संख्या-10, 1078-89
2. ची, एम.टी.एच., 2005। 'कॉमनसेंस पर्सेप्शंस ऑफ इमर्जेंट प्रोसेसेज़: व्हाय सम मिसकंसेप्शंस आर रोबस्ट।' *द जर्नल ऑफ द लर्निंग साइंसेस*, 14(2), 164-99
3. एरिकसन, के.ए., आर.टी. क्रैम्पे, और सी. टेश-रेइयमर, 1993। 'द रोल ऑफ डेलिबरेट प्रैक्टिस इन द एक्विज़िशन ऑफ एक्स्पर्ट परफॉरमेंस।' *साइकोलॉजिकल रिव्यू*, खण्ड-100, संख्या-3, 363-406
4. गेयरी, डी.सी., 1995। 'रिप्लेक्शंस ऑफ एवोल्यूशन एंड कल्चर इन चिल्ड्रेंस कॉग्निशन: इंप्लिकेशंस फॉर मैथेमैटिकल डेवलपमेंट एंड इंस्ट्रक्शन।' *अमेरिकन साइकॉलॉजिस्ट*, खण्ड-50, संख्या-1, 24-37
5. गेयरी, डी.सी., 1996। 'द एवोल्यूशन ऑफ कॉग्निशन एंड द सोशल कंस्ट्रक्शन ऑफ नॉलेज।' *अमेरिकन साइकॉलॉजिस्ट*, खण्ड-51, संख्या-3, 265-66

6. ग्लेसर, आर., 1984। 'एज्युकेशन एंड थिंकिंग: द रोल ऑफ नॉलेज।' *अमेरिकन साइकोलॉजिस्ट*, खण्ड-39, संख्या-2, 93-104
7. ग्लासमैन, एम., 1996। 'द आरग्यूमेंट फॉर कंस्ट्रक्टिविज़्म।' *अमेरिकन साइकोलॉजिस्ट*, खण्ड-51, संख्या-3, 264-65
8. गोल्ड, ई., पी. टैनापैट, एन.बी. हेस्टिंग्स और टी.जे. शोर्स, 1999। 'न्यूरोजेनेसिस इन एडल्टहुड: अ पॉसिबल रोल इन लर्निंग।' *ट्रेंड्स इन कॉग्निटिव साइंसेस*, खण्ड-3, संख्या-5
9. हार्डी, आई., ए. जोनेन, के. मॉलर, और ई. स्टर्न, 2006। 'इफेक्ट्स ऑफ इंस्ट्रक्शनल सपोर्ट विदिन कंस्ट्रक्टिविस्ट लर्निंग एंवायरमेंट फॉर एलिमेंट्री स्कूल स्टूडेंट्स अंडरस्टैंडिंग ऑफ फ्लोटिंग एंड सिंकिंग।' *जर्नल ऑफ एज्युकेशनल साइकोलॉजी*, 98 (2), 307-26
10. कील, एफ.सी., डब्ल्यू.सी. स्मिथ, डी.जे. साइमन्स और डी.टी. लेविन, 1998। 'टू डॉग्मास ऑफ कंसैप्युअल एम्पेरिसिज़्म: इंप्लिकेशंस फॉर हाइब्रिड मॉडल्स ऑफ द स्ट्रक्चर ऑफ नॉलेज।' *कॉग्निशन*, 65; 103-35
11. लूइस, ए.बी., 1989। 'ट्रेनिंग स्टूडेंट्स टू रिप्रेजेंट अरिथमैटिक वर्ड प्रॉब्लम्स।' *जर्नल ऑफ एज्युकेशनल साइकोलॉजी*, खण्ड-81, संख्या-4, 521-31
12. मेयर, आर.ई., 1992। 'कॉग्निशन एंड इंस्ट्रक्शन: देयर हिस्टॉरिक मीटिंग विदिन एज्युकेशनल साइकोलॉजी।' *जर्नल ऑफ एज्युकेशनल साइकोलॉजी*, खण्ड-84, संख्या-4, 405-12
13. मेयर, आर.ई., 2004। 'शुड देयर बी अ थ्री-स्ट्राइक्स रूल अगेंस्ट प्योर डिस्कवरी लर्निंग?, द केस फॉर गाइडेड मेथड्स ऑफ इंस्ट्रक्शन।' *अमेरिकन साइकोलॉजिस्ट*, खण्ड-59, संख्या-1, 14-19
14. नेल्सन, सी.ए., 1999। 'चेंज एंड कंटिन्युइटी इन न्यूरोबिहेवियरल डेवलपमेंट: लैसंस फ्रॉम द स्टडी ऑफ न्यूरोबायोलॉजी एंड न्यूरल प्लास्टिसिटी।' *इंफैंट बिहेवियर एंड डेवलपमेंट*, खण्ड-22, संख्या-4
15. पैलिस्कर, ए.एस., और ए.एल. ब्राउन, 1984। 'रेसिप्रोकल टीचिंग ऑफ क्रॉम्पिहेंशन फॉस्टरिंग एंड मॉनिटरिंग एक्टिविटीज़।' *कॉग्निशन एंड इंस्ट्रक्शन*, 1(2), 117-75
16. पार्किन्स, डी.एन., 1985। 'पोस्टप्राइमरी एज्युकेशन हेज़ लिटिल इंपैक्ट ऑन इनफॉर्मल रीजनिंग।' *जर्नल ऑफ एज्युकेशनल साइकोलॉजी*, खण्ड-77, संख्या-5, 562-71

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

17. पर्किन्स, डी.एन., और टी.ए. ग्रोत्ज़र, 1997। 'टीचिंग इंटेलिजेंस।' *अमेरिकन साइकोलॉजिस्ट*, खण्ड-52, संख्या-10, 1125-33
18. पैरी, एम., एस.डब्ल्यू. वैंडरस्टोप, और एस.एल.यू, 1993। 'आस्किंग क्वेश्चंस इन फर्स्ट ग्रेड मैथेमैटिक्स क्लासेज़: पोटेंशियल इंप्लुएंसेज़ ऑन मैथेमैटिकल थॉट।' *जर्नल ऑफ एज्युकेशनल साइकोलॉजी*, खण्ड-85, संख्या-1, 31-40
19. फिलिप्स, डी.सी., 1997। 'हाऊ, व्हाय, व्हाट, व्हेन एंड व्हेयर: पर्सपेक्टिवज़ ऑन कंस्ट्रक्टिविज़्म इन साइकोलॉजी एंड एज्युकेशन।' *इश्युस इन एज्युकेशन*, खण्ड-3(2), 151
20. पियाजे, जे., 1970। *साइंस ऑफ एज्युकेशन एंड द साइकोलॉजी ऑफ द चाइल्ड*। ओरियन प्रेस, न्यू यॉर्क।
21. पिंकर, एस., 2003। 'हाउ टु गेट इंसाइड ए स्टूडेंट्स हैड।' *द न्यू यॉर्क टाइम्स*, जनवरी 31, 2003
22. पोस्नर, एम.आई., और जी.जे. डिगिरोलामो, 2000। 'कॉग्निटिव न्यूरो साइंस: ओरिजिंस एंड प्रॉमिस।' *साइकोलॉजिकल बुलेटिन*, खण्ड-126, संख्या-6, 873-89
23. रिटल-जॉनसन, बी., आर.एस. सीगलर, और एम.डब्ल्यू. अलीबली, 2001। 'डेवलपिंग कंसैप्युअल अंडरस्टैंडिंग एंड प्रोसीजरल स्किल इन मैथेमैटिक्स: एन आइटरैटिव प्रोसेस।' *जर्नल ऑफ एज्युकेशनल साइकोलॉजी*, खण्ड-93, संख्या-2, 346-62
24. सीगलर, आर.एस., 2005। 'चिल्ड्रेंस लर्निंग।' *अमेरिकन साइकोलॉजिस्ट*, 60, 769-78
25. सकोयल्स, जे.आर., 1999। 'न्यूरल प्लास्टिसिटी एंड एक्जैप्शन।' *अमेरिकन साइकोलॉजिस्ट*, 54, 438-39
26. सोल्सो, आर.एल., 2001। *कॉग्निटिव साइकोलॉजी*। पियरसन एज्युकेशन (सिंगापुर), प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली।
27. स्टेफिलिडाउ, एस., और एस. वॉसनिएडाओ, 2004। 'द डेवलपमेंट ऑफ स्टूडेंट्स अंडरस्टैंडिंग ऑफ द न्यूमेरिकल वैल्यू ऑफ फ्रैक्शंस।' *लर्निंग एंड इंस्ट्रक्शन*, 14, 503-18
28. वैम्वाकोस्सिस, एक्स., और एस. वॉसनिएडाओ, 2004। 'अंडरस्टैंडिंग द स्ट्रक्चर ऑफ द सेट ऑफ रैशनल नम्बर्स: अ कंसैप्युअल चेंज एप्रोच।' *लर्निंग एंड इंस्ट्रक्शन*, 14, 453-67

अध्याय-3

स्मृति या याददाश्त



इन शब्दों को कम्प्यूटर के एक कोरे पन्ने पर टाइप करते हुए मेरा ध्यान किसी पन्ने को लेखन से भरने और मस्तिष्क को ज्ञान से 'भरने' में अन्तर की ओर जाता है। इन अन्तरो को सूचीबद्ध करने पर इन्सान की स्मृति और सीखने की प्रक्रिया की कुछ बेहद महत्वपूर्ण विशिष्टताओं को रेखांकित करने में मदद मिलती है:

- मैं जो कुछ लिखूँगी वह ठीक इसी रूप में, सम्भवतः हमेशा के लिए बना रहेगा। परन्तु इसके विपरीत मनुष्य की याददाश्त बेहद रूप से सारांश-और अर्थ-अभिमुख होती है। कुछ भी शब्दशः न तो संग्रहित होता है, न ही याद किया जा सकता है, सिवाय इरादतन ऐसा करने के (जैसे तब, जब हम किसी कविता को कण्ठस्थ करते हैं)।

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

- जिस पन्ने पर मैं टाइप करती हूँ वह कोरा है, और टाइप करने पर नए वाक्य, पुराने वाक्यों को नहीं बदल देते (शुक्र है!)। इसके विपरीत मानव स्मृति मौजूदा व्यवस्थित सूचना में नई सूचना को समाविष्ट करते हुए काम करती है। और नई सूचना पुरानी को रूपान्तरित करती है: अगर मैं दक्षिण भारत के पक्षियों के बारे में कुछ पढ़ती हूँ तो वह उन पक्षियों के विषय में मेरे मौजूदा ज्ञान को बदल देती है। कुछ भी शब्दशः दर्ज नहीं होता; कुछ भी अपरिवर्तित नहीं रहता।
- मैं जिस फाइल में टाइप करती हूँ वह किसी फोल्डर में सुरक्षित होती है, जो किसी दूसरे फोल्डर में और वह भी किसी अन्य फोल्डर में होता है... और यह क्रम चलता जाता है। तो उस फाइल तक पहुँचने के लिए आपको एक विशेष क्रम में फोल्डरों की एक ढ़ंखला खोलनी पड़ती है, और यह क्रम तयशुदा होता है। इस फाइल के अन्दर भी सूचना रेखीय रूप (linear) में संग्रहित होती है, अर्थात् एक वाक्य के बाद दूसरा आता है। इसके विपरीत इन्सानी याददाश्त अद्भुत रूप से पेचीदा और सूक्ष्म तरीकों से व्यवस्थित होती है – दरअसल, सन्दर्भ के अनुसार विभिन्न स्मृतियाँ एक-दूसरे से जुड़ी लगती हैं, अतः वे एक-दूसरे को उभारती हैं। मैं किसी एक याद तक कई रास्तों से पहुँच सकती हूँ।

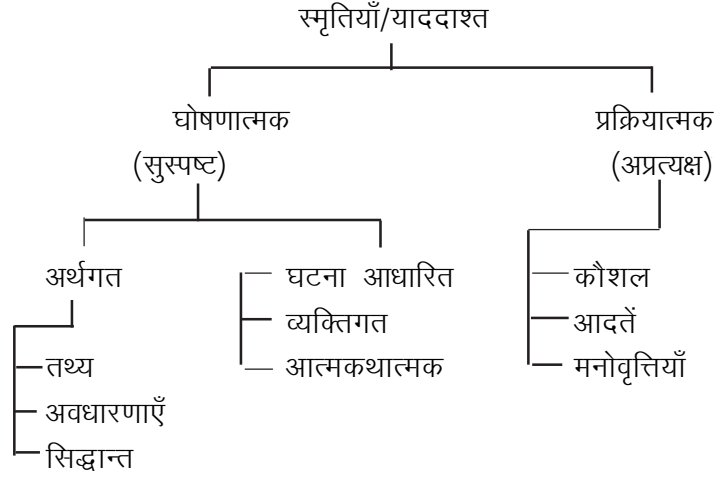
कई बार हम शिक्षक और हमारा स्कूली तंत्र अपने विद्यार्थियों से ऐसी माँगें करते हैं जो स्मृति की इन खासियतों के माफिक नहीं होतीं। जब हम स्मृति का अनुचित उपयोग करते हैं, तब हम उसकी विशाल शक्ति, उसकी असीमित क्षमताओं की उपेक्षा करते हैं। स्मृति ठीक कैसे काम करती है इस प्रश्न पर मनोवैज्ञानिकों ने कड़ी मेहनत की है, और हालाँकि वे अब तक भी इसके सम्पूर्ण विवरण तक पहुँच नहीं पाए हैं, उन्होंने इस विषय में कई रोचक बातें तलाश ली हैं। ऊपर जिन तीन बिन्दुओं का ज़िक्र हुआ है, उनका सम्बन्ध सक्रिय शोध के उन क्षेत्रों से है जो परस्पर करीब से जुड़े हैं: विषयवस्तु या सामग्री (content), कूटबद्ध करना (encoding)/सीखना और व्यवस्थित करना (organising)। ये तीनों ही दीर्घकालिक स्मृति (long term memory) से जुड़े हैं, और हम यह अध्याय इसी के वर्णन से शुरू करते हैं।

दीर्घकालिक स्मृति या लम्बी अवधि की याददाश्त की विषयवस्तु

दीर्घकालिक स्मृति तंत्र की क्षमता असीम लगती है। जैसा इसका नाम सुझाता है, इसकी सामग्री सालों तक, समूचे जीवनकाल तक बनी रहती है। परन्तु स्मृतियाँ हमारे अनुभवों की शाब्दिक 'प्रतिलिपियाँ' नहीं होतीं। शब्दशः रिकॉर्ड करने वाले एक यंत्र और हमारी दीर्घकालिक स्मृति में अन्तर दो स्रोतों से आता है। हम चीज़ों को केवल अनुभव नहीं करते; हम जो कुछ अनुभव करते हैं उसकी व्याख्या भी करते हैं (सो, होता यह है कि कोई भी दो व्यक्ति किसी भी बात को ठीक एक समान तरीके से अनुभव नहीं करते)। साथ ही, हमें किसी अनुभव की हरेक बारीकी याद नहीं रहती; हमारी याददाश्त में कई खाली स्थान होते हैं, जिन्हें हम बाद में समझदार अनुमान लगा के भरते हैं। संक्षेप में, हमें बाहरी घटना कभी याद नहीं रहती। जो याद रहता है, वह है उस घटना की हमारी निजी मानसिक प्रोसेसिंग या प्रसंस्करण। इस प्रक्रिया का नतीजा होता है ऐसी स्मृतियाँ जो हमारे लिए अर्थवान हों, बावजूद इस तथ्य के कि वे हमारे अनुभवों की सटीक प्रतिलिपियाँ नहीं हैं। मैं दीर्घकालिक याददाश्त के इस गुण को खामी नहीं मानती: दरअसल यह गुण हमें अपने रोज़मर्रा के जीवन में कार्यकुशल और प्रभावी बनाता है। किसी अनुभव के सारांश को दर्ज करना हमें अन्य परिस्थितियों व अनुभवों को अधिक गहराई से समझने, बेहतर सामान्यीकरण करने की दिशा में ले जाता है। साथ ही यह हमारे स्मृति तंत्र पर बोझ भी कम डालता है। बेशक, इससे विद्यार्थियों को उन स्कूली परिस्थितियों से निपटने में मदद नहीं मिल पाती जहाँ माँग ही ढेरों चीज़ों को रटने की रहती है!

दीर्घकालिक स्मृतियाँ दो प्रकार की होती हैं – एक तो वे जिनके बारे में आप बात कर सकते हैं, सुस्पष्ट या **घोषणात्मक** (declarative) और दूसरी वे जो केवल कार्यकलाप/कर्म व आचरण से अभिव्यक्त की जा सकती हैं, यानी अप्रत्यक्ष या **प्रक्रियात्मक** (procedural)। अध्याय दो में अवधारणात्मक/प्रक्रियात्मक ज्ञान में जो भेद किया गया था वह सुस्पष्ट/अप्रत्यक्ष और घोषणात्मक/प्रक्रियात्मक के बीच अन्तर के समान है।

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?



इस चित्र में आप देखते हैं कि प्रक्रियात्मक याददाश्त कौशलों, मनोवृत्तियों और आदतों से बनती है। इसका उदाहरण है पढ़ने या दोपहिया साइकिल चलाने की क्षमता। घोषणात्मक स्मृतियाँ वे तमाम तथ्य, अवधारणाएँ और सिद्धान्त हैं जो हमारे पास दर्ज हैं, साथ ही घटनाओं की व्यक्तिगत स्मृतियाँ भी हैं। इसका एक उदाहरण मुगल शासकों की सूची हो सकती है, या फिर भारत-पाक विभाजन के कारण, या पहली कक्षा के अपने घनिष्ठ मित्र का नाम। इन दो प्रकार की स्मृतियों में अन्तर करना उपयोगी होने के साथ सही भी है, क्योंकि दरअसल उनको मस्तिष्क के अलग-अलग भाग प्रोसेस करते हैं। यह बात हम उन रोगियों के लक्षणों द्वारा जानते हैं जिनके मस्तिष्क को क्षति पहुँची हो। आपको अध्याय एक का वह रोगी याद होगा जिसके हिप्पोकैम्पस क्षेत्र में चोट लगी थी। वह नई सुस्पष्ट स्मृतियाँ नहीं बना पाता था, पर नई अप्रत्यक्ष स्मृतियाँ बना सकता था। उसे वह चिकित्सक याद ही नहीं रहता था जिससे वह प्रतिदिन मिलता था और वह उनका अभिवादन ऐसे करता था मानो उनसे पहली बार मिल रहा हो। परन्तु जिस खास आइना-चित्रण (mirror-drawing) का उसे प्रतिदिन अभ्यास करना होता था, उसमें वह क्रमशः बेहतर होता गया। बेशक, उसे यह याद नहीं रहता था कि वह यह अभ्यास पहले कर चुका है, पर इसके बावजूद उसके प्रदर्शन में लगातार सुधार हुआ।

घोषणात्मक स्मृतियाँ भी दो प्रकार की होती हैं। एक वे जिनका रिश्ता विचारों और अवधारणाओं से होता है (अर्थगत स्मृति या semantic memory) और दूसरी वे जिनका ताल्लुक हमारे अपने जीवन की घटनाओं से होता है (घटना या प्रसंग आधारित स्मृति या episodic memory)। यहाँ भी हम जानते हैं कि ये दोनों मस्तिष्क में अलग-अलग स्थित हैं, क्योंकि कुछ रोगियों में खास प्रकार की क्षति से प्रसंगात्मक स्मृति तो लुप्त हो जाती है पर अर्थगत नहीं। ये “मैं कौन हूँ, मैं कहाँ हूँ?” रोगी अपने सामान्य ज्ञान या क्षमताओं को नहीं भूलते, परन्तु वे अपने जीवन की एक भी व्यक्तिगत स्मृति याद नहीं कर पाते। उदाहरण के लिए, एक व्यक्ति को अपनी गाड़ी का मॉडल और निर्माण का साल तो याद था, पर उसे एक भी बार खुद गाड़ी चलाने की याद न थी।

स्कूलों में हमारे द्वारा पढ़ाई गई चीज़ों में से ज़्यादातर हमारे विद्यार्थियों की अर्थगत स्मृति में जुड़ता जाता है – विचार, तथ्य और अवधारणाएँ ही तो स्कूली पाठ्यचर्या को बनाते हैं। कम से कम हम चाहते तो यही हैं कि वे इन्हीं स्मृतियों को हमारे सामने प्रस्तुत करें और कायम रखें। अगर हम किसी विद्यार्थी से कहें कि वह पायथागोरस के प्रमेय को समझाए, तो हम यह नहीं जानना चाहते कि उसने किस दिन यह सीखा, या उस दिन कक्षा से पहले उसने क्या खाया था। हम चाहते हैं कि वह सिर्फ उस प्रमेय को बताए।

मैंने कहा था कि हमारा अध्यापन अर्थगत स्मृतियों में ‘जोड़ता’ है, पर इस प्रक्रिया की जो जटिलता है ‘जोड़ना’ शब्द दरअसल उसके साथ खास न्याय नहीं करता। किसी विद्यार्थी का अर्थ-विषयक ज्ञान का आधार अनेक आयामों में बढ़ता है। जैसे-जैसे वह नए तथ्यों व अवधारणाओं से परिचित होता/होती है ज्ञान का **आकार** और उसकी मात्रा बढ़ती जाती है। साथ ही ज्ञान के मौजूदा टुकड़ों के बीच **आपसी जुड़ावों** की संख्या बढ़ती है, और इन आपसी जुड़ावों की **जटिलता** भी बढ़ती है। ज्ञान के विभिन्न अंशों के बीच **सुसंगतता** और विद्यार्थी के अर्थगत ज्ञान में **अमूर्तिकरण के स्तर** में इज़ाफा होता है। पढ़ाते समय क्या हम इन बातों को अपने ज़ेहन में रखते हैं?

मैं सोचती हूँ कि हमारी शिक्षा प्रणाली इनमें से पहली बात पर तो अच्छी तरह से ध्यान देती है – हमें स्मृति में और-और ज्ञान के टुकड़े जोड़ने में कोई हिचक नहीं होती। परन्तु स्मृति के अधिक रोचक अर्थगत पक्षों में अधिकतम

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

इजाफा करने के लिए शिक्षकों के रूप में हमें विशेष प्रयास करने पड़ सकते हैं। हमें ज्ञान के टुकड़ों को जोड़ने में अपने विद्यार्थियों की सहायता करनी होगी, उनके समक्ष उन असंगतियों को रखना होगा जिनका उन्हें समाधान करना पड़े और एक अधिक जटिल एवं अमूर्त ज्ञान आधार रचने में उनकी मदद करनी होगी। यह काम पाठ्यपुस्तकें अकेले नहीं कर सकतीं। यहाँ शिक्षक की जगह कोई नहीं ले सकता। जब आप अपने विद्यार्थियों के सीखने के अलग-अलग तरीकों के बारे में सोचेंगे तो आप स्वतः ही अपने पढ़ाने की शैली में भी समायोजन करेंगे।

आकार की बात करें तो एक औसत वयस्क की अर्थगत स्मृति कितनी होती है? लग सकता है कि इस प्रश्न का उत्तर देना असम्भव है, पर लोगों ने फिर भी ऐसी कोशिश तो की ही है। मिशेलिन ची, जिनसे आप सीखने सम्बन्धी अध्याय में परिचित हो चुके हैं, का सन्तुलित अनुमान है कि हम में से प्रत्येक की स्मृति में कम से कम दस लाख से अधिक ज्ञान के अंश होते हैं। और यह कहने की ज़रूरत भी नहीं है (खासकर अगर आप इस किताब के पहले दो अध्याय पढ़ चुके हैं तो) कि ये सभी दस लाख से भी अधिक ज्ञान अंश आपस में जुड़े हुए हैं। वे किस प्रकार जुड़े हैं, यह सवाल व्यवस्था का है। अगले भाग में हम इसी को देखेंगे।

दीर्घकालिक स्मृतियाँ किस प्रकार व्यवस्थित होती हैं

किसी भण्डारण व्यवस्था में सूचना जिस तरह व्यवस्थित की गई हो, उसी से यह भी तय होगा कि उसे किस तरह वापस निकाला जा सकेगा। अर्थात् वह कितनी उपयोगी सिद्ध होगी। शिक्षकों के रूप में हम चाहते हैं कि जो कुछ हम अपने विद्यार्थियों को पढ़ाएँ-सिखाएँ वह उनको उपयोगी रूप में उपलब्ध हो, यानी जब भी ज़रूरत पड़े वह 'उनके दिमाग में आ जाए' (इस उम्मीद के साथ कि वार्षिक परीक्षा के बाद भी यह व्यवस्था बनी रहे!)। अगर कोई विद्यार्थी घटाना सीख ले, तो शिक्षक की उम्मीद रहती है कि वह नीचे दी गई सभी परिस्थितियों में घटा सके:

- $456-345 = ?$
- $345 + n = 456$

- 456 और 345 में कितना अन्तर है?
- श्रीमान जय के पास 456 रुपए हैं और उनकी पत्नी के पास 345 रुपए। श्रीमान जय के पास अपनी पत्नी से कितने रुपए अधिक हैं?

आदि।

ऊपर दिया गया प्रत्येक सवाल विद्यार्थी को दीर्घकालिक स्मृति में से उस ज्ञान को निकालने के लिए उकसाता है कि घटाया कैसे जाता है। जब हम घटाना सिखाते हैं तो हमें निश्चित रूप से *कैसे* के साथ-साथ *कब* उसका उपयोग किया जाए, और *किन* संख्याओं पर किया जाए, भी सिखाना होता ही है। क्योंकि अगर *कब* या *कौन-सी संख्या* का ज्ञान न हो, या वह ज्ञान ऐसे भण्डारित हो कि ज़रूरत पड़ने पर उसे निकाला ही न जा सके, तो *कैसे* घटाना चाहिए का ज्ञान भी निरर्थक हो जाता है!

यह विश्लेषण किसी भी विषय-क्षेत्र में, किसी भी प्रकार के सीखने पर लागू होता है। जब कोई बिन्दु या विषय ऐसे सिखाया जाता है कि विद्यार्थी जो पहले से जानती हो या जिनसे दुनिया में उसका सामना होने वाला हो, उनसे कई तरीकों से जोड़ते हुए सिखाया जाए, तो सूचना को फिर से निकालने के भी कई रास्ते बनते हैं – कई सुराग जो याद करना आसान बना दें।

तो मस्तिष्क में स्मृतियाँ किस प्रकार व्यवस्थित होती हैं? यह बात इतनी सरल नहीं होती कि मानो एक बड़ी-सी किताब हो जिसमें हमने शुरू से अन्त तक जो कुछ अनुभव किया हो वह लिखा हुआ हो। कुछ विद्वानों ने स्मृति की तुलना हज़ारों किताबों वाले पुस्तकालय से की है, जहाँ सब कुछ एक उपयोगी वर्गीकरण प्रणाली के अनुसार संग्रहित हो, ताकि ज़रूरत पड़ने पर सूचना तेज़ी से निकाली जा सके। पर यह चित्र भी कुछ अधिक सरल-सा है। पुस्तकालय में किताबें विभिन्न विषयों के अनुसार और उनके अन्तर्गत लेखकों के वर्णानुक्रम के हिसाब से वर्गीकृत होती हैं। इसलिए, अगर आपको किपलिंग की किताब '*जंगल बुक*' चाहिए तो आप पहले कथा-साहित्य वाले भाग में जाते हैं और तब 'के' अक्षर में ढूँढते हैं। परन्तु अगर आप से कहा जाता है कि "मोगली वाली किताब ढूँढो" और आपके पास दूसरी कोई

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

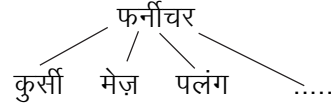
सूचना नहीं होती तो आपको शब्दशः पुस्तकालय की एक-एक किताब देखनी होगी, है कि नहीं? ऐसा इसलिए करना होगा क्योंकि पुस्तकालयों की किताबें मुख्य चरित्रों के नाम से व्यवस्थित नहीं की जातीं।



क्या तुम्हारे पास शेखरन के बारे में एक किताब है?

परन्तु लगता यह है कि मानव स्मृति हर सम्भव तरीके से व्यवस्थित होती है। अगर आपने *जंगल बुक* पढ़ी हो तो सम्भवतः आप इन सभी सवालों के जवाब फटाफट दे सकते हैं: “किपलिंग की एक लोकप्रिय किताब का नाम बताएँ, जिस पर फिल्म बन चुकी है”, “मोगली की कहानी का शीर्षक बताएँ”, “बघीरा पर लिखी गई किताब का नाम बताएँ”, आदि-इत्यादि। लगता यह है कि पुस्तकों की हमारी याददाश्त हर सम्भव तरह से व्यवस्थित होती है, क्योंकि हम उनकी सूचना को बिना चूके और तेज़ी से निकाल लेते हैं (मानो आलों में रखी किताबों में से उसे निकाल रहे हों), फिर चाहे हमसे कैसा भी सवाल क्यों न पूछा जाए। यही बात हमारी व्यक्तिगत स्मृतियों के लिए भी सच है: “जब तुम्हें बड़ी माता निकली थी तब तुमने कौन-सी किताब पढ़ी थी?” का त्वरित जवाब भी, “*जंगल बुक*” हो सकता है।

स्मृति व्यवस्था को लेकर वर्तमान में कुछ लोकप्रिय स्पष्टीकरण हैं, जिनमें से दो का संक्षिप्त वर्णन यहाँ करूँगी। पहला स्पष्टीकरण अर्थगत संजाल सिद्धान्त (semantic network theory) है। अवधारणाएँ (जैसे, कुर्सी या खरगोश या आनन्द) एक-दूसरे से सम्बन्धों से जुड़े होते हैं और ये जुड़ाव कई तरह के हो सकते हैं। कुछ जुड़ाव एक ही समूह के उपसमूह होने के नाते या उपसमूह पदानुक्रम (subset hierarchy) के होते हैं, तो कुछ अन्य कारण-प्रभाव के, तो दूसरे पहले और बाद में वाले सम्बन्ध होते हैं (नीचे दिया गया चित्र देखें)।

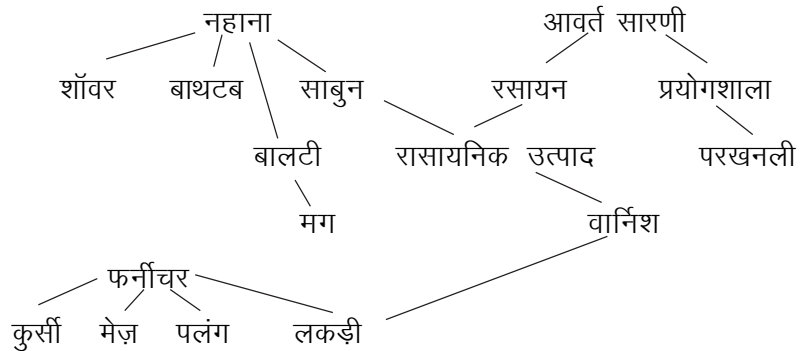


उपसमूह पदानुक्रम

बैक्टीरियाई संक्रमण के कारण बुखार के कारण कॅपकॅपी

कारण और प्रभाव

जो अवधारणाएँ एक-दूसरे से अधिक घनिष्ठता से जुड़ी हों, वे एक विषय-क्षेत्र (domain) बनाती हैं और इन क्षेत्रों के उदाहरण विविध हो सकते हैं – ‘नहाने’ से लेकर ‘रसायनशास्त्र’ और ‘फर्नीचर’ तक। इन विषय-क्षेत्रों में कई साझा अवधारणाएँ होती हैं, जैसे नहाने का टब, साबुन और वार्निश (नीचे दिया चित्र देखें)। इस गड़बड़झाले को ‘उलझे हुए पदानुक्रम’ (tangled hierarchy) कहा गया है, जो मुझे स्मृति का बहुत खूबसूरत वर्णन लगता है।

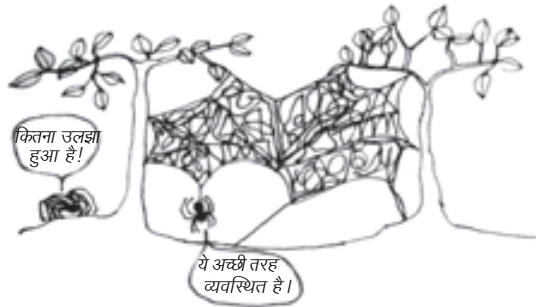


स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

एक दूसरे सिद्धान्त के अनुसार घोषणात्मक ज्ञान को अनुभव के बार-बार दोहराए जाने वाले पैटर्नों में देखा जा सकता है। ये उन आलेखों, योजनाओं, नक्शों या व्याख्या के रूप में भण्डारित होते हैं जो नए अनुभवों की हमारी व्याख्या का मार्गदर्शन करते हैं – ये ही पियाजे की स्कीमाएँ (schemas) हैं। स्कीमाएँ अमूर्त होती हैं क्योंकि वे कई भिन्न अनुभवों में निहित पैटर्नों का प्रतिनिधित्व करती हैं। अगर हमारे वातावरण में मौजूद किसी चीज़ से कोई स्कीमा सक्रिय हो जाती है [उदाहरण के लिए, मेरी 'भारतीय शिक्षा' सम्बन्धी स्कीमा राष्ट्रीय शैक्षिक शोध एवं प्रशिक्षण परिषद (NCERT) के ज़िक्र से सक्रिय हो जाती है], तो समूची स्कीमा एक ही पुलिन्दे (पैकेज) के रूप में स्मृति से उभरकर सामने आ जाती है। और तब इस नए अनुभव की व्याख्या भी इसी स्कीमा के सन्दर्भ में की जाती है।

हम इनमें से किसी भी सिद्धान्त को स्वीकारते हों, यह तो साफ है कि हमारे पढ़ाने के तरीके से विविध प्रकार के जुड़ावों और अन्तर्सम्बन्धों को प्रोत्साहन मिलना ही चाहिए। अगर याददाश्त की कुदरती फितरत ही व्यवस्थित होना है, तो हमें इस गुण का उपयोग विद्यार्थियों के हित में करना चाहिए। जहाँ भी उपयुक्त हो हमें:

- पदानुक्रमों को प्रदर्शित करना चाहिए (जैसे, विभिन्न वर्गीकरण और नामकरण);
- सह-सम्बन्धों को रेखांकित करना चाहिए (विभिन्न परिघटनाओं में);
- कार्य-कारण सम्बन्धों को तलाशना चाहिए;
- केन्द्रीय सिद्धान्तों और उनके उदाहरणों में अन्तर स्पष्ट करना चाहिए (उदाहरण के लिए, सिद्धान्तों या नियमों में);
- रूपकों का उपयोग करना चाहिए (विभिन्न क्षेत्रों व एक ही क्षेत्र में)।



कामकाजी याददाश्त

सभी दीर्घकालिक स्मृतियाँ *सम्भाव्य रूप* से हमें तब उपलब्ध होती हैं जब हमें उनकी ज़रूरत पड़े (या फिर नहीं उपलब्ध होती हैं और हमें परेशान करती हैं, जैसा कभी न कभी हम सबके साथ हो चुका होगा!)। आप यह भी मानेंगे कि समस्त दीर्घकालिक स्मृतियाँ हर समय आपकी चेतना में नहीं रहतीं। यह कुछ ऐसा होगा मानो हम एक विशाल पुस्तकालय की हरेक किताब का प्रत्येक शब्द एक ही साथ पढ़ रहे हों, जो असम्भव है। सो जब आप किसी स्मृति के प्रति सचेत होते हैं, जब आप उसके बारे में सोचते हैं, आपके ज्ञान का वह हिस्सा उभरकर सामने आ जाता है। जिस 'स्थान' पर यह घटता है वह एक दूसरी स्मृति प्रणाली है, जो 'कामकाजी याददाश्त' कहलाती है।¹ आप इस प्रकार की स्मृति की तुलना अपनी मेज़ पर काम करने से कर सकते हैं। मेज़ पर दीर्घकालिक स्मृति की कुछ सूचना है और साथ ही आपकी इन्द्रियों से आने वाली सूचना भी है, नई प्राप्त हो रही सूचना। आप अपनी मेज़ पर जो कुछ रखा है उस पर काम कर रहे हैं; पर चूँकि वह काफी छोटी है, आप किसी एक समय में थोड़ी-सी सूचना पर ही ध्यान दे पाते हैं। ऐसे में अगर कुछ नया आ जाता है – दीर्घकालिक स्मृति से उभरा कोई नया विचार, या बाहर से आई कोई नई ध्वनि – तो आपका ध्यान टूट जाता है, क्योंकि यह नई सूचना आपकी मेज़ को ढक देती है और पुरानी सामग्री नीचे गिर जाती है। सामग्री को मेज़ पर बनाए रखने का एकमात्र तरीका है उस पर काम जारी रखना, उस पर सोचते जाना, या उसका अभ्यास करते जाना। (इस अर्थ में कामकाजी याददाश्त निश्चित रूप से एक मेज़ की तरह

1. कामकाजी याददाश्त का हिप्पोकैम्पस से सबसे करीबी सम्बन्ध है। अध्याय एक में आपका परिचय मस्तिष्क की इस नन्ही-सी संरचना से हुआ था। आपको याद होगा (आपके अपने हिप्पोकैम्पस के प्रयासों के फलस्वरूप!) कि दिमाग का यह हिस्सा ही सभी घोषणात्मक या सुस्पष्ट यादों को पहले-पहल दर्ज करने की ज़िम्मेदारी निभाता है। हमारे जीवनकाल के दौरान हमारे तमाम अनुभवों और सीखे गए को हिप्पोकैम्पस सावधानी से दर्ज करता है और उचित समय बाद स्मृतियों को नववल्कुट (neocortex) के विभिन्न हिस्सों में भण्डारित कर देता है। यहाँ ये स्मृतियाँ लम्बे समय तक संचित रहती हैं, और अन्ततः हिप्पोकैम्पस से 'मिट्टा' दी जाती हैं।

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

नहीं है। मेरी मेज़ पर तमाम ऐसी चीज़ें हैं जो महीनों से वहाँ रखी हुई हैं, और मैंने उन पर कोई काम नहीं किया है।) यों कामकाजी याददाश्त प्रणाली सीमित क्षमता व अवधि की होती है। सीमित इस अर्थ में कि दीर्घकालिक याददाश्त के विपरीत, यह उस वक्त फिसलकर खो जाती है जब आप उस पर ध्यान देना बन्द कर देते हैं। परन्तु यही वह स्थान भी है जहाँ नया सीखना घटता है।

कामकाजी याददाश्त की कल्पना एक ऐसी गतिमान जगह के रूप में करना बढ़िया होगा जिसके दो भाग भण्डारण और प्रसंस्करण या प्रोसेसिंग हों। अगर आप अपनी मेज़ पर रखे काम को व्यवस्थित करके निपटाने में कुशल हैं तो आप उस पर अधिक सामग्री रख सकते हैं। उदाहरण के लिए, अगर आप कागज़ों की ढेरियों में से एक को बिलों की ढेरी, दूसरी को सूचियों की और तीसरी को पत्रों की ढेरी के रूप में रखें तो आप ज्यादा आसानी और कुशलता से अधिक सामग्री के साथ काम कर सकते हैं। काफी कुछ इसी तर्ज़ पर, जब कामकाजी याददाश्त में सूचनाएँ व्यवस्थित होती हैं तब अधिक मात्रा में सूचनाएँ भण्डारित भी की जा सकती हैं। यह व्यवस्था दीर्घकालिक स्मृति में उपलब्ध सूचनाओं पर निर्भर करती है। एक सरल-सा उदाहरण इस बात को स्पष्ट कर देगा। अगर आप आठ क्रम रहित (random) अंकों की सूची सुनें (जैसे कोई अपरिचित फोन नम्बर) और उसे तत्काल लिख न सकें, तो उसे आपको बार-बार दोहराकर (अभ्यास द्वारा) अपनी कामकाजी स्मृति में कायम रखना पड़ता है। यह आठ अंकों वाली संख्या आपकी कामकाजी स्मृति की हदों पर दबाव डालती है और अंक जितने अधिक हों उन्हें याद रखना उतना ही असम्भव नहीं, तो कम से कम कठिन होता जाता है। आपने इसका अनुभव तब किया होगा जब आप कोई नया मोबाइल नम्बर याद रखने की कोशिश कर रहे हों। परन्तु अगर इस नम्बर के पहले पाँच अंक आपकी सहेली के मोबाइल नम्बर के समान हों, तो आप दस अंकों के नए फोन नम्बर को आसानी से कामकाजी स्मृति में रख सकेंगे। पहले पाँच अंक एक 'खण्ड' बन जाएँगे और यों एक अकेली इकाई। किसी भी प्रकार का व्यवस्थापन कामकाजी स्मृति की क्षमता बढ़ाने में मददगार होता है। अतः छह असम्बद्ध अक्षरों की लड़ी को याद रखना उतना ही आसान हो जाता है जितना किसी

छह असम्बद्ध शब्दों की लड़ी को याद रखना।

इस प्रकार, कामकाजी याददाश्त की क्षमता, प्रक्रिया और भण्डारण, दोनों से तय होती है। इसको किसी ऐसे कार्य द्वारा मापा जा सकता है जिसमें आपको कुछ सूचनाएँ भी याद रखनी पड़ती हों और साथ ही साथ कोई मानसिक काम भी करना पड़ता हो। इसका एक अच्छा उदाहरण है **वाक्य विस्तार**

मेरा नम्बर? ये याद करना आसान है। 9876543210!



कार्य (sentence span task), जहाँ आप वाक्यों की एक सूची को सुनते हैं, यह फैसला करते हैं कि प्रत्येक सही है या गलत; और ज़ंखला के समाप्त होने पर आपको प्रत्येक वाक्य का आखिरी शब्द याद भी रखना पड़ता है। जैसे-जैसे ज़ंखला में वाक्यों की संख्या बढ़ती जाती है, स्वाभाविक रूप से, अन्तिम शब्द याद रखना मुश्किल लगने लगता है। जिस बिन्दु पर आप गलतियाँ करने लगें, आप अपनी कामकाजी स्मृति की क्षमता की हद तक पहुँच चुके होते हैं।

कामकाजी याददाश्त और सीखने-सिखाने की प्रक्रिया

ज़ाहिर है कि शिक्षकों के रूप में हमारे लिए दीर्घकालिक स्मृति बेहद महत्वपूर्ण है। अतः स्वाभाविक है कि हमारी यह जानने में रुचि हो कि दीर्घकालिक सूचना किस प्रकार व्यवस्थित की जाती है, उसे कैसे निकाला जाता है, और भूलना कैसे होता है। परन्तु कामकाजी स्मृति प्रणाली भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। अगर यह स्मृति इतनी छोटी है और केवल कुछ ही सेकंडों तक कायम रहती है, तो फिर यह इतनी महत्वपूर्ण भला क्यों है? इसके कम से कम दो अच्छे कारण हैं: एक का रिश्ता कामकाजी याददाश्त की कुशलता में व्यक्तिगत अन्तरों से है, और दूसरे का सम्बन्ध स्वचालितता (automaticity) के लाभों से।

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, जो कुछ भी हम सीखते हैं उसे कामकाजी स्मृति प्रणाली से गुजरना पड़ता है। सीखने के प्रत्येक मौके पर, प्रस्तुत की जा रही सूचना और प्रासंगिक पूर्व ज्ञान, दोनों को ही, कामकाजी स्मृति में मौजूद होना पड़ता है। हमें इन दोनों ही को संचालित करना पड़ता है, ताकि आखिरकार नया ज्ञान भी दीर्घकालिक स्मृति में जुड़ सके। परन्तु अगर किसी बच्चे की कामकाजी स्मृति की क्षमता कम हो, तो यह पूरी प्रक्रिया ही क्षीण हो जाएगी। ऐसे में मौजूदा ज्ञान से नए ज्ञान के जुड़ाव कम होंगे, अतः कम ही आत्मसात किया जा सकेगा, और इसलिए अगली बार पुनः याद करने के लिए भी कम ही उपलब्ध होगा। इससे एक समय के बाद सीखना बाधित होगा। इस प्रकार कामकाजी स्मृति प्रणाली सम्भावित रूप से सीखने में अवरोध पैदा कर सकती है। यह बात तार्किक तो लगती है, पर क्या वास्तव में ऐसा होता है?

इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि ऐसा दरअसल होता है। किसी भी एक उम्र के अलग-अलग विद्यार्थियों की कामकाजी स्मृति की क्षमता में भारी अन्तर होता है, और यह अन्तर स्कूल में उनके अकादमिक कार्य प्रदर्शन से सम्बन्ध रखता है। जिन बच्चों की कामकाजी स्मृति क्षमता कमतर होती है उन्हें स्कूली कार्य करने में अधिक कठिनाई होती है। सूज़न गैदरकोल और उनके सहकर्मियों ने यू.के. में कामकाजी याददाश्त और बच्चों के अकादमिक प्रदर्शन के बीच सम्बन्ध का गहराई से अध्ययन किया है। उन्होंने पाया कि:

- कामकाजी स्मृति की क्षमता आयु के साथ तब तक बढ़ती है, जब तक विद्यार्थी 12-15 साल के हो जाते हैं;
- एक समान आयु के विद्यार्थियों में इसका पढ़ने, लिखने और गणितीय क्षमता के साथ गहरा सह-सम्बन्ध होता है।

गैदरकोल तो यहाँ तक कहती हैं कि जब किसी विद्यार्थी को ऐसी अकादमिक कठिनाइयाँ होती हैं जो भावनात्मक या आचरण सम्बन्धी समस्याओं के कारण न उपजी हों, तो हमेशा यही पाया जाता है कि उसकी कामकाजी याददाश्त की क्षमता उसकी आयु के औसत से काफी कम है। यह सुझाता है कि स्कूली प्रदर्शन में कामकाजी याददाश्त की एक मज़बूत कारणात्मक (causal) भूमिका है।

हाल में गैदरकोल और अन्य लोगों ने पाँच से छह वर्षीय तीन ऐसे बच्चों का विस्तृत अध्ययन किया जिन्हें स्कूली कार्य में परेशानी हो रही थी और जिनकी कामकाजी याददाश्त की क्षमता का माप कम था। इन बच्चों का उनके स्वाभाविक कक्षा वातावरण में सावधानीपूर्वक अवलोकन किया गया। जब भी उन्हें किसी काम में कठिनाई होती, परिस्थिति का विश्लेषण कर यह देखा जाता कि कामकाजी याददाश्त प्रणाली सीखने में किस प्रकार बाधक बन रही है। बच्चों को जो विशिष्ट परेशानियाँ हुईं, उनके उदाहरण हैं:

- शिक्षक से निर्देश पाने के बाद अनुपालन करते समय वे यह भूल जाते कि उन्हें आगे क्या-क्या करना है।
- बोर्ड से सूचना उतारते समय वे अपनी 'जगह' भूल जाते (भूल जाते कि वे कहाँ थे) और बीच के कुछ शब्द उनसे छूट जाते।
- कहानी सुनते समय कुछ हिस्से उनसे इसलिए छूट जाते क्योंकि वे किसी दूसरे हिस्से को समझने में लगे रहते। यों कहानी की उनकी समझ और दीर्घकालिक स्मृति, दोनों ही कमज़ोर रहतीं।

बेशक ये बच्चे काफी छोटे थे, पर आप देख सकते हैं कि समय गुज़रने के साथ सीखने की प्रक्रिया में उनकी स्थिति और-और पिछड़ती जाएगी। गैदरकोल के शोध के आधार पर कामकाजी याददाश्त की कमी वाले विद्यार्थियों के लिए हस्तक्षेप के कुछ सुझाव इकट्ठे किए गए हैं। इन सुझावों का सार-संक्षेप सरल रूप में इस प्रकार रखा जा सकता है:

- बच्चों के कामकाजी स्मृति तंत्र पर अधिक बोझ के लक्षणों के प्रति सचेत रहें (इस भाग ने आपको इन लक्षणों का एक अनुमान तो दिया ही है)।
- दिए गए काम का बच्चों की कामकाजी याददाश्त पर कितना बोझ पड़ेगा, इसका आकलन करें।
- अगर यह बोझ अधिक है तो काम को छोटे टुकड़ों में बाँट दें, सभी निर्देश लिख दें, परिचित सामग्री का उपयोग करें और उन्हें अभ्यास करने या कागज़-पेंसिल का इस्तेमाल करने के लिए प्रोत्साहित करें।

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

स्वचालितता: एक विशेष प्रयोग

कई वयस्कों को एक नई भाषा पढ़ना-लिखना सीखने का अनुभव हुआ होता है। अगर आपको भी हुआ हो तो आप जानते होंगे कि शुरू में प्रत्येक शब्द के हरेक अक्षर का 'कूटानुवाद' (decode) करने में समय और प्रयास दोनों लगते हैं। जब आप हरेक अक्षर का कूटानुवाद करते हैं, उस वक्त आपको पहले पढ़ लिए गए अक्षरों को अपनी कामकाजी याददाश्त में रखना पड़ता है, ताकि उन सबको जोड़कर आप पूरा शब्द पढ़ सकें। अक्सर तीसरे या चौथे अक्षर तक पहुँचते-पहुँचते आपकी प्रोसेस करने की (पचाने की) पूरी क्षमता कूटानुवाद में लग जाती है और पहले के अक्षर कामकाजी याददाश्त से 'बाहर गिर' जाते हैं। अब आपको उस शब्द को पुनः शुरू से देखना पड़ता है। यह सब पढ़ने की प्रक्रिया को धीमा और कष्टदायक बनाता है।

परन्तु अभ्यास से, कूटानुवाद अधिकाधिक स्वचालित बनने लगता है (अर्थात् उसमें सायास लगने वाला प्रयास कम से कमतर होता जाता है)। वर्णमाला के अक्षरों की आपकी दीर्घकालिक स्मृति बेहतर होती है, और अक्षरों के कुछ युगलों की पहचान सुधरती है – यहाँ तक कि कुछ पूरे के पूरे शब्द भी पहचान में आने लगते हैं। यों पढ़ने की प्रक्रिया तेज़ और अधिक प्रयासहीन हो जाती है – कम से कम शब्दों के स्तर पर। अब जब आप अगले शब्द पढ़ रहे हों, तब कामकाजी याददाश्त का उपयोग प्रत्येक वाक्य के पहले पढ़ लिए गए शब्दों को संचित करने के लिए किया जा सकता है, ताकि आप सूचना को पढ़ते समय समेकित करते चलेँ और वाक्य का मतलब निकाल सकें। यहाँ भी अगर आपकी शब्दावली बढ़िया है, अर्थात् आपकी लम्बी अवधि की याददाश्त में कई शब्दों और शब्दों के झुण्डों (वाक्यांशों) के अर्थों का कूट दर्ज है, तो प्रत्येक शब्द/वाक्यांश को तुलनात्मक रूप से काफी तेज़ी से प्रोसेस किया जा सकता है। इस प्रकार कोई लम्बा वाक्य, जिसमें बड़े-बड़े शब्द और कई मुहावरे व उपवाक्य हों, आसानी से समझा जा सकता है, क्योंकि अब हम एक बार में पूरे-पूरे शब्दों या वाक्यांशों को पढ़ रहे होते हैं।

स्वचालितता का तात्पर्य प्रोसेस करने की प्रक्रिया में आई उस सहूलियत से है जो अभ्यास से आती है, जब सूचना के अधिक व बड़े 'खण्डों' को कामकाजी स्मृति में एक निश्चित समय में प्रोसेस किया जा सके। गणित

की कक्षा में स्वचालितता के लाभ साफ नज़र आते हैं।

मान लें विद्यार्थी कोई इबारती सवाल को हल कर रहे हों: जय के पास 45 रुपए हैं, उसकी बहन के पास 35 रुपए हैं। वे दोनों अपना पैसा एक ऐसी योजना में लगाते हैं जो उन्हें 320 रुपए का लाभ देती है। वे इस लाभ को किस तरह बाँटेंगे?

ऐसे सवालों को बोलते हुए मन में हल करना फायदेमन्द रहता है। अगर विद्यार्थी बोलते हुए सोचें तो उन्हें और आपको कामकाजी याददाश्त का वास्तविक एहसास भी हो सकेगा। अगर उन्हें इस सवाल को हल करना आता है, वे 45:35 के अनुपात को छोटा करने की कोशिश कर सकते हैं। उन्हें यह याद रखना होगा कि $5 \times 9 = 45$ होता है, और उन्हें 9 की संख्या दिमाग में रखते हुए 35 को 5 से भाग देना है (जब तक वे जवाब में 7 तक पहुँचें, सम्भव है कि वे 9 को भूल जाएँ)। तब उन्हें इन दोनों को जोड़कर 16 मिलेगा, और उन्हें 320 को 16 से भाग देना होगा। यह करते समय उन्हें याद रखना होगा कि $16 \times 2 = 32$ होता है, और इस दौरान उन्हें 9 और 7 को भी दिमाग में रखना होगा। (जब तक उन्हें उत्तर में 20 मिले वे 9 और/या 7 को भूल सकते हैं) अब उन्हें 9 को 20 से गुणा कर 180 तक पहुँचना होगा (सम्भव है कि इस समय तक 7 भुला जा चुका हो), और तब 7 को 20 से गुणा कर 140 तक (सम्भव है कि इस समय तक 180 को भुला दिया गया हो और शायद, व्यक्ति का नाम भी जो जय था)। इस प्रक्रिया के दौरान उन्हें प्रत्येक चरण में अपनाई गई विधि को भी याद रखना पड़ेगा। कोई विद्यार्थी यह जटिल काम कर भी सकता है, यह दरअसल किसी चमत्कार से कम नहीं लगता!

स्वचालितता इस प्रक्रिया में कहाँ मदद कर सकती है? उत्तर है, प्रत्येक चरण में। अगर विद्यार्थी तत्काल और न्यूनतम सचेतन प्रोसेस करने की प्रक्रिया की मदद से किसी संख्या को 5 से भाग दे सकती है, छोटी संख्याओं को जोड़ सकती है, 16 से भाग दे सकती है और 2 से गुणा कर सकती है, तो यह सम्भावना कम ही है कि वह प्रासंगिक सूचनाओं को बीच में भूल जाए। जब ये संक्रियाएँ बोझिल और सचेतन प्रक्रिया पर आश्रित होती हैं, केवल तब ही कामकाजी याददाश्त पर बोझ बढ़ता है। उदाहरण के

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

लिए, अगर 45 को 9 से भाग देने के लिए 9 का पहाड़ा शुरू से बोलना पड़े या 5 बार 9 को जोड़ना पड़े, तो कामकाजी याददाश्त की मेज़ पर कुछ भी दूसरा करने की जगह नहीं बचेगी और चीज़ें मेज़ से नीचे गिर जाएँगी।²

विद्यार्थियों को संख्याओं सम्बन्धी कुछ तथ्यों को कण्ठस्थ करने या उनसे इतना परिचित हो जाने कि उन्हें बिना प्रयास स्मृति से निकाला जा सके, इसके लिए विद्यार्थियों को प्रोत्साहित करने का एक अच्छा कारण तो यही है। यही बात धारा-प्रवाह पढ़ने, शब्दावली से परिचय और विभिन्न प्रक्रियाओं के उपयोग के विषय में भी सच है। भारत में हम सम्भवतः अभ्यास और रटने की ज़्यादाती से पीड़ित हैं। पर होना यह चाहिए कि याद किए गए तथ्यों तक सीखने को सीमित न रखकर उनका उपयोग एक सुविधा के रूप में किया जाना चाहिए ताकि उच्चतर स्तर पर सोचना अधिक सरलता से सम्भव हो सके। पाठ्यचर्या की रचना इस प्रकार किए जाने की ज़रूरत है ताकि ध्यान मुख्यतः रोचक और चुनौतीपूर्ण सामग्री पर रहे और ड्रिल या अभ्यास केवल आवश्यक सहायता भर हो।

अब तक हमने अपने स्मृति तंत्र के रोचक और बुद्धिमानी भरे उपयोगों की चर्चा की है। परन्तु परीक्षाओं के लिए रटने के मुद्दे को सम्बोधित न करना, बात को अधूरा छोड़ना होगा, क्योंकि यह हमारे स्कूलों की बड़ी भारी सच्चाई है।

“मैं पढ़ाई कर रही हूँ”

जिन दिनों मैं स्कूल में पढ़ती थी, हम ‘पढ़ाई’ (study) शब्द का उपयोग उस खास किस्म के मानसिक काम के लिए करते थे जो ठेठ भारतीय स्कूलों में आगे बढ़ने के लिए ज़रूरी होता है। पलटकर देखने पर मुझे ऐसी तमाम चीज़ें याद आती हैं जिन्हें ‘पढ़ाई’ करना माना जाता था। इनमें अपनी नोट्स या

2. शायद इसीलिए हम अपने विद्यार्थियों को गणित में ‘चरणों को लिखना’ सिखाते हैं। कागज़ पेंसिल कामकाजी याददाश्त के बाह्य सहायक हैं, और अक्सर उससे की जा रही माँग को हल्का करते हैं। परन्तु तथ्यों और प्रक्रियाओं से गहरी जान-पहचान का स्थान कोई दूसरा विकल्प नहीं ले सकता।

पाठ्यपुस्तक को फिर से पढ़ना, सवाल को फिर से करना और उनके उत्तरों को जाँचना शामिल थे। परन्तु 'पढ़ाई' का एक बड़ा हिस्सा रटने का हुआ करता था – परिभाषाएँ, फॉर्मूले, कथन, प्रक्रियाएँ और कुछ मामलों में तो पूरे के पूरे अनुच्छेद। सूचनाओं को रटने के लिए हम कई तरह के गुरु काम में लेते थे जिन्हें तकनीकी रूप से स्मृति सहायक विधियाँ (mnemonics) कहा जाता है। स्मृति-सहायक विधियों पर या



सूचियों और नामों को रटकर याद करने पर पूरी की पूरी किताबें लिखी गई हैं। बेशक, विद्यार्थियों के रूप में हम अपनी ही स्मृति-सहायक विधियाँ ईजाद करते थे, जिनमें से कुछ बेहद कारगर रहती थीं! यह सब परीक्षाओं से जुझकर निकलने में हमारी निश्चित रूप से मदद करता था। पर मैं अब यह पूछना चाहती हूँ कि: परीक्षाओं में सफल होने में मिली मदद के अलावा रटे हुए ज्ञान का क्या लाभ है?

अगर हम प्रक्रियात्मक ज्ञान के स्वचालित बन जाने को 'रटना' कहते हैं, तो मैं इसके लाभों की बात पहले ही कर चुकी हूँ। परन्तु यह दरअसल उतना रटना नहीं है, जितना किसी कौशल का अभ्यास करना है। रटने का मतलब है किसी बात को मौजूदा संचित ज्ञान के साथ न के बराबर सम्बन्ध बनाकर ही दीर्घकालिक स्मृति में भण्डारित कर लेना। ठेठ भारतीय विद्यार्थी जो ढेरों जानकारियाँ 'कण्ठस्थ' करते हैं, उनके कोई खास उद्देश्य नज़र नहीं आते। फिर भी हम उन उद्देश्यों को सूचीबद्ध करने की कोशिश करते हैं। अगर किसी को कविता पाठ करने, विभिन्न देशों की राजधानियों के नाम जानने, इतिहास की महत्वपूर्ण घटनाओं की तिथियों को जानने, या महत्वपूर्ण लोगों के नाम जानने में रुचि है, तो रटना आवश्यक है। इस तरह के ज्ञान को स्कूलों में सीखी जा रही बातों का एक छोटा-सा हिस्सा ही होना चाहिए।

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

तथ्य दरअसल अन्धे रास्ते (dead-end) जैसी वस्तुएँ होती हैं; उन्हें तार्किक रूप से समझना या उनसे आगे और ज्ञान निकाल पाना कठिन है। इसके विपरीत अवधारणाएँ परिष्कृत औज़ार होती हैं जिनकी मदद से दुनिया को समझना या काम करना सम्भव होता है। अगर एक विद्यार्थी किसी अवधारणा को 'रटने' की कोशिश करता है, मतलब वह उसे बिना समझे ही स्मृति में बसाता है, तो उस अवधारणा का उसी क्षेत्र के पहले से मौजूद ज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं बन सकेगा। वह केवल स्कूली परिस्थितियों में ही काम करेगा (यानी गृहकार्य करने या परीक्षा देने में मददगार होगा)। वास्तविक दुनिया की परिस्थितियों में उसकी पुरानी समझ ही काम आएगी, तब भी जब वह गलत हो। और उसकी जो भ्रान्तियाँ हैं, वे कभी सुधारी नहीं जा सकेंगी (इस बारे में हम अध्याय दो में चर्चा कर चुके हैं)।

हमें यह भी पूछना होगा: जो कुछ हमने स्कूल में पढ़ा था, उसमें से हमें सालों बाद कितना याद रहता है? कई लोग यह शिकायत करते हैं कि वे वह सब भूल चुके हैं जो वे किसी समय जानते थे। वे कहते हैं, "स्कूल में मैंने जो कुछ सीखा उसका फायदा ही क्या था, मैं तो वैसे भी वह सब भूल ही चुकी हूँ।" मनोवैज्ञानिक हैरी बाहरिक और उनके साथियों ने दीर्घकालिक स्मृति (पचास सालों के अन्तराल के बाद) पर रोचक शोध किया है। इस शोध में हाई स्कूल में प्राप्त किए गए ज्ञान (उदाहरण के लिए, बीजगणित, रेखागणित, कोई विदेशी भाषा का ज्ञान...) और सहपाठियों के नाम व चेहरों की स्मृति को जाँचा गया था। उन्होंने पाया कि यदि किसी विषय के साथ काम करने की अवधि (exposure) बहुत कम न रही हो, तो उस स्थिति में भूलने की दर आश्चर्यजनक रूप से कम थी। उन्होंने पाया कि बीच-बीच में पुनरावृत्ति किए बिना एक लम्बे अरसे तक कुछ याद रख पाने का सबसे अच्छा तरीका है उस चीज़ को लम्बी अवधि में सीखना और बार-बार सीखना। बाहरिक कहते हैं कि अगर सूचनाओं के साथ काम और उस ज्ञान की पुनरावृत्ति कई वर्षों के दौरान होती है, तो "प्रदर्शन का स्तर बिना आगे अभ्यास के भी आधी शताब्दी तक स्थिर बना रहता है। परन्तु अगर यही अन्तर्वस्तु कम अवधि में प्राप्त की जाती है तो प्रदर्शन तेज़ी से घटता जाता है।" इसका अर्थ हुआ कि अल्पकालिक पाठ्यक्रम, चाहे वे कितने ही सघन क्यों न हों, याददाश्त के लिए उतने लाभदायक नहीं होते, जितने छह माह या वर्ष भर लम्बे पाठ्यक्रम। बेशक अगर आप अल्पकालिक पाठ्यक्रम के बाद सीखे गए ज्ञान का

नियमित उपयोग करते रहें तो उस सामग्री की स्मृति मज़बूत बनी रहेगी।

एक दूसरे अर्थ में, स्कूल में सीखे गए कुछ बेहद ज़रूरी कौशल हम कभी नहीं भूलते, जैसे पढ़ना और लिखना, आकलन, और अर्थग्रहण, समस्या समाधान, विश्लेषण और अनुमान लगाना जैसे उच्च स्तरीय कौशल भी। बशर्ते स्कूल में इस तरह के कौशल सिखाए जा रहे हों। अगर बच्चों को इन कौशलों और इन जैसे अन्य कौशलों का उपयोग करने के लिए प्रोत्साहित नहीं किया जाता, और उन्हें केवल ढेर-सी सामग्री ही परोस दी जाती है, तो यह तय है कि बड़े होने पर जब वे इस सबको भूल ही जाएँगे, तब ऐसा लगेगा कि समय बरबाद ही हुआ है।

निष्कर्ष

हमारे पास एक अद्भुत रूप से पेचीदा याद रखने की मशीन है। उसका अधिक कल्पनाशील उपयोग न करना शर्मनाक होगा। लोग अक्सर एक लोकप्रिय मान्यता को सुनाते रहते हैं कि “हम अपने मस्तिष्क के मात्र 10 प्रतिशत का ही उपयोग करते हैं।” हालाँकि यह कथन मस्तिष्क के पूर्ण आकार या शक्ति के सन्दर्भ में अर्थपूर्ण नहीं लगता, हम इस उक्ति का उपयोग इस ओर संकेत करने के लिए कर सकते हैं कि हम अपनी याददाश्त की व्यवस्था बनाने, सह-सम्बन्ध बनाने व सीखने की शक्ति का कम ही उपयोग करते हैं। इस पर कुछ इस तरह सोच-विचार करें: क्या एक शिक्षक के रूप में मैं अपने विद्यार्थियों की स्वाभाविक स्मृति की क्षमताओं का बेहतर से बेहतर उपयोग कर रही हूँ?

सन्दर्भ और पुस्तक सूची

1. एकरमान, पी.एल., एम.ई. बीयर और एम.ओ. बॉयल, 2005। ‘वर्किंग मेमरी एंड इंटेलिजेंस: द सेम और डिफरेंट कंस्ट्रक्ट्स?’ *साइकॉलॉजिकल बुलेटिन*, खण्ड-131, संख्या-1, 30-60
2. बाहरिक, एच.पी., और एल.के. हॉल, 1991। ‘लाइफटाइम मेंटेनेंस ऑफ हाई स्कूल मैथेमैटिक्स कंटेंट,’ *जर्नल ऑफ एक्सपेरिमेंटल साइकॉलजी: जनरल*, खण्ड-120, संख्या-1, 20-33

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

3. ब्यॉर्क, आर.ए., 1994। 'मेमरी एंड मेटामेमरी कंसिडरेशंस इन द ट्रेनिंग ऑफ ह्यूमन बीइंग्स' जो जे. मेटकाफ और ए. शिमामूरा (सम्पादित), *मैटाकॉग्निशन: नोइंग अबाउट नोइंग* में छपा है। एम.ए.: एम.आई.टी. प्रेस।
4. ची, एम.टी.एच., और एस. ओहल्सन, 2005। 'कॉम्प्लैक्स डेक्लेरेटिव लर्निंग' जो के.जे. होलीओक और आर.जी. मॉरिसन (सम्पादित) *केम्ब्रिज हैंडबुक ऑफ थिंकिंग एंड रीज़निंग* में छपा है। न्यू यॉर्क: केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।
5. गैदरकोल, एस.ई., और टी.पी. एलोवे, *अंडरस्टैंडिंग वर्किंग मेमरी: अ क्लासरूम गाइड*। लेखक से अनुरोध पर उपलब्ध s.e.gathercole@durham.ac.uk अथवा t.p.alloway@durham.ac.uk
6. उपरोक्त, 2008। *वर्किंग मेमरी एंड क्लासरूम लर्निंग*। के. थूरमन और के. फिओरेलो (सम्पादित) *अप्लाइड कॉग्निटिव रिसर्च इन के-3 क्लासरूम्स*। रूटलेज/टेलर एंड फ्रांसिस, न्यू यॉर्क।
7. गैदरकोल, एस.ई. और एस.जे. पिकरिंग, 2000। 'वर्किंग मेमरी डेफिसिट्स इन चिल्ड्रन विद लो अचीवमेंट इन द नैशनल करिक्यूलम एट 7 इयर्स ऑफ एज।' *ब्रिटिश जर्नल ऑफ एज्युकेशनल साइकॉलजी*, 70, 177-94
8. मैकक्लेलैंड, जे.एल., बी.एल. मैकनौटन और आर.सी. ओराइली, 1995। 'व्हाय देयर आर कॉम्प्लिमेंटरी लर्निंग सिस्टम्स इन द हिप्पोकेम्पस एंड नीओकॉर्टेक्स: इनसाइट्स फ्रॉम द सकसेसेज़ एंड फेलियर्स ऑफ कनेक्शनिस्ट मॉडल्स ऑफ लर्निंग मेमरी।' *साइकॉलॉजिकल रिव्यू*, खण्ड-102, संख्या-3, 419-57
9. मूर्स, ए., और जे. डिहूवेर, 2006। 'ऑटोमैटिसिटी: अ थियोरिटिकल एंड कॉन्सैप्युअल एनैलिसिस।' *साइकॉलॉजिकल बुलेटिन*, खण्ड-132, संख्या-2, 297-326
10. नेल्सन, सी.ए., 1995। 'द ऑन्टोजेनी ऑफ ह्यूमन मेमरी: ए कॉग्निटिव न्यूरोसाइंस पर्सपेक्टिव।' *डेवलपमेंटल साइकॉलजी*, खण्ड-31, संख्या-5, 723-38
11. सैक्स, ओ., 1990। 'द मैन हू मिसटुक हिज़ वाइफ फॉर अ हैट एंड अदर क्लिनिकल टेल्स।' *हार्पर पेरेनियल*, न्यू यॉर्क।
12. सीग्लर, आर.एस., 2004। 'टर्निंग मेमरी डेवलपमेंट इंसाइड आउट।' *डेवलपमेंटल रिव्यू*, 24, 469-75
13. सोल्सो, आर.एल., 2001। 'कॉग्निटिव साइकॉलजी।' पीयर्सन एज्युकेशन (सिंगापुर) प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली।

14. स्क्वायर, एल.आर., 1992। 'मेमरी एंड द हिप्पोकैम्पस।' *साइकॉलॉजिकल रिव्यू*, खण्ड-99, संख्या-2, 195-231
15. टाउसे, जे.एन., जी.जे. हिच, और यू. हटन, 1998। 'अ री-इवैल्यूएशन ऑफ वर्किंग मेमरी कपैसिटी इन चिल्ड्रन।' *जर्नल ऑफ मेमरी एंड लैंग्वेज*, 39, 195-217

अध्याय-4

बाल विकास



- क्या बच्चे वयस्कों से बिलकुल अलग तरह से सोचते हैं, या वे केवल वयस्कों से कम कुशल होते हैं और उनसे कम जानते हैं?
- क्या प्रारम्भिक अनुभव बेहद महत्वपूर्ण होते हैं: क्या वे बच्चे के भावी विकास को बना या बिगाड़ सकते हैं? या फिर क्या बच्चे नमनीय (लचीले) होते हैं – बाद के अनुभव शुरुआती अनुभवों की कमी की भरपाई कर सकते हैं?
- क्या आप इस बात से सहमत होंगे कि बच्चे पैदा होते समय कोरी स्लेट होते हैं, और उन अनुभवों से सीखते हैं जो उस स्लेट पर 'लिखे' जाते हैं (दूसरे शब्दों में हम जो हैं वैसा हमें सीखने ने ही बनाया है)? या फिर

आप यह कहना पसन्द करेंगे कि हम अपनी अधिकतर प्रवृत्तियाँ व क्षमताएँ विरासत में पाते हैं, और हमारा वातावरण चाहे जैसा भी क्यों न हो, हम जो कुछ बनेंगे वह शुरू से ही तय होता है?

- अन्ततः, क्या आप मानते हैं कि बच्चे स्वाभाविक रूप से 'अच्छे' होते हैं और समाज की बुराइयों से परिचय उन्हें भ्रष्ट करता है? या फिर आपको लगता है कि बच्चे नैसर्गिक रूप से 'असभ्य' होते हैं और उन्हें नैतिक इन्सान बनाने के लिए समाजीकरण की ज़रूरत पड़ती है?

उपरोक्त चारों प्रश्न ही वह आधार बनाते हैं जिस पर बाल विकास के अधिकांश सिद्धान्त गढ़े गए हैं। इन्हें विभिन्न शीर्षकों, जैसे गुणात्मक/संख्यात्मक परिवर्तन, क्रान्तिक (critical) चरण, प्रकृति/पोषण, और नैतिक विकास के तहत रखा जा सकता है। मनोविज्ञान के कई मशहूर नामों को इन प्रश्नों के सन्दर्भ में उनकी मान्यताओं के आधार पर पहचाना जा सकता है। पियाजे का मानना था कि बच्चों और वयस्कों के सोचने के तरीकों में गुणात्मक अन्तर है। फ्रॉयड मानते थे कि शुरुआती बचपन के अनुभव व्यक्तित्व को स्थाई रूप से प्रभावित करते हैं। स्किनर का मानना था कि किसी के सम्पूर्ण व्यवहार को अनुभवों के कारण आए छोटे, वृद्धिपरक परिवर्तनों के रूप में समझा जा सकता है। रूसो का विश्वास था कि बच्चे 'उदात्त जंगलियों' (noble savages) के रूप में जन्मते हैं और अगर हम उन्हें भ्रष्ट न करें तो वे बड़े होकर एक श्रेष्ठ (perfect) समाज की रचना कर सकते हैं।



आप सोचते होंगे कि ऐसे बुनियादी सवालों के 'सत्य' को हम भला कैसे तलाश सकते हैं। कई वर्षों की छानबीन ने कुछ अस्थायी उत्तर उपलब्ध करवाए

'अभी नहीं, बच्चे, अभी हम बच्चों के विकास के बारे में चर्चा करने में व्यस्त हैं!'

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

हैं। जैसा कि आप अनुमान लगा सकते हैं, ये उत्तर संकेत देते हैं कि अतिवादी स्थितियाँ बहुत ज़्यादा चल नहीं सकतीं। प्रत्येक मामले में हमें पता लग रहा है कि अतिवादी स्थितियाँ न तो पूर्णतः गलत हैं, न ही पूर्णतः सही। दरअसल हमें पता यह चल रहा है कि अगर इन प्रश्नों को अलग तरह से पूछा जाए तो बाल्यावस्था की एक ज़्यादा रोचक छवि उभरती है। यह छवि सूक्ष्म व सशक्त है, श्वेत-श्याम या सीधी-सपाट तो बिलकुल भी नहीं है। यह शिक्षकों व शिक्षाविदों के रूप में हमारे लिए कई महत्वपूर्ण सवाल सुझाती है।

यह अध्याय जन्म से वयस्क होने के दरमियान मस्तिष्क में आने वाले बदलावों के संक्षिप्त वर्णन से शुरू होगा। इसके बाद गुणात्मक परिवर्तन और महत्वपूर्ण चरणों पर चर्चा की जाएगी। यहाँ उठाए गए दो अन्य सवाल, प्रकृति/पोषण और नैतिक विकास, इतने महत्वपूर्ण हैं कि उनके लिए अलग-अलग अध्याय हैं।

मस्तिष्क का विकास

मस्तिष्क में जो सबसे ज़ाहिर बदलाव आता है वह प्रथम वर्ष में उसके वज़न में आई बढत है जो 400 ग्राम से बढकर 850 ग्राम तक हो जाता है। तीन वर्ष की आयु में यह 1,100 ग्राम और वयस्क होने पर 1,450 ग्राम तक हो जाता है। अर्थात्, अगर शरीर के कुल वज़न के साथ तुलना करें तो एक वर्ष के बच्चे के शरीर का कुल वज़न वयस्क के वज़न का लगभग 1/5 भाग होता है जबकि उसके मस्तिष्क का वज़न वयस्क के मस्तिष्क के आधे से ज़्यादा होता है। जन्म के बाद इन्सानों के मस्तिष्क में आने वाली यह तीव्र वृद्धि चिम्पान्ज़ियों और अन्य वानरों से बिलकुल विपरीत है। वानर मस्तिष्क की वृद्धि जन्म के बाद जल्दी ही धीमी हो जाती है। इसका सम्बन्ध इस तथ्य से है कि अन्य वानरों की तुलना में हम जब पैदा होते हैं तो अधिक अपरिपक्व और असहाय होते हैं और परिपक्वता तक पहुँचने में हमें ज़्यादा समय लगता है।

बहरहाल, मस्तिष्क के सभी क्षेत्र बचपन में समान रूप से नहीं बढते। जन्म के समय प्रमस्तिष्क (brain stem) और उसका मध्य भाग (midbrain) अपने आकार और व्यवस्था में काफी विकसित होता है। परन्तु प्रमस्तिष्कीय वल्कुट (cerebral cortex) जितना वयस्क अवस्था में परिपक्व होता है, उससे कहीं

कम परिपक्व होता है। वल्कुट (cortex) का अधिकांश भाग जन्म के समय 'अप्रतिबद्ध' (uncommitted) होता है। अर्थात् इस समय उसका उपयोग सूचना को प्रोसेस करने और आचरण को निर्देशित करने के लिए नहीं किया जाता। उदाहरण के लिए, अग्रपालीय वल्कुट (frontal cortex) और पूर्व-अग्रपालीय वल्कुट (prefrontal cortex), जो नियोजन और चेतना से जुड़े होते हैं और अनुचित आचरण को रोकते हैं, वे किशोरावस्था के अन्त तक ही पूरी तरह परिपक्व हो पाते हैं। इन तथ्यों के कारण ही हम विकासशील मस्तिष्क को 'सुनम्य' या 'लचीला' (plastic) कहते हैं। जन्म के बाद और किशोरावस्था तक भी मस्तिष्क की वृद्धि व उसके विकास में बहुत बढ़ोतरी होती रहती है।

जब हम कहते हैं कि मस्तिष्क बढ़ रहा है, तो इससे हमारा मतलब भला क्या होता है? मस्तिष्क की वृद्धि में दो घटक योगदान देते हैं: **तंत्रिका कोशिकाओं (neurons) में जुड़ावों की संख्या** और **तंत्रिका कोशिकाओं का मज्जीकरण या मायलिन आच्छादन (myelination of neurons)**।

तंत्रिका कोशिकाओं में सन्धियाँ

हमारे पास तकरीबन 15 अरब तंत्रिका कोशिकाएँ होती हैं जो सभी जन्म के समय मौजूद होती हैं। इनमें से प्रत्येक लगभग 1000 अन्य कोशिकाओं से जुड़ सकती है। अर्थात् कोशिका से कोशिका के बीच कुल 150,000,000,000,000 जुड़ाव या सन्धियाँ बनने की सम्भावना होती है। इन्हें सूत्र-युग्म (synapses) कहते हैं। परन्तु सूचना का अर्थ इन सभी जुड़ावों का सक्रिय होना नहीं होता। जुड़ावों की चयनात्मकता (चुनाव की खासियत) ही सार्थक सूचना को कूटबद्ध करती है। उम्र के कुछ खास पड़ावों पर मस्तिष्क के कुछ खास हिस्सों की तंत्रिका कोशिकाओं में परस्पर सन्धियाँ या जुड़ाव बनने का आधिक्य हो जाता है (इसे synaptogenesis कहा जाता है)। कई सालों के दौरान अनुभव के अनुरूप इनमें से अधिकांश सन्धियों की छँटनी हो जाती है या वे नष्ट हो जाती हैं। जो जुड़ाव या सन्धियाँ अनुभव द्वारा सक्रिय होती हैं, वे कायम रहती हैं जबकि शेष क्रमशः समाप्त हो जाती हैं।

मस्तिष्क के इस प्रकार के लचीलेपन या नम्यता (plasticity) को **अनुभव-**

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

प्रत्याशी (experience-expectant) कहा जाता है। यानी बचपन में बिना किसी प्रतिरूप या पैटर्न के (unpatterned) बहुत सारे सूत्र-युग्मों (या तंत्रिका-कोशिकाओं में जुड़ावों) का बनना और उसके बाद अनुभवों द्वारा पुष्टि या अपुष्टि के आधार पर उनकी भारी 'छँटनी' होना। परन्तु इसके साथ ही अनुभव-आश्रित (experience-dependent) नम्यता या लचीलापन भी होता है, जो किसी अनुभव के चलते बनने वाला जुड़ाव है। नए अनुभव के दस-पन्द्रह सेकंड के बाद, मस्तिष्क के जिस क्षेत्र ने उस अनुभव को प्रोसेस किया हो उसमें तंत्रिका-कोशिकाओं के बीच नए सूत्र-युग्म बनते हैं। यहाँ भी जितनी आवश्यकता हो उससे ज्यादा ही जुड़ाव (सूत्र-युग्म) बनते हैं, और समय के साथ बेकार पड़े सूत्र-युग्मों की छँटनी हो जाती है।

वातावरण की अनुक्रिया (response) स्वरूप जो दो प्रकार के मस्तिष्क परिवर्तन होते हैं, उन्हें एक मोटे सादृश्य की मदद से समझा जा सकता है। तैरने का उदाहरण लें। बचपन में आप पानी में छपछपाए होंगे और उस पर तिरना, फ्री-स्टाइल में तैरना या हाथ-पैर से मारना (dog paddling) सीखा होगा (अनुभव प्रत्याशी)। अगर बाद में आपको तैराकी प्रशिक्षिका तैरना सिखाती हैं, तो वे आपका तैरना दो तरह से बदल सकती हैं: आपको तैरने की नई शैलियाँ सिखाके, जैसे बटरफ्लाय स्ट्रोक (अनुभव-आश्रित) और आपकी पहले सीखी गई कुछ तकनीकों को पुख्ता करने और साथ ही कुछ अन्य को छोड़ देने में मदद करके।

तंत्रिका कोशिकाओं का मज्जीकरण या मायलिन आच्छादन (myelination)

मायलिन एक वसा-युक्त ऊतक (fatty tissue) है जो स्नायु तन्तु (nerve fiber) पर एक परत की तरह चढ़कर उसे रोधी बना देता है। इसके कारण उसमें विद्युत आवेग अधिक गति से प्रवाहित हो पाता है। जन्म के समय अधिकांश स्नायु तन्तुओं पर मायलिन का आवरण नहीं होता। मस्तिष्क के विभिन्न भागों में मायलिन आच्छादन या मज्जीकरण की प्रक्रिया क्रमिक व लगातार बढ़ने वाली होती है जिसमें कई वर्ष लगते हैं। इसके कारण वह सम्भव होता है जिसे हम संज्ञानात्मक प्रक्रियाओं का स्वचालित या ऑटोमैटिक बनना कहते हैं – अर्थात् जब कोई हरकत इतनी अभ्यस्त हो जाए कि वह



“माफ करना, मेरा मज्जीकरण अब तक पूरा नहीं हुआ है!”

अचेतन रूप से व बिना प्रयास के की जा सके। जैसे-जैसे बच्चे बड़े होने लगते हैं मज्जीकरण के कारण ज़्यादा से ज़्यादा संज्ञानात्मक प्रक्रियाएँ स्वचालित बनती जाती हैं या प्रयासहीन बन जाती हैं। परन्तु मज्जीकरण का धीमे-धीमे होना दरअसल बढ़ते बच्चे के लिए फायदेमन्द माना जाता है, जैसा आप इस अध्याय में आगे देखेंगे।

अब हम उन चार प्रश्नों में से पहले की ओर मुड़ते हैं: क्या बच्चे वयस्कों से बिलकुल ही अलग तरह से सोचते हैं, या वे सिर्फ वयस्कों से कम कुशल होते हैं और कम जानते हैं?

गुणात्मक परिवर्तन दरअसल संचित संख्यात्मक परिवर्तन है

प्रख्यात स्विस मनोवैज्ञानिक ज्यॉं पियाजे ने हमें एक नायाब वैज्ञानिक तोहफा दिया – बाल विकास का एक युक्तियुक्त सिद्धान्त जो बच्चों के बारे में हमारे कई अवलोकनों का स्पष्टीकरण उपलब्ध करवाता है। परन्तु उनका इससे भी बड़ा तोहफा शायद यह है कि वे मनोवैज्ञानिकों के लिए यह मौका भी छोड़ गए कि वे उनके स्पष्टीकरणों से असहमत हों और अपने वैकल्पिक और

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

युक्तियुक्त वैज्ञानिक सिद्धान्त गढ़ें। पियाजे ने विकास को विभिन्न चरणों की एक कड़ी के रूप में वर्णित किया था जिसका प्रत्येक चरण पिछले से **गुणात्मक** रूप से साफ तौर पर भिन्न हो। चरण माने क्या? अगर हम कई तरह की स्थितियों के बीच बच्चों को गौर से देखें तो पाएँगे कि बच्चों की क्षमताएँ अचानक बदल जाती हैं। और ये अन्तर केवल पहले से मौजूद क्षमताओं में बढ़ोत्तरी या बेहतरी नहीं होता अपितु उनकी क्षमता की प्रकृति पहले से बिलकुल कुछ और हो गई होती है। ऐसा होने को हम चरण-सा विकास कहेंगे।

पियाजे ने विकास के प्रत्येक चरण में बच्चों की संज्ञानात्मक क्षमताओं को कुछ केन्द्रीय अवधारणाओं के सन्दर्भ में बताया, जैसे आत्मकेन्द्रित होना, वस्तु स्थायित्व, संरक्षण आदि। ये अवधारणाएँ बच्चों की तर्कक्षमता को ऐसी क्षमताओं के रूप में प्रस्तुत करती हैं जो वे तब तक कतई कर ही नहीं सकते जब तक वे आगामी चरण में प्रवेश न कर लें। या, दूसरे शब्दों में, एक चरण में बच्ची कुछ खास प्रश्नों का उत्तर हमेशा ही गलत देगी, परन्तु अगले चरण में वह ठीक उन्हीं प्रश्नों का उत्तर हमेशा सही देगी। विकास को 'पहले नहीं कर पाने, फिर कर पाने' के चरणों की ज़ुखला के रूप में वर्णित कर पियाजे का सिद्धान्त कई शैक्षणिक निहितार्थ उत्पन्न करता है, जैसे अवधारणाओं का 'सिखाने योग्य होना' (teachability), सीखने की तैयारी, और एक चरण से दूसरे चरण में जाने को प्रेरित करने के लिए उपयुक्त वातावरण की मौजूदगी।

तो पियाजे के सिद्धान्त में ऐसा क्या है जिस पर सवाल उठाया जा सके? मनोवैज्ञानिकों ने उनके काम के कई पक्षों पर सवाल उठाए हैं। पर मैंने आपके सोच-विचार के लिए उनमें से दो महत्वपूर्ण विचार चुने हैं।

- सम्भवतः चरण जैसे परिवर्तन हमें इसलिए नज़र आते हैं क्योंकि हम बच्चों के आचरण की तुलना समय के जिन फासलों में करते हैं वे काफी लम्बे होते हैं। ऐसे में क्या हम उन सतत चलने वाले परिवर्तनों पर गौर करने से चूक जाते हैं, जो हमेशा होते रहते हैं?

मान लें कि बच्चों की क्षमताओं में लगातार बदलाव होते रहते हैं, एक से

दूसरे दिन में। ये परिवर्तन जानकारियों को प्रोसेस करने की गति, पहले से मौजूद ज्ञान की मात्रा, तर्क करने की नई रणनीतियों को सीखने, और मौजूदा रणनीतियों के उपयोग में कुशलता और सहूलियत से सम्बन्धित हो सकते हैं। इन सभी में बच्ची प्रतिदिन, प्रति सप्ताह, कुछ बेहतर होती जाती है। तो फिर एक लम्बी अवधि के बाद, अर्थात् कुछ सालों बाद, धीमे-धीमे बढ़ने वाले परिवर्तन उसे ऐसे आचरण की दिशा में ले जाएँगे, जो तुलना करने पर कुछ वर्ष पहले के आचरण से बिलकुल अलग नज़र आएगा। छोटे परिवर्तनों की लम्बी ज़ुखला 'अचानक' बच्ची को कुछ ऐसा करने में सक्षम बना देगी जो वह पहले कर ही नहीं पाती थी। या यह भी हो सकता है कि चूँकि अब वह उस काम को काफी अच्छी तरह करने लगी है, अतः किसी दिन वयस्क अचानक उस अन्तर को देख लेते हैं!

- जब बच्चे सवालों के 'सही' उत्तर नहीं देते, तो हम मान लेते हैं कि ऐसा इसलिए हो रहा है क्योंकि उन्हें उत्तर मालूम ही नहीं हैं। परन्तु हो यह भी सकता है कि उन्हें दिक्कत दूसरी ही चीज़ों से हो रही हो, जैसे याददाश्त पर बहुत अधिक ज़ोर पड़ रहा हो, या दिए गए संकेत भ्रामक हों, या भाषा की व्याख्या करने में समस्याएँ आ रही हों।

आपके द्वारा पूछे गए प्रश्न या दिए गए कार्य के प्रति बच्चे की अनुक्रिया जितनी उसकी क्षमताओं पर निर्भर होती है उतनी ही इस बात पर भी कि आपने वह सवाल किस तरह पूछा है या दिए गए काम को किस तरह आयोजित किया है। पियाजे की 'आत्मकेन्द्रितता' (egocentricism) की परीक्षा इसका अच्छा उदाहरण है। इस परीक्षा में बच्चे मेज़ पर बने त्रिआयामी पहाड़ों की एक जटिल व्यवस्था को उसके इर्द-गिर्द चलकर देखते हैं। फिर वे एक छोर पर बैठते हैं और उन्हें विभिन्न चित्रों में से उस चित्र को चुनने को कहा जाता है जो दूसरे छोर पर बैठे व्यक्ति को नज़र आएगा। शालापूर्व उम्र के अधिकांश बच्चे इस काम को अच्छी तरह नहीं कर पाते। वे उस चित्र को चुन लेते हैं जो पहाड़ों को उनके दृष्टिकोण से दर्शाता है। पियाजे ने इसे विकास के उस चरण में बच्चों की अनिवार्य आत्मकेन्द्रित प्रकृति का प्रमाण माना। यहाँ आत्मकेन्द्रित होने का तात्पर्य दूसरों के दृष्टिकोण को देख पाने की अक्षमता है।

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?



पर कल्पना करें कि यह काम इस तरीके से सरल बना दिया जाए: किसी वयस्क के ठीक सामने बैठी एक बच्ची के पास एक ऐसा चित्रकार्ड है जिसमें एक तरफ एक घर बना है और दूसरी तरफ एक पेड़। बच्ची उसे ऐसे सीधे पकड़कर बैठे कि उसकी ओर पेड़ हो। क्या उसे यह एहसास होगा कि वयस्क केवल घर देख सकता है, पेड़ नहीं? बेशक, उसे पता है! शालापूर्व उम्र के बच्चे यह काम बड़ी आसानी से कर सकते हैं। यानी वे समझते हैं कि दूसरों को दिखने वाला नज़ारा उन्हें दिखने वाले नज़ारे से अलग हो सकता है। अर्थात् वे पूर्णतः आत्मकेन्द्रित नहीं होते। पियाजे का तीन पहाड़ों वाला काम बच्चों की स्थानिक तार्किकता (spatial reasoning), मानसिक चित्र गढ़ने की क्षमता (mental imagery) और, सम्भवतः स्मृति की भारी माँग करता है। यह सिर्फ उनके आत्मकेन्द्रित चिन्तन की परीक्षा नहीं करता। बच्चे की ये अन्य क्षमताएँ उम्र के साथ धीमे-धीमे बढ़ती जाती हैं। पर हम जो कुछ देखते हैं उसे 'आत्मकेन्द्रितता चालू-आत्मकेन्द्रितता बन्द' किस्म का विकास मानने की भूल करते हैं।

पियाजे के सिद्धान्त और उसकी स्पर्धा में मौजूद अन्य विवरणों की आपस में तुलना करने की कोशिशों से दो तरह के प्रमाण बार-बार प्राप्त हुए: छोटे बच्चे अक्सर बेहद कुशलता से तर्क करते हैं, और बड़े बच्चे (और वयस्क भी) अक्सर अकुशलता से तर्क करते हैं। हम बच्चों को 'किसी भी तरह कर-ही-

नहीं-सकते' से 'हमेशा-कर-सकते हैं' की बजाय 'बिरले-करेंगे' से 'अक्सर-करेंगे' के चरणों में बढ़ते हुए पाते हैं। इन निष्कर्षों की अच्छी व्याख्या पियाजे के सिद्धान्त में नहीं मिलती। इस कारण विकास को समझने के बिलकुल भिन्न तरीके उभरे हैं। ऐसा एक नज़रिया रॉबर्ट सीगलर ने अपनाया। उन्होंने विकास का **सूचना प्रसंस्करण** (information processing) सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। सीगलर और उनके जैसे अन्य विद्वान बच्चे और वयस्क की सोच-विचार की प्रक्रिया में एक आवश्यक निरन्तरता पर बल देते हैं। इसका अर्थ है कि हम बच्चों के संज्ञान (child cognition) को वयस्क संज्ञान (adult cognition) के छोटे संस्करण के रूप में समझ सकते हैं। बाल-सुलभ चिन्तन मस्तिष्क की बेहतर प्रक्रियाओं, 'अधिक ज्ञान' और रोजमर्रा के अनुभव से मिले अभ्यास के कारण वयस्कों जैसे चिन्तन में बदल जाता है।

पर फिर विकसित ठीक क्या होता है? क्या संज्ञानात्मक विकास की प्रक्रिया का वर्णन चरणों के सिवाय किसी अन्य प्रकार से किया भी जा सकता है? बेशक ऐसा करना सम्भव है, और वह भी बहुत भरोसेमन्द तरीके से। जिस प्रकार की क्षमताएँ विकसित होती हैं उनका सार-संक्षेप नीचे दिया जा रहा है।

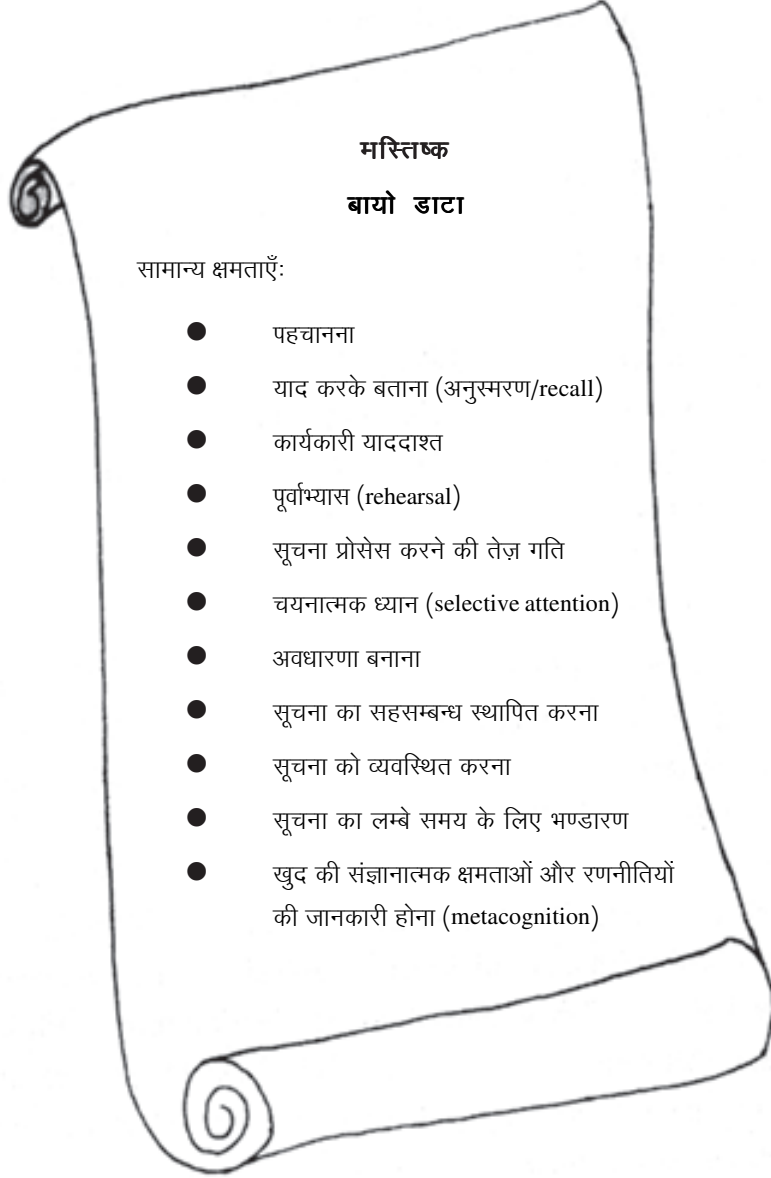
बाल विकास का सतत दृष्टिकोण

मस्तिष्क की कल्पना सूचनाओं को प्रोसेस करने वाली एक मशीन के रूप में करें। यह मशीन कई काम कर सकती है, इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त सूचनाओं और मस्तिष्क में संचित सूचनाओं, दोनों के ही साथ। नीचे के चित्र में इन क्षमताओं की लम्बी सूची है।

इन क्षमताओं का अध्ययन शिशुओं, घुटने चलने वाले नन्हे बच्चों, शालापूर्व उम्र के बच्चों, बड़े बच्चों, किशोरों और वयस्कों में किया गया है। यह शोध दर्शाता है कि इनमें से कई सामान्य क्षमताएँ जीवन में काफी शुरु से ही मौजूद होती हैं और उम्र व अनुभव के साथ बच्चे इन संज्ञानात्मक क्षेत्रों में लगातार और संख्यात्मक रूप से बेहतर होते जाते हैं। आइए, हम हरेक क्षमता को अलग से और विस्तार से देखते हैं।

पहचान की स्मृति शैशव से ही उत्कृष्ट होती है, और **अनुस्मरण** (recall)

स्कूल में आज तमने क्या पूछा?

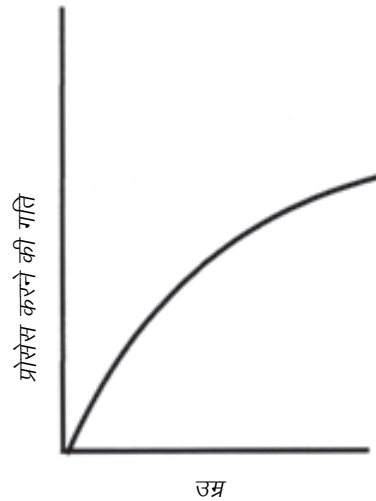


या याद करके बताने की स्मृति बढ़िया होती है (एक अध्ययन में चौदह माह के शिशु चार माह के अन्तराल के बाद भी किसी खास कृत्य को पुनः याद कर पाए थे)। ये उम्र के साथ बेहतर होती जाती है। शालापूर्व उम्र के बच्चों में अक्षरशः, शाब्दिक स्मृति पर बल देने की प्रवृत्ति होती है। वे बड़े बच्चों की

तरह किसी स्थिति का सारांश आसानी से नहीं निकाल पाते। शायद इसलिए क्योंकि ऐसा कर पाने के लिए दुनिया के बेहतर ज्ञान की ज़रूरत होती है, जो उनके पास अब तक मौजूद नहीं होता। अतः उनकी याददाश्त किसी घटना को शब्दशः याद करने (अनुस्मरण) की क्षमता पर निर्भर रहती है। क्योंकि ऐसी स्मृति जैसे भी सारांश स्मृति (gist memory) से अधिक क्षणिक होती है (यह वयस्कों के साथ किए गए कई शोधकार्यों में देखा गया), आश्चर्य नहीं कि छोटे बच्चों की अनुस्मरण स्मृति बड़े बच्चों से अधिक कमज़ोर हो।

कार्यकारी याददाश्त (जहाँ हम वह सब रखते हैं जिसके प्रति हम वर्तमान में सचेत हैं, जहाँ हम आने वाली ऐन्द्रिक सूचना को अपनी दीर्घकालिक स्मृतियों से मिलाकर नया ज्ञान रचते हैं।) उम्र के साथ अनवरत बढ़ती जाती है। बताया जाता है कि वयस्क एक ही समय पर कमोबेश सात प्रतीकों के साथ काम कर पाते हैं – कोई इससे दो कम तो कोई दो ज़्यादा। जबकि पाँच साल के बच्चों में यह क्षमता तकरीबन तीन प्रतीकों की होती है। इस वृद्धि का कारण क्या है? ज़्यादा बड़ा संचय या ज़्यादा कुशल प्रोसेसिंग? यह अब तक साफ-साफ स्थापित नहीं हो पाया है, परन्तु सम्भव है कि इसका कारण कुशल प्रोसेसिंग हो। उदाहरण के लिए, बड़े बच्चे छोटे बच्चों की तुलना में शब्दों या संख्याओं का उच्चारण अधिक तेज़ी से कर पाते हैं। इसलिए वे कार्यकारी याददाश्त में सामग्री को दोहराने का काम (पूर्वाभ्यास) भी तेज़ी से कर लेते हैं। तेज़ी से पूर्वाभ्यास करने का मतलब होता है कि अधिक सामग्री पर काम किया जा सकता है। अतः ऐसा लगने लगता है कि कार्यकारी याददाश्त का आकार बड़ा हो गया है।

उम्र के साथ सूचनाओं को **प्रोसेस करने की गति** में कई गुना



स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

(exponential) वृद्धि होती है (नीचे दी गई आकृति इस वृद्धि के एक ठेठ वक्र को दर्शाती है)। मनोवैज्ञानिक रॉबर्ट केल ने विभिन्न कार्यों को करने के दौरान दिमाग के प्रोसेस करने की गति का अध्ययन किया। ये काम किसी सामान्य क्रिया की प्रतिक्रिया में लगने वाले समय से लेकर मानसिक गणित तक के थे। उन्होंने बताया कि वयस्क एक चार साल के बालक की तुलना में तीन गुना तेज़ी से, आठ साल के बच्चों की तुलना में दोगुना तेज़ी से और ग्यारह साल के बच्चों की तुलना में डेढ़ गुना तेज़ी से प्रतिक्रिया करते हैं। चाहे केल ने कोई भी काम क्यों न दिया हो, ये अनुपात लगातार सच साबित होते गए। यह तथ्य सुझाता है कि सम्भवतः हमारे मस्तिष्क में एक साझा ढाँचागत तंत्र है जो इस तरह की सूचनाओं को प्रोसेस करने का काम करता है और यही उम्र से सम्बन्धित तेज़ प्रदर्शन के लिए ज़िम्मेदार है। हो सकता है कि इसका कारण तंत्रिका तन्तुओं के ऊपर मायलिन की परत चढ़ना हो।

चयनात्मक ध्यान हमारे आसपास हर वक्त मौजूद तमाम उद्दीपकों में से केवल प्रासंगिक उद्दीपकों (stimuli) पर ध्यान देने की हमारी क्षमता है। इस रणनीति का उपयोग भी उम्र के साथ बढ़ता है। उदाहरण के लिए अध्ययन दर्शाते हैं कि जब दो चित्रों की तुलना कर अन्तर बताने को कहा जाए तो आठ वर्षीय बच्चे छोटी उम्र के बच्चों की तुलना में अधिक व्यवस्थित व चयनात्मक रूप से ध्यान दे पाते हैं। किसी सवाल का सही जवाब देने या किसी काम को सही तरह से करने की क्षमता अप्रासंगिक पक्षों से 'ध्यान हटा पाने' और केवल कुछ महत्वपूर्ण पक्षों पर ध्यान केन्द्रित कर पाने पर निर्भर करती है। अगर यह क्षमता उम्र के साथ सुधरती है तो यह लग सकता है कि बच्चे 'अचानक' एक नई तरह की तार्किकता में सक्षम बन गए हैं।

बच्चे शैशवकाल से ही **अवधारणाएँ** गढ़ते हैं। अवधारणा यानी विभिन्न विचारों का ऐसा समूह जो आपस में किसी प्रकार जुड़े हुए हों। तीन माह के शिशु भी रंग और आकार की अमूर्त अवधारणाएँ गढ़ सकते हैं और उनका उपयोग अपनी हरकतों को निर्देशित करने के लिए करते हैं (अगले अध्याय में एक प्रयोग का वर्णन किया गया है जिसमें शिशुओं और लटकने वाले खिलौनों (mobiles) द्वारा यह तथ्य दर्शाया गया था)। प्रारम्भिक अवधारणाएँ गुणों और घटनाओं में सम्भावित जुड़ावों (probabilistic connections) से

बनती हैं। अर्थात् कुछ चीज़ें सामान्यतः साथ-साथ होती हैं: आप पूँछों वाले कुत्तों को अधिक देखते हैं, बनिस्बत केवल कुत्तों या केवल पूँछों को। तो इस तरह साथ दिखने वाली चीज़ों/घटनाओं से एक अवधारणा बन सकती है: कुत्तों की पूँछ होती है। बाद में बच्चे **चारित्रिक** विशेषताओं और **पारिभाषिक** विशेषताओं में भेद कर पाते हैं, और यों परिभाषा आधारित अवधारणाएँ भी बना सकते हैं: *सामान्यतः* कुत्तों की पूँछ होती है, पर उनका चेहरा *हमेशा* ही होता है। मनोवैज्ञानिक फ्रैंक कील छोटे बच्चों में अवधारणा निर्माण का अध्ययन करते हैं। उनका मानना है कि बच्चे जो कुछ भी देखते हैं, उन सबके कारण भी समझना चाहते हैं। कारण सम्बन्धी स्पष्टीकरण उन्हें नन्हे सिद्धान्तों (mini theories) की दिशा में ले जाते हैं। कारण और प्रभाव के ये जुड़ाव बच्चों की प्रारम्भिक अवधारणाएँ गढ़ते हैं। उदाहरण के लिए, एक छोटा बच्चा भी यह महसूस करता है कि नारंगी रंग के पहियों वाली गाड़ी और चौकोर पहियों वाली गाड़ी में एक बुनियादी अन्तर है, फिर चाहे उसने दोनों ही पहले न देखी हों। कील का काम दर्शाता है कि बच्चे 'क्यों' वाले सवालों का जवाब काफी कम उम्र से दे पाते हैं, जिससे पता चलता है कि यह उनकी अवधारणाओं का महत्वपूर्ण हिस्सा है।

बहुत छोटे बच्चों के पास अवधारणाएँ और विचार कम होते हैं और विचारों के बीच जुड़ाव भी कम होते हैं। परन्तु जैसे-जैसे वे विकसित होते हैं, **सह-**



“पर मैडम, यह कार तो चलेगी नहीं!”

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

सम्बन्ध बैठाने और ज्ञान को व्यवस्थित करने में वे अधिक परिष्कृत भी होते जाते हैं। धीरे-धीरे और अधिक अलग-अलग तथ्यों को नई अवधारणाओं द्वारा जोड़ा जा सकता है, उनकी 'व्याख्या' की जा सकती है। यों, समय के साथ बच्चे विविध क्षेत्रों में लम्बी अवधि के ज्ञान की एक अच्छी-खासी मात्रा जमा कर लेते हैं। **सूचना का दीर्घकालिक भण्डारण** केवल जीवन में कभी बाद में (जैसे वार्षिक परीक्षा के समय!) निकालने के लिए नहीं होता है। नए अनुभवों से प्राप्त होने वाली सूचना को व्यवस्थित करने में भी पहले से मौजूद ज्ञान की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। जितना अधिक व्यक्ति जानता है, उतना ही अधिक वह जान सकता है।

हम में से प्रत्येक में अपनी संज्ञानात्मक क्षमताओं का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष, दोनों ही प्रकार का ज्ञान होता है। साथ ही हम उन रणनीतियों को भी जानते हैं जिनका प्रयोग हम किसी स्थिति विशेष में अपने सामने आए काम की माँगों के हिसाब से कर सकें। इसे **अधिसंज्ञानात्मक ज्ञान** (metacognitive knowledge) कहा जाता है। हम अपनी प्रत्येक संज्ञानात्मक प्रक्रिया पर सोच-विचार कर सकते हैं, उसका मूल्यांकन कर सकते हैं: हम पढ़ सकते हैं और अपनी समझ की जाँच कर सकते हैं; कुछ सीख सकते हैं और यह अनुमान भी लगा सकते हैं कि उसका कितना हमें याद रहेगा; लिख सकते हैं और अपने लेखन की गुणवत्ता पर विचार कर सकते हैं। बच्चे इन सभी क्षेत्रों में उम्र के साथ बेहतर होते जाते हैं। तकरीबन दस साल की उम्र तक आते-आते बच्चे यह जान लेते हैं और बता भी सकते हैं कि किसी चीज़ को शब्दशः याद रखने से कहीं अधिक आसान है उसके सार-संक्षेप को याद रखना, कि दोहराने से याद रखने में मदद मिलती है, और यह भी कि याद से बताने की बजाय देखकर पहचानना और बताना ज़्यादा आसान होता है। बड़े बच्चे पढ़ते समय बेहतर अधिसंज्ञानात्मक समझ दर्शाते हैं, क्योंकि वे पाठ के विरोधाभासों को पहचानने में बेहतर होते हैं, पाठ में महत्वपूर्ण क्या है यह पहचान पाते हैं, और उनमें यह सम्भावना अधिक होती है कि पाठ में से जो कुछ समझ न आया हो उसे फिर से पढ़ लें।

संक्षेप में, अब यह स्वीकारा जाने लगा है कि पहले हम जो सोचते थे उससे काफी कम उम्र में बच्चों के पास कई संज्ञानात्मक क्षमताएँ होती हैं।

सम्भवतः वे उन्हें इसलिए दर्शा नहीं पाते क्योंकि सूचनाओं को प्रोसेस करने की गति उनमें धीमी होती है, और शायद शुरुआती सालों में ये क्षमताएँ अधिक कार्यात्मक और अव्यक्त होती हैं (छोटे बच्चे उन पर कम चिन्तन करते हैं और उनको शब्दों में बता भी कम ही पाते हैं)। मस्तिष्क को सूचनाओं को प्रोसेस करने वाले यंत्र के रूप में देखने से हम संज्ञानात्मक कार्यों की पहचान और बचपन में उसके क्रमिक विकास का अध्ययन कर पाते हैं। यह विकास के परम्परागत चरणबद्ध सिद्धान्त का एक प्रभावशाली विकल्प सामने रखता है। इस प्रकार का सिद्धान्त शिक्षकों के लिए भी अधिक उपयोगी है क्योंकि इससे हमें यह समझने में मदद मिलती है कि बच्चों को अलग-अलग उम्र में क्या कठिन लगता है। शायद तब हम एक या दूसरी तरह की माँग कम कर सकते हैं ताकि जटिल परिस्थितियों को अधिक कुशलता के साथ प्रोसेस करने में बच्चों को मदद मिल सके।

ऐसा करने के तरीके आपको खुद ही नज़र आएँगे। मैं बतौर उदाहरण तीन उपाय सुझा रही हूँ।

1. छोटे बच्चे की कार्यकारी याददाश्त पर माँग घटाने के लिए काम को छोटे भागों में बाँटें और निर्देशों को लिख दें। उन्हें प्रोत्साहित करें कि वे चीज़ों को लिखते चलें ताकि उन्हें कार्यकारी याददाश्त में ज़्यादा चीज़ें न रखनी पड़ें। इससे अन्य प्रक्रियाओं के लिए जगह बचेगी।
2. छोटे बच्चों को किसी स्थिति विशेष में किस पर ध्यान देना है और किसकी उपेक्षा करनी है, इसके बारे में दिशानिर्देश दें। कोशिश करें कि सामग्री में से ध्यान बँटाने वाले अप्रासंगिक उद्दीपनों (stimuli) को हटा दिया जाए।
3. सब तरह की नई सामग्री को किसी ऐसी चीज़ से जोड़ें जिसे बच्चा पहले से जानता हो। साथ ही, जहाँ तक सम्भव हो नई चीज़ें सिखाने के लिए परिचित सन्दर्भों का उपयोग करें।

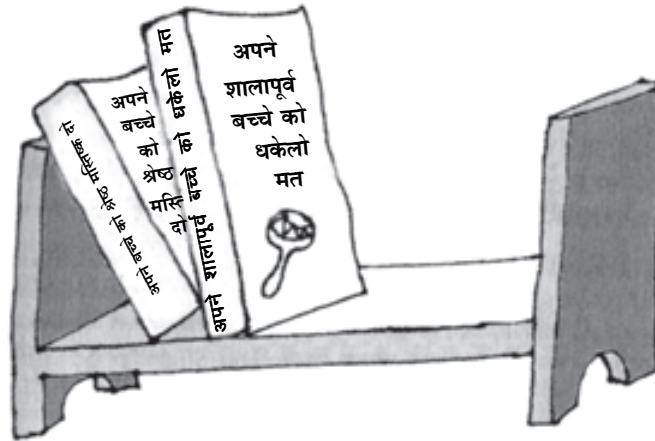
ऊपर दिए सुझाव सीखने में मददगार हो सकते हैं, परन्तु मदद करने और सीखने की गति बढ़ाने में एक बारीक-सा अन्तर है। विकास की निरन्तरता सम्बन्धी दृष्टिकोण हमें यह लालच पैदा कर सकते हैं कि हम बच्चों से

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

उनके रोज़मर्रा के अनुभव में सामने आने वाली चीज़ों का सघन अभ्यास करवाकर सीखने की उनकी गति को बढ़ा सकते हैं। परन्तु क्या ऐसा करना अच्छा होगा? क्या वृद्धि की गति के साथ छेड़छाड़ की जा सकती है, और क्या ऐसा करना चाहिए? इस प्रश्न पर 'प्रारम्भिक बाल्यावस्था शिक्षण' के व्यापक शीर्षक के तहत गरमागरम बहस हुई है। इसे हम अगले भाग में उठाएँगे।

बढ़ने में जितना समय लगे, लगाओ

1980 के दशक में लिखी गई दो पुस्तकों के शीर्षक हैं – Give Your Child a Superior Mind (अपने बच्चे को श्रेष्ठ मस्तिष्क दो) और Don't Push Your Preschooler (अपने शालापूर्व उम्र के बच्चे को धकेलो मत)। आप इनमें से किसे उठाएँगे? इनमें कही गई बातें विकास में संख्यात्मक बदलाव बनाम गुणात्मक बदलाव के विचार पर आधारित हैं। अगर बच्चे (संज्ञानात्मक रूप से) वह सब कर सकते हैं जो वयस्क कर सकते हैं, केवल कम अच्छी तरह, तो शायद उन्हें जल्द से जल्द स्वयं को बेहतर बनाने की दिशा में धकेला जा सकता है। परन्तु अगर इसके विपरीत, विकास गुणात्मक रूप से अलग-अलग चरणों में बढ़ता है, अगर वह परिपक्वता की घड़ी के अनुरूप चलता है, तो फिर 'शालापूर्व उम्र के अपने बच्चे को धकेलना' निरर्थक ही है। यह समय की बरबादी हो सकती है, और तो और इसके अनचाहे दुष्प्रभाव भी हो सकते हैं।



1989 में मेरिऑन हायसन और अन्य ने एक अध्ययन किया जिसने ठीक यही बताया। बच्चों के दो समूहों को दो भिन्न प्रकार के किंडरगार्टन-पूर्व कार्यक्रमों से गुज़ारा गया। इनमें से एक कार्यक्रम अकादमिक था (जहाँ उन्हें वर्णमाला और अंक सिखाए गए), और दूसरा गैर-अकादमिक था (जहाँ बच्चों की पहल पर गतिविधियाँ की जाती थीं)। साल भर बाद दोनों कक्षाओं की तुलना विविध पैमानों के आधार पर की गई। ज़ाहिर था कि अकादमिक कार्यक्रम से गुज़रे शालापूर्व बच्चे अक्षरों और अंकों को पहचानने में बेहतर थे (उन्हें यह सिखाया गया था)। सामान्य बुद्धिमत्ता और सामाजिक दक्षता सम्बन्धी परीक्षाओं में दोनों समूह बराबर थे। अगले साल दोनों समूह के बच्चे एक समान किंडरगार्टन कक्षा (शिशु कक्षा) से गुज़रे। साल के अन्त में पाया गया कि अकादमिक किंडरगार्टन-पूर्व कार्यक्रम से गुज़रे बच्चों के जो लाभ थे, वे गायब हो गए। दूसरे समूह की तुलना में स्कूल के प्रति उनका नज़रिया ज़्यादा नकारात्मक बना और उनके मन में परीक्षाओं के प्रति आशंका भी अधिक पाई गई।¹

ऐसे ही कुछ अन्य अध्ययन भी किए गए हैं जिनके नतीजे हायसन के समान ही थे। इससे हमें यह सीख मिलती है कि शालापूर्व आयु के बच्चों को धकेलकर उनके संज्ञानात्मक परिणामों को अल्पकालिक रूप से हम कुछ समय के लिए बढ़ा तो सकते हैं, पर इसका दीर्घकालिक नतीजा 'वांछनीय मनोवृत्तियों' की कीमत चुकाना हो सकता है। 'वांछनीय मनोवृत्तियों' का आशय पढ़ने और लिखने के प्रति प्रेम से है। जब बच्चे को दोहराव और अभ्यास के ऐसे दौर से गुज़ारा जाता है जिसमें उसे आनन्द न मिले, तो ज़ाहिर है, यह प्रेम खो दिया जाता है। यों शोध के नतीजों को ध्यान से देखने पर पता चलता है कि विकास की गति को बढ़ाना न तो सम्भव है, न बच्चे

1. इस अध्ययन ने केवल मध्यम व उच्च मध्यम आयु वर्ग वाले बच्चों को देखा था। यह मानने के अच्छे कारण हैं कि इस शोध के नतीजे वंचित परिवारों से आए बच्चों पर लागू नहीं होंगे। निम्न आयु वर्ग के बच्चों के लिए कई शुरुआती उम्र के शैक्षिक कार्यक्रम सफल रहे हैं। इसका कारण यह है कि उनके सामान्य वातावरण में पर्याप्त बौद्धिक उद्दीपन नहीं होता। ऐसी स्थिति में शालापूर्व कार्यक्रम वह उपलब्ध करवाता है जिसकी घरेलू वातावरण में कमी हो। यह बात क्रान्तिक चरण (critical periods) के अगले भाग में दोबारा आएगी।

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

के लिए अच्छा है, फिर चाहे विकास के प्रति हमारा नज़रिया गुणात्मक हो या संख्यात्मक।

दोनों ही नज़रियों को मानने वाले इस बात पर सहमत हैं कि बच्चे **संज्ञानात्मक रूप से अपरिपक्व** होते हैं। विकासात्मक मनोवैज्ञानिक डेविड ब्यॉर्कलुंड मानते हैं कि यह अपरिपक्वता स्वाभाविक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। बचपन बढ़ने और परिपक्व बनने का एक आवश्यक दौर है। इन्सान ने संस्कृति और समाज को इतना विकसित कर दिया है कि बच्चों को आगे चलकर जीवन में काम आने वाले समस्त ज्ञान और कौशलों को सीखने के लिए वयस्कों पर एक लम्बी अवधि तक निर्भर रहने की ज़रूरत पड़ती है। हमारे सबसे करीबी वानर रिश्तेदारों की तुलना में इन्सान के बच्चे ज़्यादा साल तुलनात्मक अपरिपक्वता में गुज़ारते हैं। यह अपरिपक्वता शारीरिक, यौनिक और संज्ञानात्मक होती है। ब्यॉर्कलुंड ने इन तीनों में से अन्तिम पर ध्यान दिया है।

उनके अनुसार हम बच्चों की संज्ञानात्मक अपरिपक्वता को एक प्रकार की *कमी* के रूप में देख सकते हैं। ऐसी कमी जिसे अनुभव और शिक्षण द्वारा सुधारने की ज़रूरत हो। पर इसे एक दूसरी तरह से भी देखा जा सकता है: संज्ञानात्मक अपरिपक्वता बाल विकास में एक आवश्यक भूमिका अदा कर सकती है। हो सकता है कि बचपन की कुछ *अक्षमताओं* को दरअसल गुणात्मक रूप से भिन्न *क्षमताओं* के रूप में देखना बेहतर हो। ऐसी क्षमताओं के रूप में जो बाल्यावस्था में अनुभवों को व्यवस्थित करने और, इस तरह, सीखने के लिए उपयोगी हों। इसका एक सरल-सा उदाहरण यह है कि शिशुओं की दृष्टि 20/20 की नहीं होती और शुरु के कुछ महीनों तक काफी निकटदर्शी (myopic) रहती है। इससे दुनिया की समझ बनाने के सिलसिले में उन्हें जिन



सूचनाओं से निपटना होता है, उनकी मात्रा कम हो जाती है। साथ ही, क्योंकि वे सबसे अच्छी तरह उन्हीं चीज़ों को देख सकते हैं जो उनसे तकरीबन एक फुट की दूरी पर हों, वे स्तनपान करते समय अपनी माँ की आँखों से दृष्टि का सीधा जुड़ाव बना सकते हैं। इसलिए नन्हे शिशु बेहतर देख पाएँ, इसके लिए उन्हें चश्मे बनवाकर पहनाने का कोई अर्थ नहीं होगा।

क्या यह सम्भव है कि अपरिपक्वता के अन्य लक्षण भी इसी तरह से विकास के लिए 'अनुकूल' बनने के लिए होते हों? अगर ऐसा है तो शिक्षा के लिए इसके महत्वपूर्ण माएने हैं। हम कई बार छोटे बच्चों के सोचने के तरीकों को समस्याजनक, सुधारे और ठीक किए जाने योग्य मान बैठते हैं। जबकि सम्भव है कि बच्चे के विकास की 'दिशा के साथ बढ़ने' में ही बुद्धिमानी हो। ब्यॉर्कलुंड *उपयोगी* अपरिपक्वता के कई क्षेत्रों की पहचान करते हैं। मैं नीचे दो का सार-संक्षेप प्रस्तुत करूँगी: अधिसंज्ञान और, सूचना को पचाने (प्रोसेस करने) की गति।

अधिसंज्ञान यानी स्वयं अपनी संज्ञानात्मक प्रक्रियाओं के बारे में जानना। छोटे बच्चे अपनी संज्ञानात्मक क्षमताओं का अनुमान बढ़ा-चढ़ाकर लगाने के लिए मशहूर हैं। इसकी पुष्टि कई अध्ययनों से हुई है। उदाहरण के लिए स्मृति सम्बन्धी अध्ययनों ने दर्शाया है कि पाँच साल के बच्चे याद करने में बहुत कम समय लगाते हैं, पर वे कितना याद रख पाएँगे इसकी उनकी भविष्यवाणी अतिशयोक्तिपूर्ण होती है। जब वे साफ-साफ यह देख भी लेते हैं कि उनका अनुमान गलत था, फिर भी वे अपनी याद रख पाने की क्षमता की अवास्तविक भविष्यवाणियाँ करते चलते हैं। अमूमन बच्चे अपने कौशलों और भावी प्रदर्शन को बढ़ा-चढ़ाकर आँकते हैं (एक खास उम्र के पहले वे आसानी से यह कबूल नहीं करते कि वे दरअसल जानते नहीं हैं)।

खुशफहमी या 'अनुचित आशावाद' की यह प्रवृत्ति हमें एक समस्या लग सकती है। दरअसल बड़े बच्चों और वयस्कों में कमज़ोर अधिसंज्ञान तमाम गतिविधियों में उनके प्रदर्शन को नकारात्मक रूप से प्रभावित भी करता है। परन्तु छोटे बच्चों में यही खुशफहमी कठिन कामों के लिए उन्हें प्रेरणा देने और जुटे रहने की शक्ति देने का महत्वपूर्ण और उपयोगी काम करती है। उदाहरण के लिए, ब्यॉर्कलुंड ने पाया कि तीन से पाँच साल के बच्चों ने

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

अपनी नकल करने की क्षमता को बढ़ा-चढ़ाकर आँका, और ऐसे जटिल कामों की नकल करने की कोशिश की जो उनकी क्षमता के परे थे, जैसे तीन गेंदों को एक-साथ उछालना! इसका नतीजा यह हुआ कि उन्होंने इस कठिन कौशल को सीखने और उसका अभ्यास करने की कोशिश की, जबकि कोई वयस्क जो 'अपनी सीमाओं को जानता हो' काफी पहले ही हाथ खड़े कर देता। ब्यॉर्कलुंड इस ओर भी ध्यान दिलाते हैं कि छोटे बच्चों में अपनी गलत अनुक्रियाओं (responses) को दबाने की प्रवृत्ति भी नहीं होती। इस प्रवृत्ति का सम्बन्ध पूर्व-अग्रपालीय वल्कुट (pre-frontal cortex), जो तर्कसम्मत, योजनाबद्ध गतिविधियों का स्थान होता है, की स्नायुतंत्रिय अपरिपक्वता से है। हम सब जानते हैं कि छोटे बच्चों की तुलना में बड़े बच्चे और वयस्क सार्वजनिक रूप से गलतियाँ करने में कहीं ज्यादा झिझकते हैं। परन्तु छोटे बच्चों की गलत अनुक्रिया वयस्कों से महत्वपूर्ण भूल-सुधार और प्रतिपुष्टि (feedback) को उकसाती है। अगर वे अधिक 'परिपक्व' होते और सिर्फ ऐसे उत्तर ही देते जिनके सही होने पर उन्हें भरोसा होता, तो हम उन्हें सुधारने वाली सूचनाएँ भी कम दे पाते और वे उतना सीख भी नहीं पाते। इस सिद्धान्त का अच्छा उदाहरण है एक दो वर्षीय बालिका जो भाषा सीख रही हो – वह बेझिझक अपने नए शब्दों व वाक्यों का उपयोग करती है, बिना इस चिन्ता के कि वे सही हैं या नहीं ("मैं वहाँ जाई थी...")। और जब भी वह यह गलती करती है, वयस्क उसकी बात को सही करके दोहराते हैं (तो तुम वहाँ गई थीं, हैं न?)।

सूचनाओं को पचाने (प्रोसेस करने) की गति में भी चार से लेकर तकरीबन बीस वर्ष की उम्र तक कई गुना (exponential) वृद्धि होती है, जैसा ऊपर बताया गया है। साथ ही, मस्तिष्क के लचीलेपन (plasticity) या नई चीज़ें सीखने की क्षमता में कमी आती जाती है। क्या यह भी बाल विकास में एक आवश्यक भूमिका निभाता है? ब्यॉर्कलुंड निश्चित रूप से ऐसा ही मानते हैं। किसी छोटी बच्ची के लिए संज्ञानात्मक गतिविधि का काफी हिस्सा मेहनत की माँग करता है और धीमा भी होता है। पर जैसे-जैसे वह बढ़ती है, अधिकाधिक संज्ञानात्मक गतिविधियाँ स्वचालित (automatized) और तेज़ होती जाती हैं। यह अच्छा है, पर इस कुशलता का विपरीत असर भी पड़ता है। जो अनुक्रियाएँ त्वरित और स्वचालित होती हैं उन्हें दबाना या

बदलना कठिन होता है, जिसका मतलब है कि ये अनुक्रियाएँ लगभग तयशुदा हो जाती हैं। परन्तु एक अपरिपक्व तंत्रिका तंत्र संज्ञानात्मक लचीलेपन की गुंजाइश देता है। जैसा हम पहले देख चुके हैं, तंत्रिका कोशिकाओं पर वसा ऊतकों की परत का चढ़ना (myelination) सूचनाओं को प्रोसेस करने की प्रक्रिया को गति और स्वचालितता देता है। और इस प्रकार छोटे बच्चों में अधूरे मज्जीकरण का मतलब यह होता है कि बाद में आने वाले वातावरणों से संज्ञानात्मक अनुकूलन के लिए उनकी तैयारी बेहतर रहती है।

एल्बर्ट आइंस्टाइन का एक सुन्दर व सटीक उद्धरण देखिए:

मैं कभी-कभी स्वयं से पूछता हूँ कि सापेक्षता का सिद्धान्त विकसित करने वाला मैं भला कैसे बन गया। मुझे लगता है कि इसका कारण यह है कि एक सामान्य वयस्क स्थान और समय (space and time) की समस्याओं पर कभी रुककर सोचता ही नहीं है। इन चीज़ों के बारे में वह बचपन में ही सोचता है। परन्तु मेरा बौद्धिक विकास धीमा (retarded) था, नतीजतन इस विषय पर मैंने तब सोचना शुरू किया जब मैं वयस्क हो चुका था। स्वाभाविक ही था कि जितना किसी सामान्य क्षमताओं वाले बच्चे के लिए सम्भव होता, मैं इस समस्या में उससे कहीं अधिक गहराई तक जा सका।

चार प्रश्नों में से अगला प्रश्न इन विचारों से करीब से जुड़ा है। क्या शुरुआती अनुभव बेहद महत्वपूर्ण होते हैं? क्या वे बच्चे की भावी बढत को बना या बिगाड़ सकते हैं? या क्या बच्चे लचीले होते हैं? क्या बाद के अनुभव शुरुआती अनुभवों की कमी को पूरा कर सकते हैं?

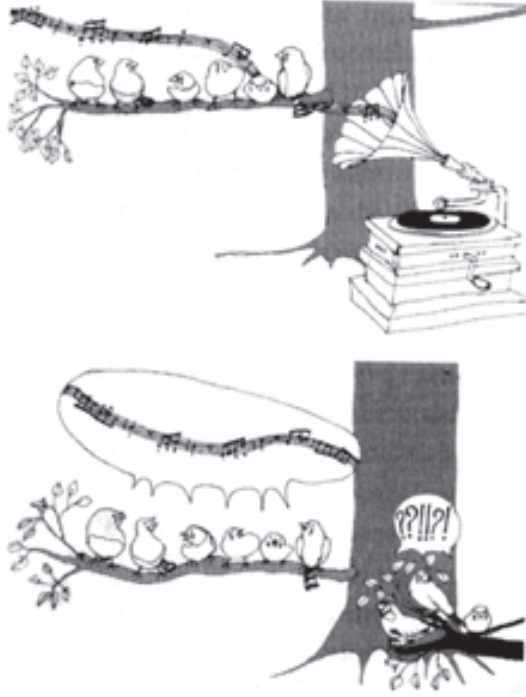
विकास में क्रान्तिक (critical) चरण

हाल में मैंने एक पर्चा देखा जिसमें संज्ञानात्मक विकास और सीखने के क्रान्तिक चरणों पर एक सेमिनार की घोषणा थी। मुझे महसूस हुआ कि कुछ माता-पिता इस विषय को आशंका की नज़र से देख सकते हैं। क्रान्तिक चरणों के विचार में एक तरह से यह बात निहित है कि वे पलट नहीं सकते। अगर हम सही समय पर बच्चों को सही चीज़ों से परिचित न करवाएँ तो क्या होगा? क्या इसका मतलब यह होगा कि बच्चा बाद में उसे कभी भी ठीक

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

से नहीं सीख सकेगा? बहुत-से माता-पिता इसी प्रकार की झीनी-सी भावना से काम करते हैं। वे अपने बच्चों के एक-एक दिन अनेकों अनुभवों से भर डालते हैं ताकि बाद में उन्हें पछताना न पड़े।

परन्तु स्थिति की वास्तविकता क्या है? हम दोनों ही पक्षों के तर्क सुनते हैं: बूढ़े कुत्ते को नए गुर नहीं सिखाए जा सकते, पर साथ ही सीखने की कोई उम्र नहीं होती। पहली बात जो निश्चयपूर्वक कही जा सकती है, वह यह है कि 'क्रान्तिक' (critical) शब्द हमेशा उपयुक्त नहीं होता। इसकी बजाय 'संवेदनशील चरण' कहना बेहतर है, कम से कम तब, जब हम मानव



विकास के संज्ञानात्मक और भावनात्मक क्षेत्रों को देख रहे हों। क्रान्तिक शब्द सब कुछ या कुछ भी नहीं की स्थिति सुझाता है। उदाहरण के लिए, चूज़े अपने जीवन के प्रथम दिनों में हर चलती-फिरती चीज़ के पीछे-पीछे चलेंगे, फिर चाहे वह उनकी माँ हो या नहीं। परन्तु अगर यह अनुभव पहले

कुछ दिनों में न मिले तो यह आचरण सीखा ही नहीं जाता। कुलिंगा पाखी (जेब्रा फिच नामक गाने वाली छोटी चिड़िया) को अपने विकास के एक विशेष बिन्दु पर एक खास तरह का गान सुनना पड़ता है ताकि वे उसे सीख लें और याद कर लें, वरना वे उसे कभी सीखते ही नहीं। मानव के ऐन्द्रिक विकास में भी कुछ क्रान्तिक चरण होते हैं। उदाहरण के लिए, जीवन के शुरु के महीनों में सामान्य दृश्य अनुभव ज़रूरी होते हैं ताकि मस्तिष्क का जो भाग दृश्य सूचनाओं को प्रोसेस करता है, वह ठीक से विकसित हो जाए।

परन्तु इन्सान के भावनात्मक और संज्ञानात्मक विकास में स्थिति कुछ अलग होती है। शैशव काल भावनात्मक विकास के लिए क्रान्तिक होने की बजाय संवेदनशील काल होता है। अनाथालयों से जो बच्चे साल भर के होने के पहले गोद ले लिए जाते हैं, वे ज़्यादा उम्र में गोद लिए गए बच्चों की तुलना में भावनात्मक रूप से बेहतर अनुकूलित हो पाते हैं। परन्तु अगर थोड़ी बड़ी उम्र के बच्चे भी एक स्नेहमय व परवाह करने वाले वातावरण में गोद लिए जाएँ, तो शुरुआती कमी की काफी हद तक पूर्ति हो सकती है। जहाँ तक संज्ञानात्मक विकास का सवाल है, यह साफ नहीं है कि इसमें कोई शुरुआती क्रान्तिक चरण है भी या नहीं। हम भाषा को देख सकते हैं। यह एक ऐसी क्षमता है जिसके विकास के लिए हम किसी क्रान्तिक चरण की सम्भावना की कल्पना कर सकते हैं। कुछ मामलों में जहाँ बच्चे अपने प्रारम्भिक जीवन में बेहद साधनहीन वातावरण में पले-बढ़े हों, भाषा और सामाजिक कौशल सीखने की घटी हुई क्षमता ज़रूर दिखाई देती है। फिर भी यह शून्य नहीं होती।² इसी तरह हम जानते हैं कि बचपन में नई भाषा सीखना कहीं आसान होता है, पर वयस्क होने पर भी नई भाषा सीखना निश्चित रूप से सम्भव है। सीखना और याद करना वयस्क अवस्था के दौरान भी जारी रहता है, और लोगों के लिए ताज़िन्दगी नए कौशल सीखना सम्भव होता है।

2. कई ऐसे आश्चर्यजनक मामले हैं जिनमें शिशु जंगल में खो जाने के कई सालों बाद मिले हैं। इनमें यह माना गया कि उनकी परवरिश भेड़ियों ने की होगी, क्योंकि जब वे पाए गए तब उनका व्यवहार 'जंगली' था। उन्हें सभ्य बनाने की कोशिशों के दौरान वैज्ञानिकों ने उनके विकास के विभिन्न पक्षों का अध्ययन किया।

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

मनोवैज्ञानिक चार्ल्स नेल्सन ने आजीवन सीखने में अनुभव की भूमिका पर विस्तार से लिखा है। वे क्रान्तिक चरणों के बारे में दो महत्वपूर्ण बिन्दु रखते हैं। पहला यह कि बच्चे का शुरुआती वातावरण अगर नकारात्मक हो तो इसका दीर्घकालिक परिणाम हो सकता है। उदाहरण के लिए, अगर कोई बच्चा बचपन से ही सतत तनाव में रहे तो वयस्क अवस्था में उसके हिप्पोकैम्पस का आयतन तुलनात्मक रूप से कम होगा। अब क्योंकि हिप्पोकैम्पस सीखने और याददाश्त के लिए आवश्यक है, ये दोनों ही काम प्रभावित हो सकते हैं। पर इसका मतलब यह नहीं है कि बाद के जीवन में जो दबाव या तनाव आते हैं वे हम पर कोई असर या निशान नहीं छोड़ते हैं। जो वयस्क भारी दबाव से गुजरते हैं, वे दुश्चिन्ता, अवसाद और तमाम अन्य समस्याओं से जूझते हैं। अतः नेल्सन कहते हैं कि तनाव और वातावरण सम्बन्धी अन्य घटक एक विकासशील मस्तिष्क पर जैसा असर डालते हैं, एक विकसित मस्तिष्क पर वे अलग तरह से असर डालते हैं।

नेल्सन का दूसरा बिन्दु यह है कि मनोविज्ञान ने जिन 'सकारात्मक' प्रारम्भिक वातावरणों का अध्ययन किया है वे अमूमन सिर्फ 'सामान्य' वातावरण ही रहे हैं। अर्थात् शोध ने यह दर्शाया है कि जब तक किसी बढ़ते बच्चे को औसत मात्रा में उद्दीपन (stimuli) प्राप्त होते रहें, उसका संज्ञानात्मक विकास सामान्य रहेगा। बच्चों को विलक्षण वातावरण उपलब्ध करवाने का प्रभाव क्या होगा, और क्या इसके वैसे खास नतीजे भी होंगे जो बाद के जीवन में प्राप्त करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हों, इसके बारे में खास जानकारी नहीं है।

इस दूसरे बिन्दु को रेखांकित करना सार्थक होगा: **क्रान्तिक या संवेदनशील चरण की धारणा सामान्य वातावरण में सामान्य क्षमताओं के विकास से जुड़ी हुई है।** अगर (मानव या अन्य पशुओं के) छोटे बच्चों को सामान्य वातावरण के घटकों से महरूम कर दिया जाए, तो हमें तैयार रहना होगा कि कुछ बुनियादी क्षमताओं में कमी आएगी। इस बात को खास वातावरण में खास प्रतिभाओं के विकास से जोड़कर नहीं देखना चाहिए। भारत में अपने बच्चों के विषय में लोगों के दो तरह के सरोकार होते हैं (उनमें जो ऐसे सरोकार रखने का सामर्थ्य रखते हों)। इनमें से एक तरह के प्रश्न

होते हैं, “अगर हम अपनी छह वर्षीय बेटियाँ को शास्त्रीय संगीत से परिचित नहीं करवाएँ तो जब वह अठारह साल की हो जाएगी तब तक क्या बहुत देर हो चुकी होगी?” दूसरे तरह के सवाल हैं, “अगर हम अपने छह वर्षीय बेटों को इस खास कार्यक्रम में शामिल करें तो क्या वह जीनियस बन जाएगा?”

इस तरह के प्रश्न को सीधे-सीधे सम्बोधित करने वाला मनोवैज्ञानिक शोध बहुत कम है। शुरुआती संवर्धन कार्यक्रम (जैसे अमरीका में शालापूर्व बच्चों का हेड-स्टार्ट कार्यक्रम) बच्चों के लिए प्रभावशाली फायदे दर्शाते हैं। परन्तु हमें याद होगा कि ये बच्चे पहले ही वंचित तबके से थे। यानी साफ-साफ कहेँ तो इन कार्यक्रमों ने वंचित वातावरण को सुधारने का काम किया था, ना कि एक सामान्य वातावरण को समृद्ध बनाने का। इसलिए विशेष उपलब्धियों और वातावरण सम्बन्धी किसी सवाल का जवाब हमें सामान्य सूझबूझ से देना पड़ सकता है जिसकी पुष्टि वैज्ञानिक शोध से नहीं की जा सकती!

निष्कर्ष

यह साफ है कि बेहद वंचित बचपन के नतीजों को बाद के वर्षों में आसानी से बदला नहीं जा सकता। फिर भी, शोध हमें कई स्तरों पर आश्वासन देता है:

- विविध प्रकार के स्वीकार्य वातावरणों में विकास सामान्य रूप से बढ़ता ही है।
- हालाँकि जीवन के पहले कुछ वर्ष मस्तिष्क के लचीलेपन की दृष्टि से महत्वपूर्ण होते हैं, फिर भी बचपन और किशोरावस्था की समूची अवधि एक संवेदनशील चरण होती है।
- इन्सानों के लिए संचालन और संज्ञान के क्षेत्र में ताज़िन्दगी नई चीज़ें सीखना व याद रखना सम्भव है। मस्तिष्क की बनावट ही ऐसी है कि अगर उसे चुनौती और उद्दीपन मिलते रहें तो वह इन क्षेत्रों में आजीवन सीख सकता है।

नेल्सन एक ऐसी बात कहते हैं जिसे हम अक्सर नज़रअन्दाज़ कर देते हैं। यह कि प्रसवपूर्व महीनों और जीवन के पहले-पहल वर्षों में मस्तिष्क का जो

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

विकास होता है वह **जैविक खतरों** की दृष्टि से बेहद संवेदनशील है। वे कहते हैं, “दरअसल शायद इस तर्क का एक अधिक मज़बूत वैज्ञानिक आधार हो सकता है कि जैविक खतरों से बचाव से मस्तिष्क के आरम्भिक विकास में मदद मिलती हो (उदाहरण के लिए, माता का समुचित स्वास्थ्य और पोषण, प्रसव के बाद सन्तोषजनक पोषण, वातावरण में व्याप्त विषाणुओं और खतरनाक दवाओं से बचाव, विषाणुओं से सुरक्षा और प्रसव के पहले माता पर अनावश्यक दबाव का न होना), बनिस्बत इसके कि बच्चे की देखभाल करने वाले उससे कितनी नियमितता से बातचीत करते या खेलते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि, हालाँकि दोनों ही महत्वपूर्ण हैं, मस्तिष्क विकास को बढ़ावा देने की कोशिशों को लोक स्वास्थ्य के प्रयासों, खास तौर से जोखिमग्रस्त आबादी में गर्भवती स्त्रियों और छोटे बच्चों के कार्यक्रमों पर, उतना ही ध्यान देना चाहिए जितना उन जन-सूचना प्रसार अभियानों पर जो शिशुओं और नन्हे बच्चों के लिए माता-पिता द्वारा बेहतर सामाजिक उद्दीपन को प्रोत्साहित करते हों।” खासकर भारत में, हमारे लिए इन शब्दों का भारी महत्व है।

अगले दो अध्यायों में बाल विकास के दो और सवाल पर विचार किया जाएगा, प्रकृति-परवरिश विवाद और नैतिक विकास। ये विवादास्पद विषय हैं और मनोवैज्ञानिकों में इन पर गरमागरम बहस होती रही है।

सन्दर्भ और पुस्तक सूची

1. बैक्स, आर., 2001। ‘द अर्ली चाइल्डहुड एज्युकेशन करिक्युलम डिबेट: डाइरेक्ट इंस्ट्रक्शन वर्सेज़ चाइल्ड इनिशिएटेड लर्निंग।’ *क्लयरिंगहाउस ऑन अर्ली एज्युकेशन एंड पेरेंटिंग*।
2. ब्यॉर्कलुंड, डी.एफ., और बी.एल. ग्रीन, 1992। ‘द एडैप्टिव नेचर ऑफ कॉग्निटिव इम्पैच्योरिटी।’ *अमेरिकन साइकोलॉजिस्ट*, खण्ड-47, संख्या-1, 46-54
3. ब्यॉर्कलुंड, डी.एफ., 1997। ‘द रोल ऑफ इम्पैच्योरिटी इन ह्यूमन डेवलपमेंट।’ *साइकोलॉजिकल बुलेटिन*, खण्ड-122, संख्या-2, 153-69
4. ब्यॉर्कलुंड, डी.एफ., 1997। ‘इन सर्च ऑफ अ मेटाथियोरी फॉर कॉग्निटिव डेवलपमेंट

- (ऑर पियाजे इज़ डेड एंड आई डॉट फील सो गुड मायसेल्फ)।' चाइल्ड डेवलपमेंट, खण्ड-68, संख्या-1, 144-48
5. बॉर्नस्टाइन, एम.एच., 1989। 'सेंसिटिव पीरियड्स इन डेवलपमेंट: स्ट्रक्चरल कैरेक्टरिस्टिक्स एंड कॉज़ल इंटरप्रेटेशंस।' साइकोलॉजिकल बुलेटिन, खण्ड-105, संख्या-2, 179-97
 6. ब्रूनर, जे.एस., 1972। 'नेचर एंड यूजेज ऑफ इम्पैच्योरिटी,' अमेरिकन साइकोलॉजिस्ट, अगस्त, 1972, 687-708
 7. कोल, एम.सी., और एस.आर. कोल, 1993। द डेवलपमेंट ऑफ चिल्ड्रन। साइंटिफिक अमेरिकन बुक्स।
 8. हर्ष-पासेक, के., एम. हायसन और एल. रेस्कोर्ला, 1990। 'एकैडमिक एंवायरमेंट्स इन प्रीस्कूल: डू दे प्रेशर ऑर चैलेंज यंग चिल्ड्रन?' अर्ली एज्युकेशन एंड डेवलपमेंट, खण्ड-1, संख्या-6, 401-423
 9. केल, आर., 1991। 'डेवलपमेंटल चेंज इन स्पीड ऑफ प्रोसेसिंग ड्यूरिंग चाइल्डहुड एंड एडोलसेंस।' साइकोलॉजिकल बुलेटिन, खण्ड-27, संख्या-2, 259-66
 10. केल, आर., 1991। 'प्रोसेसिंग टाइम डिक्लाइंस एक्सपोनेंशियली ड्यूरिंग चाइल्डहुड एंड एडोलसेंस।' डेवलपमेंटल साइकोलॉजी, खण्ड-27, संख्या-2, 259-66
 11. कील, एफ.सी., डब्ल्यू.सी. स्मिथ, डी.जे. सायमन्स, और डी.टी. लेविन, 1998। 'टू डॉग्माज़ ऑफ कंसेप्युअल एम्पेरिसिज़म: इंप्लिकेशंस फॉर हायब्रिड मॉडल्स ऑफ द स्ट्रक्चर ऑफ नॉलेज।' कॉग्निशन, 65, 103-35
 12. नेल्सन, सी.ए., 1995। 'द ऑन्टोजेनी ऑफ ह्यूमन मेमरी: अ कॉग्निटिव न्यूरोसाइंस पर्सपेक्टिव।' डेवलपमेंट साइकोलॉजी, खण्ड-31, संख्या-5, 723-38
 13. नेल्सन सी.ए., 1999। 'चेंज एंड कंटिन्युइटी इन न्यूरोबिहेवियरल डेवलपमेंट: लैसंज़ फ्रॉम द स्टडी ऑफ न्यूरोबायोलॉजी एंड न्यूरोल प्लास्टिसिटी।' इफ़ेक्ट बिहेवियर एंड डेवलपमेंट, खण्ड-22, संख्या-4
 14. नेल्सन, सी.ए., 2000, 'न्यूरोल प्लास्टिसिटी एंड ह्यूमन डेवलपमेंट: द रोल ऑफ अर्ली एक्सपीरिएंसेज़ इन स्कल्पटिंग मेमरी सिस्टम।' डेवलपमेंटल साइंस, 3:2, 115-36
 15. एन.आई.सी.एच.डी. अर्ली चाइल्ड केयर रिसर्च नेटवर्क, 2005। 'प्रेडिक्टिंग इंडिविजुअल डिफरेंसेज़ इन अटेंशन, मेमरी एंड प्लैनिंग इन फर्स्ट ग्रेडर्स फ्रॉम एक्सपीरिएंसेज़ एट

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

होम, चाइल्ड केयर एंड स्कूल।' डेवलपमेंटल साइकॉलजी, खण्ड-41, संख्या-1, 99-144

16. पियाजे, जे., 1970, साइंस ऑफ एज्युकेशन एंड द साइकॉलजी ऑफ द चाइल्ड। ओरियॉन प्रेस, न्यू यॉर्क।
17. सीगलर, आर.एस., 1998। चिल्ड्रेंस थिंकिंग, प्रेंटिस हॉल, न्यू जर्सी।
18. सीगलर, आर.एस., 2005। चिल्ड्रेंस लर्निंग। अमेरिकन साइकॉलजिस्ट, 60, 769-78
19. थॉमस, बी., 1992। 'टू अर्ली टु फेल? प्रेशर्ज एंड बेनेफिट्स ऑफ प्रीस्कूल एज्युकेशन।' मेसेंजर, खण्ड-1, संख्या-2, पृ. 6
20. थॉमसन, आर.ए. और सी.ए. नेल्सन, 2001। 'डेवलपमेंटल साइंस एंड द मीडिया: अर्ली ब्रेन डेवलपमेंट।' अमेरिकन साइकॉलजिस्ट, खण्ड-56, संख्या-1, 5-15
21. वॉकर, एस.पी., टी.डी. वॉक्स, जे.एम. गार्डनर, बी. लॉजॉफ, जी. वास्सरमान, ई. पॉलिट, जे.ए. कार्टर, और द इंटरनेशनल चाइल्ड डेवलपमेंट स्टीयरिंग ग्रुप, 2007। 'चाइल्ड डेवलपमेंट: रिस्क फैक्टर्ज फॉर एडवर्स आउटकम्स इन डैवलपिंग कंट्रीज़।' लैंसेट, 369, 145-57

अध्याय-5

प्रकृति और परवरिश



लोग इन्सानी प्रवृत्तियों या क्षमताओं को प्रकृति अथवा पालन-पोषण के अर्थ में समझना पसन्द करते हैं। हम यह कहना पसन्द करते हैं: वह बेहद प्रतिभाशाली है – पिता से ही पाई है प्रतिभा। या वह कितनी मददगार है – शायद उसकी परवरिश के कारण ऐसा है। हमने पिछले अध्याय में जो प्रश्न उठाया था वह इसी द्विभाजन को सम्भावनाओं की एक जृंखला के दो छोरों के रूप में प्रस्तुत करता है: क्या आप मानते हैं कि बच्चा एक कोरी स्लेट के रूप में जन्मता है और उन अनुभवों से सीखता है जो इस स्लेट पर 'लिखे' जाते हैं (दूसरे शब्दों में, जो कुछ हम सीखते हैं वही हमें 'हम' बनाता है?) या, आप यह कहना चाहेंगे कि हमारी अधिकांश प्रवृत्तियाँ और क्षमताएँ हमें विरासत में मिलती हैं, अतः हमारा वातावरण चाहे जैसा भी क्यों न हो,

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

हम भविष्य में क्या बनेंगे यह शुरू से ही निश्चित होता है? हम सब जानते हैं कि सच्चाई दरअसल इन दो छोरों – ‘सब कुछ आनुवंशिक गुणसूत्रों (genes) से निर्धारित होता है’, और ‘सब कुछ वातावरण द्वारा निर्धारित होता है’ – के बीच कहीं है।

प्रकृति और परवरिश दोनों ही लगभग सभी मानवीय विशेषताओं में भूमिका अदा करते हैं, कद से लेकर बुद्धिमत्ता, और मनोरोगों तक में – यह समझते हुए आपके मन में सवाल उठ सकता है कि इसमें से कितना प्रकृति के कारण है और कितना परवरिश करने वाले पर्यावरण के कारण। या आप यह प्रश्न पूछ सकते हैं कि अधिक महत्वपूर्ण क्या है – प्रकृति या परवरिश?

परन्तु प्रकृति बनाम परवरिश सम्बन्धी प्रश्नों को किसी व्यक्ति पर लागू किए जाने में एक बुनियादी त्रुटि है। एक सरल-सा सादृश्य इसे समझाने में मददगार हो सकता है। मान लें आपके पास एक आयताकार खेत है। तो आप यह नहीं पूछते कि उसके क्षेत्रफल का कितना भाग उसकी लम्बाई के कारण है और कितना चौड़ाई के कारण। उसका क्षेत्रफल उसकी लम्बाई और चौड़ाई का गुणनफल है, दोनों में कोई भी अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। या फिर अगर आप किसी दुकान से कपड़ा खरीदते हैं और उससे एक कमीज़ सिलवा लेते हैं, तो आप यह नहीं पूछते कि कमीज़ कितने कपड़े से बनी है और कितनी सिलाई से। सच्चाई तो यह है कि बिना सिलाई के कपड़ा कमीज़ नहीं बन पाएगा, और केवल सिलाई? खैर, वह भी कमीज़ नहीं हो सकती!

इसी प्रकार प्रकृति बनाम परवरिश सम्बन्धी सवाल किसी एक व्यक्ति पर लागू नहीं किया जा सकता। हम यह नहीं कह सकते कि एक बच्ची की खेलकूद की क्षमता 75 प्रतिशत उसके गुणसूत्रों के कारण और 25 प्रतिशत उसके पर्यावरण के कारण है। ज़ाहिर है, हम यह तो नहीं कह सकते कि अगर उसे पर्यावरण नहीं मिलता तो उसकी खेलकूद की क्षमता 25 प्रतिशत कम होती। प्रकृति बनाम परवरिश वाले प्रश्न केवल आनुवंशिक और/या पर्यावरणीय भिन्नता वाले लोगों के समूहों के बारे में ही पूछे जा सकते हैं: **लोगों में जो भिन्नताएँ होती हैं, वे किस हद तक प्रकृति या परवरिश में अन्तर के कारण हैं?** इस प्रश्न पर ढेरों शोध हुए हैं और विभिन्न मानवीय विशेषताओं पर उत्तर तलाशे गए हैं। उदाहरण के लिए, शोध दर्शाता है कि

शब्दावली का आकार काफी हद तक 'वंशानुगत' होता है।

अगर कोई गुण 'वंशानुगत' होता है, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि हम उसके साथ जन्मते हैं। हम कोई तैयारशुदा शब्दावली के साथ पैदा नहीं होते! हम अपने सभी शब्द अपने पर्यावरण से ही सीखते हैं, परन्तु हम अपनी आनुवंशिक बनावट के अनुरूप अधिक या कम शब्द सीख सकते हैं। एक-दूसरे से भिन्न-भिन्न हद तक आनुवंशिक रूप से सम्बन्धित लोगों (जैसे समरूप जुड़वाँ, सहोदर, माता-पिता व बच्चे) के अध्ययन दर्शाते हैं कि शब्दावली के आकार में जो अन्तर दिखाई देता है, वह काफी हद तक आनुवंशिक अन्तरों के कारण होता है। इस कथन को हम कुछ उदाहरणों द्वारा आसानी से समझ सकेंगे। सामान्य जुड़वाँ बच्चों की तुलना में समरूप जुड़वाँ बच्चों की शब्दावली के आकार में सह-सम्बन्ध अधिक होता है। बेशक, यह प्रकृति का ही योगदान है। परन्तु गैर-जुड़वाँ भाई-बहनों के जोड़े की तुलना में जुड़वाँ बच्चों की शब्दावली के आकार का सह-सम्बन्ध अधिक होता है!

इस तथ्य का महत्व यह है कि हालाँकि जुड़वाँ बच्चों और गैर-जुड़वाँ सहोदरों में साझे गुणसूत्रों की मात्रा समान होती है (50 प्रतिशत), फिर भी जुड़वाँ बच्चों का पर्यावरण, गैर-जुड़वाँ सहोदरों की तुलना में, जिनमें कुछ वर्षों का अन्तराल होता है, अधिक समान होता है। इस प्रकार यह दूसरा निष्कर्ष हमें पर्यावरण के प्रभाव के प्रति सचेत करता है। अध्ययन यह भी दर्शाते हैं कि गोद लिए गए बच्चों की शब्दावली का आकार अपनी जैविक माता और दत्तक माता की शब्दावली के आकार से समान रूप से उच्च स्तर का सम्बन्ध दिखाता है। यहाँ भी हमें प्रकृति और परवरिश दोनों के प्रभाव का प्रमाण मिलता है।

हालाँकि यह भी कुछ ज़्यादा ही सरल छवि है। होता यह है कि मानव आचरण पर आनुवंशिक और पर्यावरण सम्बन्धी प्रभाव स्वतंत्र रूप से काम नहीं करते। अधिकांशतः वे सह-सम्बन्धित होते हैं। एक सरल उदाहरण के तौर पर, शोध ने पाया है कि **समरूप जुड़वाँ बच्चों की परवरिश, सामान्य जुड़वाँ बच्चों की तुलना में ज़्यादा एक जैसी होती है और जैविक सहोदरों की परवरिश दत्तक सहोदरों की तुलना में ज़्यादा एक समान**

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?



गोद लिए सहोदर



सहोदर



सामान्य जुड़वाँ



समरूप जुड़वाँ

बाएँ से दाएँ बढ़ने पर आनुवंशिक और पर्यावरण की समानता बढ़ती है – साथ ही शब्दावली के आकार का सह-सम्बन्ध भी।

होती है। दूसरे शब्दों में, आनुवंशिक समानता अपने साथ पर्यावरण सम्बन्धी समानता लाती है। और जब-जब सामान्य जुड़वाँ बच्चों की तुलना में समरूप जुड़वाँ बच्चों में या दत्तक बच्चों की तुलना में सहोदर बच्चों में ज़्यादा सह-सम्बन्ध नज़र आते हैं, तो ऐसा *आनुवंशिक और पर्यावरण सम्बन्धी दोनों ही* कारणों से होता है। यानी हम देख सकते हैं कि प्रकृति और परवरिश के मसले को व्यक्तियों के एक समूह पर लागू करते हुए भी इन्हें आसानी से अलग नहीं किया जा सकता। अतः प्रकृति बनाम परवरिश के प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर लोगों के समूह के सन्दर्भ में भी नहीं दिया जा सकता।

पर निराश न हों; प्रकृति और परवरिश के विषय में हम दो प्रकार के सार्थक प्रश्न पूछ सकते हैं। एक प्रश्न तो सार्वभौमिकता के स्तर का है (मानव प्रजाति को समग्रता में देखने पर), दूसरा व्यक्तिगत अन्तरों के स्तर का है

(जो लोगों में होते हैं)। आगे हम इन दोनों को बारी-बारी से देखेंगे। चूँकि यह किताब शिक्षकों के लिए है और हमारी रुचि सोचने और सीखने में है, मैं संज्ञानात्मक क्षमताओं पर ध्यान केन्द्रित करूँगी।

सार्वभौमिकता का प्रश्न

हमारी आनुवंशिक पूर्ववृत्तियाँ क्या हैं और वे पर्यावरण द्वारा किस प्रकार नियंत्रित होती हैं? यह प्रश्न यह मानकर चलता है कि हम इस दुनिया में जब जन्म लेते हैं, तो हमारे मस्तिष्क में बहुत कुछ पहले से ही सूत्रबद्ध या 'wired' होता है। ये हमारी आनुवंशिक पूर्ववृत्तियाँ हैं – ऐसे रुझान या गुण जो पहले से मौजूद हों। यह इस सम्भावना को नकारता है कि हम जन्म के समय कोरी स्लेट होते हैं। फिर भी, **पूर्ववृत्ति** और **नियंत्रण** जैसे शब्द हमें बताते हैं कि पर्यावरण दरअसल एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। वह हमारे गुणसूत्रों की अभिव्यक्ति को निर्धारित करता है।

प्रकृति हमारी संज्ञानात्मक क्षमताओं में किस प्रकार योगदान करती है

उद्विकास की दृष्टि से प्रत्येक जीव ऐसी आनुवंशिक पूर्ववृत्तियों के साथ जन्मता है जो उसे सफलतापूर्वक जीवित रहने और प्रजनन करने में मदद करें। नवजात बच्चे भी अपवाद नहीं हैं। उदाहरण के लिए, वे अपने सहजबोध से स्तनपान करते हैं, चीज़ों को थामते हैं, और उनकी नज़रें सचल वस्तुओं का पीछा करती हैं। परन्तु यह बात भी सच है कि कई पशुओं के शिशु बेहद असहाय और अपरिपक्व पैदा होते हैं। आप पहले पढ़ चुके हैं कि मस्तिष्क की वृद्धि, किशोरावस्था तक चलने वाले विकास और वृद्धि की प्रक्रिया को भी प्रतिबिम्बित करती है। क्यों? अपरिपक्वता की इस अवधि का, चाहे वह छोटी हो (जैसे कछुओं में) या लम्बी हो (जैसे मनुष्य में), उद्देश्य भला क्या है? इस प्रश्न का एक जवाब तो यह है कि गुणसूत्र नवजात शिशु को केवल मोटे तौर पर एक 'सामान्य पर्यावरण' के लिए तैयार करते हैं। इसके आगे पर्यावरण की कई खास और अनूठी विशेषताएँ होती हैं जिनके बारे में पहले से पता नहीं होता। इनसे अनुकूलित होने के लिए प्राणी को *सीखना* पड़ता

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

है। इसका मतलब यह है कि जन्मते समय जीव को सीखने में सक्षम होना होता है: सीखने और याद रखने के लिए मस्तिष्क में कई सूक्ष्म व जटिल क्षमताएँ होनी पड़ती हैं, और ये क्षमताएँ हमें गुणसूत्र ही देते हैं।

आप इसे दो अतिवादी स्थितियों के बीच समझौते के रूप में देख सकते हैं। प्रकृति हमें या तो बचाव के लिए आवश्यक हर चीज़ प्रदान कर सकती है (सहजवृत्तियों के रूप में), जिसका अर्थ होगा कि हम तेज़ी से परिपक्व हो जाएँगे – पर इसका नुकसान यह हो सकता है कि हम पर्यावरण की बदलती माँगों पर अपनी अनुक्रिया (responses) के मामले में गैर-लचीले होंगे। दूसरी ओर, अगर प्रकृति पहले से हमारे लिए बहुत कम निर्धारित करती है तो हम इतने लचीले होंगे कि सीखकर विभिन्न प्रकार के पर्यावरणों में अनुकूलित



हो सकें, पर इसका अर्थ होगा अपरिपक्वता की लम्बी अवधि। चूँकि मानव संस्कृतियाँ और पर्यावरण बेहद परिवर्तनशील और जटिल होते हैं, स्पष्ट है कि दोनों छोरों में से सीखने के छोर पर होने से हमें लाभ होता है। हमारी जन्मजात प्रवृत्तियाँ अपने आप में हमें शुरुआती कुछ महीनों से आगे नहीं ले जा सकतीं! मनुष्य को अपने पर्यावरण के विशिष्ट और अनूठे पक्षों से अनुकूलित होने के लिए बड़े पैमाने पर सीखने की लम्बी अवधि की ज़रूरत होती है। यही बात दूसरी तरह से कहें तो मनुष्य की अपरिपक्वता की लम्बी

अवधि पर्यावरण से उसके अनुकूलित होने में सीखने के महत्व की ओर इशारा करती है।

मनोवैज्ञानिक शोध से उभरे दो तथ्य चिन्तन की इस धारा से सहमत हैं: (1) शिशु बिलकुल शुरु से ही बेहद सक्रिय सीखने वाले होते हैं, दरअसल तब भी जब वे गर्भ में हों, और (2) मस्तिष्क का विकास किशोरावस्था में भी काफी आगे तक जारी रहता है, जो बचपन के दौरान लम्बे समय तक लचीलेपन और अनुकूलित होते हुए सीखने (adaptive learning) की छूट देता है।

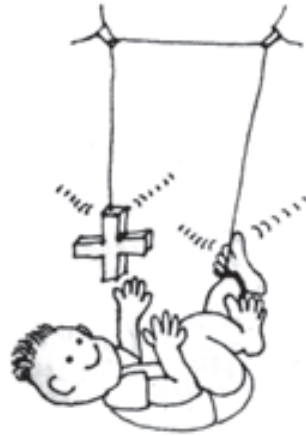
अब प्रकृति-परवरिश प्रश्न काफी अलग लगने लगा है। ज़ाहिर है कि हम कई क्षमताओं के साथ पैदा होते हैं (देखना, सुनना, सूँघना, मुँह, आँखें आदि की गति पर नियंत्रण करना...)। उतनी ही साफ यह बात भी है कि हम कुछ खास क्षमताओं के साथ जन्मते हैं जो हमें सीखने में और इस दुनिया के साथ अन्तर्क्रिया द्वारा उसको समझने में सक्षम बनाती है। क्या हम इन क्षमताओं को भी स्पष्ट कर सकते हैं? मनुष्यों को लेकर हुए बहुत सारे शोधों के कारण हम सीखने के जन्मजात तंत्रों की एक प्रभावशाली सूची बना सकते हैं। नीचे इन्हें उदाहरणों के साथ दिया गया है:

- सीखने वाले जीव बनाने के लिए एक तो हमारे गुणसूत्र हमें कुछ ऐसा बनाते हैं कि हमें जन्म से ही **नए उद्दीपन पसन्द आते हैं**। छोटे बच्चे जन्म से ही अपरिचित वस्तु पर, कुछ नए पर, अधिक ध्यान देते हैं। साथ ही शिशु **जटिल उद्दीपन पसन्द करते हैं** – उदाहरण के लिए वे सादे उद्दीपन के बदले नमूनों वाले (patterned) उद्दीपन पर ज़्यादा ध्यान देते हैं। ज़ाहिर है कि ये पसन्द हमें अपने पर्यावरण के बारे में सीखने की ओर उन्मुख करती है।
- शिशु जन्मजात रूप से ऐसे बने होते हैं कि वे अनुकूलन का एकदम क्लासिकी अन्दाज़ दर्शाते हैं। यानी वे उद्दीपन के सह-सम्बन्ध के नियमों के अनुरूप काम करते हैं। एक अध्ययन में कुछ ही घण्टों पहले जन्मे शिशुओं को माथे पर सहलाने के फौरन बाद चीनी के घोल की बूँदें दी गईं। उन्होंने मीठे पानी को चूसा, जो एक स्वाभाविक और सहज अनुक्रिया थी। परन्तु कुछ बार यह दोहराने के बाद शिशु केवल माथा

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

सहलाने पर ही चूसने लगे! बाद में जब उन्हें सहलाने के बाद मीठा पानी नहीं मिला तो वे रोने लगे। इससे ऐसा लगता है कि शिशु बहुत कम उम्र से ही **घटनाओं के बीच सम्बन्ध** जोड़ सकते हैं, और इस तरह का सीखना उन्हें दुनिया के विषय में अपेक्षाएँ रखने और पूर्व-अनुमान लगाने देता है।

- इन्सान **सक्रिय रूप से अनुकूलित** (operantly conditioned) होने के लिए भी तैयार (programmed) होता है। वह उपहार (या प्रोत्साहन) और दण्ड के नियमों के अनुसार काम करता है। उदाहरण के लिए, शिशु स्वाभाविक रूप से अपने सिर, हाथ-पैर और शरीर से सक्रिय होते हैं। हम किसी भी एक स्वाभाविक संचालन को चुन लें, जैसे सिर घुमाना, और ऐसा करने पर उसे हर बार चुसनी देकर पुरस्कृत करें। हम पाएँगे कि जल्दी ही शिशु की सिर घुमाने की क्रिया में तेज़ी आ गई है। सक्रिय रूप से अनुकूलित होने की क्षमता यह सुनिश्चित करती है कि शिशु केवल उन्हीं आचरणों का अभ्यास करेंगे और उन्हें सीखेंगे जो अनुकूल नतीजों तक ले जाएँ, जैसे भोजन या आराम। इस आसान से तरीके से वे दूध पीने जैसे प्रारम्भिक आचरण और बाद के अधिक जटिल आचरणों, जैसे भाषा और नाराज़गी जताना आदि में पारंगत होते हैं।
- मनुष्य दूसरों की नकल करने के लिए भी तैयार (programmed) होता है। यह अनुकूलित हुए बिना नए आचरणों को सीखने का एक तरीका है। एक अध्ययन में नौ माह के शिशुओं ने एक वयस्क को एक कब्जेदार बोर्ड को केवल एक बार नीचे की ओर दबाते हुए देखा। इसके 24 घण्टों बाद उन बच्चों ने स्वयं उस काम की नकल की (यह दरअसल **विलम्बित नकल** थी: जो तात्कालिक नकल से भी ज़्यादा सशक्त सीखने का औज़ार है)।
- शिशु कुछ ऐसे तैयार होते हैं कि वे



अपने द्वारा बनाए गए सह-सम्बन्धों को शुरुआती परिस्थिति की विशिष्टताओं के परे जाकर उन्हें **सामान्यीकृत** कर सकें। एक अध्ययन में तीन माह की आयु के शिशुओं के पैर एक लटकने वाले खिलौने से बाँध दिए गए जिसमें + आकार के टुकड़े थे। जल्द ही वे अपने पैर बार-बार चलाने लगे, शायद इसलिए क्योंकि इससे खिलौना मज़ेदार तरीके से हिलता था। इन शिशुओं को पन्द्रह-पन्द्रह मिनट तक तीन एक ही आकार के खिलौनों से खेलने दिया गया, केवल खिलौनों के रंग में फर्क था। अन्ततः वे तीनों ही सत्रों में तेज़ गति से लात मारते पाए गए। चौथा सत्र परीक्षा का था। इस बार आधे शिशुओं को वही + आकार के टुकड़ों वाला खिलौना दिया गया पर एक नए रंग में, जबकि शेष को पिछले रंगों में “B” आकार के टुकड़ों वाला खिलौना दिया गया। फिर क्या हुआ? जिन शिशुओं ने अलग रंग का + आकार के टुकड़ों वाला खिलौना देखा, वे तत्काल तेज़ गति से लात मारने लगे। जिन शिशुओं ने “B” आकार को देखा उन्होंने ऐसा नहीं किया। उन्होंने ऐसा आचरण किया मानो उन्होंने आकार और रंग की **अवधारणाओं** को सीख लिया हो। इस प्रकार के प्रयोग अमूर्तिकरण, श्रेणीकरण और अवधारणा बनाने की क्षमता की शुरुआत का संकेत देते हैं। ये क्षमताएँ जटिल और परिष्कृत होती हैं, पर अपने बुनियादी रूप में वे जीवन में काफी प्रारम्भ से मौजूद होती हैं।

- ‘सीखने की प्रोग्रामिंग’ का सबसे सुन्दर उदाहरण है शिशुओं द्वारा भाषा सीखने का तरीका। इसके विषय में बहुत कुछ लिखा गया है। शिशुओं में कई जन्मजात प्रवृत्तियाँ होती हैं जो उन्हें भाषा-सम्पन्न वातावरण में अनुक्रिया करने को प्रेरित करती हैं और वे चमत्कारिक तेज़ी से भाषा सीखते हैं। इन जन्मजात प्रवृत्तियों के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं। कुछ ही महीने के शिशु वाद्य यंत्रों की ध्वनि की बजाय लोगों की आवाज़ें पसन्द करते हैं; वे कई तरह की ध्वनि इकाइयों (phoneme) में अन्तर कर पाते हैं जैसे, ब/प और र/ल; वे दुनिया की किसी भी भाषा के लिए ज़रूरी सारे व्यंजन और स्वरों की ध्वनियाँ निकाल पाते हैं (किलकारियाँ, बड़बड़ आदि में); बोले गए पदों की व्याख्या सार्थक इकाइयों में कर सकते हैं; इन सार्थक इकाइयों के क्रम पर ध्यान दे पाते हैं; और सम्प्रेषण

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

के दौरान अपनी बारी आने पर संवाद करते हैं। इस लम्बी सूची का सार यह है कि मनोवैज्ञानिकों के अनुसार किसी सूचना प्रोसेसिंग-प्रणाली के लिए भाषा जैसी जटिल चीज़ को इतनी अच्छी तरह से इतने कम समय में सीखना असम्भव ही होता है, अगर कुछ बुनियादी बातें/प्रवृत्तियाँ पहले से ही मौजूद (programmed) न हों।

सीखने की जो क्षमता हम इन्सानों को मिली है उसे औज़ारों की एक प्रकार की किट के रूप में देखा जा सकता है जो हमारे पर्यावरण का अधिकतम लाभ उठाने में हमारी मदद करता है। और यह बात हमें इस किस्से के परवरिश पक्ष की ओर ले जाती है।

हमारी संज्ञानात्मक क्षमताओं में परवरिश का योगदान

हम जिन औज़ारों या उपकरणों के साथ जन्मते हैं वे अपने आप में खास मूल्यवान नहीं होते। ऊपर जिन जन्मजात क्षमताओं का वर्णन किया गया है, उनमें से प्रत्येक हमारे आसपास के पर्यावरण के विभिन्न पहलुओं से सम्बन्ध बनाकर काम करती है, और हमारे सीखने को अधिक परिष्कृत बनाती है। इस अर्थ में पर्यावरण की भूमिका स्पष्ट है। फिर भी यह प्रश्न रोचक है कि *हम चाहे जिस भी तरह के वातावरण में रहें, क्या हमारा सीखना उससे प्रभावित हुए बिना एक ही तरह से आगे बढ़ेगा?* जब पर्यावरण समृद्ध होता है [अनुभव और उद्भासन (in experience and exposure) दोनों में] तो क्या सीखना भी बेहतर होगा? और जब पर्यावरण विपन्न हो (जब बच्चे कई प्रकार से वंचित हों) तो क्या सीखने को भी नुकसान पहुँचेगा?

इन प्रश्नों पर हमारी सोच काफी कुछ इस बात पर निर्भर करती है कि हम पर्यावरण को किस प्रकार परिभाषित करते हैं। आप किसे एक सम्पन्न पर्यावरण मानते हैं, और वंचना भला क्या है? मैं शुरुआत एक परिभाषा से करती हूँ। हम पर्यावरण को मोटे तौर पर **विपन्न, सामान्य** या **समृद्ध** में विभाजित करते हैं। एक **सामान्य** पर्यावरण का अर्थ होगा कि उसमें कम से कम इस सूची में दी गई बातें मौजूद हों:

- पर्याप्त भौतिक सहयोग (भोजन और सुरक्षा),
- समाजीकरण का पर्याप्त परिचय,

- वाचिक (बोली गई) भाषा का पर्याप्त सामना,
- पर्याप्त मात्रा में वस्तुओं (प्राकृतिक या मनुष्य द्वारा निर्मित) की उपलब्धता और उनके साथ खेलने व काम करने के अवसर।

यह परिभाषा कई अलग-अलग तरह के पर्यावरणों पर लागू की जा सकती है। ऐसी न्यूनतम सूची बनाने का कारण यह है कि शिशु प्राकृतिक पर्यावरण में होने वाले रोज़मर्रा के अनुभवों से बहुत कुछ सीखने में सक्षम होते हैं। 'प्राकृतिक पर्यावरण' का अर्थ समझने के लिए ज़रा यह सोचें कि बच्चे बैठना, रेंगना, खड़े होना, चलना, बोलना और हाथों से चीज़ों का संचालन करना कैसे सीखते हैं। इन सभी चीज़ों को बच्चों को प्रत्यक्ष रूप से सिखाने की ज़रूरत नहीं पड़ती; सामान्य और स्वस्थ बच्चे के लिए किसी विशेष सामग्री या सहायक सामग्री की भी दरकार नहीं होती; आवश्यकता केवल एक 'सामान्य' पर्यावरण की होती है। मनोवैज्ञानिक डेविड गेयरी के अनुसार ऐसे पर्यावरण में मानव शिशु 'जैविक रूप से प्राथमिक क्षमताओं' को विकसित करने के लिए पहले से तैयार होते हैं। ऐसी क्षमताओं के उदाहरण हैं बोलना और समझना, त्रिआयामी स्थान की समझ (उदाहरण, दो बिन्दुओं के बीच न्यूनतम दूरी एक सीधी रेखा होती है), संख्याओं के छोटे (चार चीज़ों तक के) समूहों (sets) को गिनना। दुनिया भर के सामान्य पर्यावरण, एक-दूसरे से बहुत अलग होते हुए भी, ऐसे बच्चों की परवरिश करते हैं जो इन क्षमताओं के साथ बड़े होते हैं।

परन्तु बच्चे की आनुवंशिक प्रवृत्तियों का तब क्या होगा जब वह एक **समृद्ध** पर्यावरण में हो, जैसे स्कूल में? उद्विकासीय मनोविज्ञान (evolutionary psychology) की दृष्टि से कोई भी साधारण स्कूल एक सम्पन्न पर्यावरण ही होगा, चाहे वह हमारे मत में तुलनात्मक रूप से साधन-विहीन व प्रेरणाशून्य ही क्यों न हो। बच्ची का आनुवंशिक रुझान स्कूल जैसे वातावरण की



स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

अपेक्षा नहीं करता, जहाँ वयस्कों द्वारा उसे सायास कई चीज़ें सिखाने का प्रयत्न किया जाता है। दूसरे शब्दों में, क्या वह स्कूल में जैविक रूप से प्राथमिक क्षमताएँ और उनके भी परे कुछ हासिल करेगी? बेशक करेगी। प्रत्यक्ष निर्देशों द्वारा बच्ची वह भी हासिल कर सकेगी जिसे गेयरी **जैविक रूप से दोगम क्षमताएँ** कहते हैं। इसके उदाहरण हैं शब्दों का



अर्थ बूझना (decoding, अर्थात् पढ़ना और लिखना), त्रिआयामी ज्यामिति की औपचारिक समझ, संख्या शब्द और बड़े समूहों (sets) को समझना (चार से अधिक मदों को गिनना)... यह सूची अनन्त है और उसमें वह सब शामिल है जो पहली से बारहवीं कक्षा की स्कूली पाठ्यचर्या में होता है। स्कूल जैसा समृद्ध वातावरण हमारी जन्मजात संज्ञानात्मक क्षमताओं को आधार बनाते हुए बड़ी मात्रा में ज्ञान सीखने में हमारी मदद करता है।

हमें इस बिन्दु पर कुछ और समय बिताना चाहिए क्योंकि इस क्षेत्र में कुछ उम्दा शोध हुए हैं जो इस प्रश्न पर केन्द्रित हैं: हम संज्ञानात्मक क्षमताओं के जिन औज़ारों के साथ जन्मते हैं, स्कूली वातावरण किस प्रकार उन पर काम करता है? क्या स्कूली शिक्षण मस्तिष्क के काम करने के तरीके को बुनियादी रूप से सुधारता है? विभिन्न देशों में हुए शोध ने पाया है कि स्कूली शिक्षण अल्पकालिक याददाश्त को, अधिसंज्ञानात्मक कौशलों (metacognitive skills) को और कुछ क्षेत्रों में ज्ञान को बढ़ावा देता है। ऐसे भी अध्ययन हुए हैं जो दर्शाते हैं कि स्कूली शिक्षण से बुद्धि-लब्धि या आई.क्यू. (I.Q.) में वृद्धि होती है।'

1. इससे हम यह मानकर नहीं चल सकते कि स्कूली शिक्षण अपने आप में बुद्धिमत्ता (intelligence) को बढ़ाता है – परन्तु इस विषय पर अधिक जानने के लिए अध्याय सात देखें। बहरहाल, ज़्यादातर मनोवैज्ञानिक सहमत होंगे कि आई. क्यू. परीक्षाओं में अमूर्त, स्कूल-जैसे कामों की भरमार होती है। अतः आश्चर्य नहीं कि स्कूली शिक्षण इन परीक्षाओं में प्रदर्शन को बेहतर बनाता है।

परन्तु विकास मनोवैज्ञानिक माइकल कूले और उनके सहकर्मियों ने दुनिया के विभिन्न भागों में स्कूली शिक्षा प्राप्त और स्कूल नहीं गए बच्चों और वयस्कों, दोनों का अध्ययन किया है। और उनका निष्कर्ष है कि “स्कूली शिक्षण का बच्चों के सोचने के तरीके पर कोई गहरा व सामान्य असर नहीं पड़ता।” बल्कि **स्कूल जैसे कार्यों में बच्चे कैसा प्रदर्शन करते हैं**, उसे स्कूली शिक्षण बदल देता है। कूले के कार्य के कुछ रोचक उदाहरण हैं:

- लाइबेरिया के वाई (wai) लोगों के एक समूह से पूछा गया कि वे फ़ैसला करें कि कई वाक्यांश (जो उनकी ही भाषा में बोले गए थे) सही हैं या नहीं। कूले ने पाया कि इस काम में शिक्षित और अशिक्षित वाई बराबर रूप से अच्छा प्रदर्शन कर पाए; परन्तु केवल शिक्षित वाई ही यह बता पाए कि कोई वाक्यांश व्याकरण की दृष्टि से गलत क्यों था। क्यों को स्पष्ट करना ठेठ स्कूली काम है जो स्कूल के बाहर निहायत अनावश्यक है। वहाँ इतना जानना कि व्याकरण अशुद्ध है, और तब उसे ठीक करने की क्षमता होना काफी होता है।
- ग्रामीण गुआटेमाला के अशिक्षित माया बच्चों के एक अध्ययन में पाया गया कि उसी आयु के शिक्षित अमरीकी बच्चों की तुलना में असम्बद्ध शब्दों की सूची को पुनः याद करने के काम में उनका प्रदर्शन खराब था। परन्तु जब याददाश्त पर आधारित इस काम को थोड़ा-सा बदल दिया गया तब अशिक्षित माया बच्चों का प्रदर्शन उनके हमउम्र शिक्षित अमरीकी बच्चों के समान ही अच्छा रहा। बारबरा रोगॉफ और कैथरीन वाडेल ने 80 सूक्ष्म आकार की वस्तुएँ (जानवर, लोग, फर्नीचर आदि) इकट्ठी कर एक मेज़ पर रख दीं। उन्होंने इनमें से 20 को चुना और उन्हें माया ग्राम के परिचित परिदृश्य में जगह-जगह पर रख दिया। कुछ मिनटों बाद बच्चों से पूछा गया कि वे उन 20 वस्तुओं को फिर उसी तरह रखें जैसे वे पहले रखी गई थीं। इस काम में शिक्षित अमरीकी बच्चे बेहतर प्रदर्शन नहीं कर पाए। यानी याद रख पाने की क्षमता शिक्षण से अप्रभावित रहती है, परन्तु सूचियों को याद करने का नया कौशल, जो स्कूल में उपयोगी रहता है, प्रशिक्षण से सीखा जा सकता है।
- तीसरा उदाहरण अवधारणात्मक वर्गीकरण के क्षेत्र में हुए काम से आता है। शिक्षित बच्चे और वयस्क अमूमन शब्दों की सूची को वर्गीकरण-

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

शास्त्रीय (taxonomic) समूहों में, जैसे 'पशु', 'पेड़-पौधे', और 'भोजन' आदि में बाँटते हैं। परन्तु कूले और उनके सहकर्मियों ने पाया कि अफ्रीका में जिन लोगों ने स्कूली शिक्षण नहीं पाया था, वे शब्दों को उनके काम या उपयोग के हिसाब से बाँटते हैं, जैसे 'खाने लायक' और 'अखाद्य'। जब उनसे कहा गया कि वे चीज़ों को उस प्रकार वर्गीकृत करें 'जैसे बेवकूफ लोग करते हैं', तो उन्होंने दर्शाया कि वे भी शब्दों को वर्गीकरण शास्त्र (taxonomy) के आधार पर छाँटने की क्षमता रखते हैं। स्कूली शिक्षण अवधारणा और श्रेणियाँ बनाने के प्रकारों को प्रभावित करता है, स्वयं उस क्षमता को नहीं।

कूले ने ठेठ स्कूली वातावरण का काफी सटीक वर्णन किया है:

... भेड़ चराने, छोटे भाई-बहनों की देखभाल करने, या बाज़ार में बेचने के लिए दरियाँ बुनने का काम जिन बच्चों को सौंपा जाता है, उनके विपरीत स्कूल जाने वाले बच्चे कहीं ज्यादा समय बोल और सुनकर सीखने में बिताते हैं..., काम करके नहीं। स्कूल में बोली जाने वाली बातों के लिए न केवल अमूर्त अवधारणाओं पर दखल की आवश्यकता होती है, उसकी ज़रूरत यह भी होती है कि इस दखल का उपयोग वास्तविक जगत् के उन सन्दर्भों से परे किया जाए जिन पर वे दरअसल लागू होते हैं। उदाहरण के लिए, पौधों के विकास पर सूरज की किरणों के असर की बात करने वाला जीव विज्ञान का पाठ बिना खिड़की वाले ऐसे कमरे में भी पढ़ाया जा सकता है जिसमें कोई पौधे न हों। नतीजतन बच्चों को शब्दों के समूहों में सूक्ष्म अन्तरों को पहचानकर अर्थ का निर्माण करना सीखना पड़ता है।²

— माइकल और शीला आर. कूले: "द डेवलपमेंट ऑफ चिल्ड्रन"

हम पल भर को ज़रा पीछे हटकर तस्वीर को कुछ दूरी से देखते हैं। मनुष्य कई उपयोगी आनुवंशिक रुझानों के साथ पैदा होता है जो उसे उसके

2. कूले सामान्य स्तर पर परम्परागत स्कूली पर्यावरण की बात कर रहे हैं। बेशक स्कूल में सीखने और सिखाने की गुणवत्ता में दुनिया भर में बहुत विविधता है, और भारत में भी शिक्षा के कई रोचक वैकल्पिक तरीके मौजूद हैं। सीखने पर केन्द्रित अध्याय दो ने यह दर्शाया था कि पढ़ाने के ऐसे तरीके भी हैं जो बेहतर सीखने को प्रोत्साहित करते हैं। अमूमन स्कूल मस्तिष्क की प्रक्रियाओं को बुनियादी रूप से नहीं बदलते, इस निष्कर्ष का अर्थ यह नहीं निकालना चाहिए कि अच्छी शिक्षा बच्चे को कुछ भी नहीं सिखाती!



पर्यावरण से 'सीखने को तैयार' बनाते हैं। यह सीखना उसकी 'प्रकृति या स्वभाव' द्वारा निर्देशित होता है। लगता है कि स्कूल जैसा समृद्ध पर्यावरण कुछ विशेष प्रकार की समस्याओं को हल करने के बच्चे के तरीके को बदल देता है – पढ़ने, लिखने और गणितीय कलन (calculation) हल करने की क्षमताओं में बच्चे को प्रशिक्षित करने के साथ ही स्कूल उसे ढेर-सी जानकारी देता है और इस ज्ञान को औपचारिक रूप से व्यवस्थित करने को प्रोत्साहित करता है। परन्तु उसके मस्तिष्क के काम करने के तरीके को स्कूल बुनियादी रूप से नहीं बदलता। वास्तविक जगत् में सामान्य बुद्धि वाली परिस्थितियों में स्कूल में पढ़े बच्चे बेहतर चिन्तक नहीं होते, फिर चाहे वे स्कूली दुनिया के कामों में बेहतर प्रदर्शन क्यों न करें।

तो फिर स्कूल को लेकर इतनी माथापच्ची भला क्यों? इसलिए क्योंकि हम अमूमन स्कूल को एक समृद्ध पर्यावरण के रूप में देखते ही नहीं हैं। बल्कि इसके ठीक विपरीत हमें यह लगता है कि जिस बच्चे की स्कूल तक पहुँच नहीं है, वह एक **विपन्न** पर्यावरण में है। आज के जटिल और तकनीकी रूप से विकसित समाज में सफल होने के लिए हमें अपनी जैविक प्राथमिक क्षमताओं से कहीं अधिक की ज़रूरत पड़ती है (कुछ लोग यह कह सकते हैं कि केवल सफल होने के लिए नहीं, बल्कि ज़िन्दा रहने के लिए भी)। हम अपने शिकारी-एकत्रक पूर्वजों से बहुत दूर आ गए हैं। अतः हालाँकि उद्विकास की दृष्टि से स्कूल एक समृद्ध पर्यावरण है, समाज की दृष्टि से स्कूल एक सामान्य पर्यावरण ही है। आज हम में से अधिकांश को शिद्दत

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

से यह लगता है कि स्कूल के बिना बच्चे वंचित हैं। जब हम प्रकृति और परवरिश के मसले पर विचार करें तो हमें यह बिन्दु ध्यान में रखना चाहिए कि हम आज जिस पर्यावरण में जी रहे हैं, हमारे मस्तिष्क का उद्विकास उससे नितान्त भिन्न पर्यावरण की समस्याओं को सुलझाने के लिए हुआ था। आज वास्तविक जगत् की कई तो क्या, शायद अधिकांश परिस्थितियाँ ऐसी अमूर्त समस्याओं से भरी हैं जिन्हें हमें सुलझाना पड़ता है। और स्कूली शिक्षा इसके लिए ज़रूरी कौशलों में हमें प्रशिक्षित करती है।

बेशक सिक्के का दूसरा पहलू एक वास्तविक विपन्न पर्यावरण है। ऐसे पर्यावरण में जीने वाले बच्चों के कई विवरण उपलब्ध हैं। इनमें भेड़ियों द्वारा पाले गए बच्चों से लेकर बदहाल संस्थाओं के अनाथ बच्चे शामिल हैं। ये पर्यावरण इस कदर विपन्न होते हैं कि वे बच्चों को उस न्यूनतम सूची के अनुभव तक उपलब्ध नहीं करवाते जिसके बारे में आपने चन्द पन्नों पहले पढ़ा था। इस क्षेत्र में हुआ शोध विकास के क्रान्तिक या संवेदनशील (critical) चरणों के प्रश्न को देखता है, जिसे हम पिछले अध्याय में सम्बोधित कर चुके हैं।

‘सार्वभौमिक बिन्दुओं’ की चर्चा का सार-संक्षेप यह है कि मनुष्यों के पास सीखने के तौर-तरीकों का प्रभावशाली संकलन है जो जन्मजात है, और तमाम तरह के सामान्य पर्यावरणों से मिलकर ये परिष्कृत सीखने की ओर ले जाते हैं। परन्तु पर्यावरण में महत्वपूर्ण बदलाव ठीक इन्हीं आनुवंशिक रुझानों को अलग प्रकार की अभिव्यक्ति की ओर ले जा सकते हैं। उदाहरण के लिए, अगर पर्यावरण विपन्न हो तो सम्भव है कि बच्चे अगर कुछ सीखें भी तो बहुत कम सीख सकेंगे, जबकि एक समृद्ध पर्यावरण में, जैसे स्कूल में, वे खूब सारा सीख पाते हैं। यानी हमारे पर्यावरण में हमारे आनुवंशिक रुझानों को नियंत्रित करने की काफी ताकत होती है।

व्यक्तिगत अन्तरों का सवाल

क्या व्यक्तिगत आनुवंशिक अन्तरों को पर्यावरण द्वारा बदला जा सकता है?

यह प्रश्न इस बुनियादी धारणा को मानकर चलता है कि अधिकांश मानवीय विशेषताओं में विविधता का पाया जाना ही स्वाभाविक है। पिछले भाग में

हमने देखा था कि सभी शिशु कुछ रुझानों के साथ पैदा होते हैं, पर सच यह भी है कि शिशु भी इन रुझानों के मामले में एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। उदाहरण के लिए, नवीनता को पसन्द करने की बात को ही लें। कुछ शिशुओं को किसी दोहराए गए उद्दीपन की 'आदत' जल्दी पड़ जाती है, और इसलिए वे किसी नए उद्दीपन के प्रति जल्दी आकर्षित होते हैं। कुछ शिशु अन्य शिशुओं की तुलना में अधिक तेज़ी से सक्रिय रूप से अनुकूलित (operantly conditioned) होते हैं। कम उम्र में स्वभावगत विशेषताओं में पाए जाने वाले अन्तरों, जैसे चिड़चिड़ापन, जल्दी ही दुखी होने की वृत्ति, शान्त होने की क्षमता, ध्यान भटकना, नियंत्रण का विरोध करना आदि, पर बहुत शोध हो चुका है।³ नवजात शिशु भी स्पष्ट स्वभावगत अन्तर दर्शाते हैं और माना यह जाता है कि ये अन्तर तंत्रिका प्रणाली पर आधारित हैं।

मनोवैज्ञानिकों के दिमाग में उठने वाला अगला प्रश्न यह है कि क्या ये जन्मजात अन्तर एक अर्से तक टिके रहते हैं, क्या वे भविष्य में भी अन्तरों की ओर ले जाते हैं, और उनका प्रभाव भविष्य में कितनी दूर तक जाता है। क्या एक चिड़चिड़ा शिशु एक बदमिज़ाज विद्यार्थी बनता है? क्या जल्दी दुखी होने वाला शिशु एक चिन्ताग्रस्त विद्यार्थी बनता है? यह जाँचने के लिए आपको विद्यार्थियों के समूहों का कई सालों तक अवलोकन करना पड़ता है, और शुरुआती और बाद में आए अन्तरों को मापना होता है। कई अध्ययनों ने ऐसा किया है। उदाहरण के लिए, मनोवैज्ञानिक जॉन बेट्स और उनके सहकर्मियों ने छह माह के शिशुओं के एक बड़े समूह का दस वर्ष की उम्र तक अनुसरण किया। पहले दो सालों तक उन्होंने शिशुओं में वह नापा जिसे 'नियंत्रण का विरोध' कहते हैं। इसमें ऐसे आचरण शामिल थे जैसे किसी चीज़ से खेलने से मना करने के बावजूद खेलना जारी रखना। ठीक इन्हीं बच्चों का मूल्यांकन तब भी किया गया जब वे दस साल के हो गए। तब बेट्स ने उनके शिक्षकों से कहा कि वे इन बच्चों के बाह्यीकृत आचरण (externalising behaviour या दूसरे शब्दों में अवज्ञाकारी या आक्रामक व्यवहार) का मूल्यांकन करें। बेट्स ने पाया कि जिन बच्चों को दस वर्ष की आयु में शिक्षकों ने 'हठी'

3. ये आचरण सम्बन्धी प्रवृत्तियों में व्यक्तिगत अन्तर हैं जो जीवन में बहुत प्रारम्भ में ही देखे जा सकते हैं और जो विभिन्न परिस्थितियों में तुलनात्मक रूप से स्थाई होते हैं।

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

पाया था, उनमें से कई ने शिशुओं के रूप में 'नियंत्रण के प्रति विरोध' भी दर्शाया था।

इस तरह की निरन्तरता काफी चिन्ताजनक लगती है। अगर कोई बच्चा कुछ खास तरह के आचरण की प्रवृत्तियों के साथ पैदा होता है तो क्या बाद में कुछ खास परिणाम अपरिहार्य हो जाते हैं? किसी चीज़ का अपरिहार्य होना अमूमन हमें निराश करता है और हम उसे बदलने की कोशिश ही 'त्याग' देते हैं। ऐसे में अगर हम किसी ऐसे शिशु को देखें जो नियंत्रण का भारी विरोध करता हो, तो हम कह सकते हैं, "यह तो स्कूल में बड़ी ही हठी बच्ची बनेगी और इस बारे में आप कुछ भी नहीं कर सकते।" परन्तु सौभाग्य से इस बात का प्रमाण है कि ऐसे मामलों में बच्चे के आसपास के पर्यावरण से फर्क पड़ता है। उपरोक्त शोध में बेट्स और उनके सहकर्मियों ने बच्चों का अध्ययन तब भी किया था जब वे पाँच साल के थे। उन्होंने उस समय उनकी माताओं के प्रतिबन्धक नियंत्रण के स्तर को नापा, जैसे निषेधों को और बच्चों के असुविधाजनक या नुकसानदेह आचरण की प्रतिक्रिया में डाँट-फटकार को। उनके नतीजों ने गुणसूत्रों और पर्यावरण के बीच स्पष्ट अन्तरक्रियाओं का संकेत दिया। उदाहरण के लिए, जिन बच्चों ने शिशुओं के रूप में नियंत्रण का विरोध दर्शाया था, पर पाँच साल की उम्र में उन्होंने प्रतिबन्धक नियंत्रण का अनुभव पाया था, दस साल की उम्र में उनके बाह्यीकृत आचरण का स्तर घटा हुआ पाया गया। पर जो शिशु *नियंत्रण का विरोध नहीं करते* थे, परन्तु पाँच वर्ष की आयु में उन्होंने प्रतिबन्धक नियंत्रण का अनुभव किया, वे दस वर्ष की उम्र में *अधिक* हठी पाए गए!

इन प्रभावों को भला कैसे समझा जा सकता है? आनुवंशिक और पर्यावरण सम्बन्धी प्रभाव कई सम्भाव्य तरीकों से साथ-साथ घट सकते हैं। एक सम्भावना यह है कि शैशव में बच्चे का हठी आचरण माता-पिता की खेल प्रवृत्ति में गिरावट लाता है और उन्हें कठोर या सख्त बनाता है (अर्थात् वे कड़ाई से अनुशासन करते हैं), और यह पलटकर बाद में स्कूल में बच्चे के आचरण को प्रभावित करता है। इस परिघटना के तमाम प्रमाण हैं और इसके लिए जो तकनीकी शब्द है वह *प्रतिक्रियाशील सह-प्रसरण* (reactive covariance) है। एक और सम्भावना यह है कि किसी खास तरह के स्वभाव वाले बच्चे अपने पर्यावरणों को स्वयं ऐसा आकार दें कि जिससे वे कुछ

परिणामों तक पहुँचें। उदाहरण के लिए, जब कोई डरपोक या संकोची बच्चा सामाजिक परिस्थितियों से कन्नी काटता है तो उसे सामाजिक कौशलों को सीखने के कम अवसर मिलते हैं। नतीजतन वह उससे भी अधिक संकोची व शर्मीला बनता है जितना वह तब होता जब उसका वातावरण अलग तरह का होता। यही *क्रियाशील सह-प्रसरण* कहलाता है। स्वाभाविक ही यह हमें इस निष्कर्ष की ओर ले जाता है कि बच्चे के पर्यावरण में समुचित बदलाव लाने से जन्मजात भिन्नताओं को बेहतर के लिए बदला जा सकता है। कई अध्ययनों में माता-पिता को उनके बच्चों के चिड़चिड़ेपन या दुख के प्रति बेहतर अनुक्रिया करने का प्रशिक्षण देने की असरकारिता को देखा गया है। इन अध्ययनों के नतीजे दर्शाते हैं कि इससे बच्चों की नए-नए खेलों में भागीदारी, सामाजिक कौशलों, स्कूल में समायोजन (adjustment) और अकादमिक उपलब्धियों में फायदा होता है।

निष्कर्ष

प्रकृति व परवरिश के मुद्दे की व्यापक छानबीन से साफ है कि जिस सवाल से हमने शुरुआत की थी, उसमें कई पेचीदगियाँ हैं। हमारा निष्कर्ष यह है कि स्लेट बिलकुल कोरी नहीं होती, पर साथ ही हम जिन क्षमताओं के साथ पैदा होते हैं, उनके विकास में हमारा पर्यावरण भी एक सशक्त भूमिका निभाता है। हम यह भी देखते हैं कि प्रकृति और परवरिश एक-दूसरे से एक चक्रीय तरीके से अन्तरक्रिया करते हैं, बड़ी खूबसूरती से एक-दूसरे में गुँथे हुए होते हैं।

इस अध्याय की चर्चा का स्वर काफी तटस्थ और भावहीन रहा है, जो वास्तविक जीवन में प्रकृति और परवरिश पर होने वाली बहसों से बहुत अलग है। शीर्षस्थ मनोवैज्ञानिक, जो अपने-अपने क्षेत्रों में विलक्षण विश्लेषणकर्ता हैं, प्रकृति-परवरिश खाई के विपरीत छोरों से युद्ध करते रहे हैं। और इस युद्ध के कारण हल्के फुल्के नहीं हैं। यह एक ऐसा मनोवैज्ञानिक सवाल है जिसके इस बात के लिए गम्भीर व महत्वपूर्ण निहितार्थ हैं कि हम अपने समाज की रचना किस प्रकार करते हैं। अगर हम यह मानते हैं कि हमारी आनुवंशिकता ही यह तय करती है कि भविष्य में हम क्या बनेंगे, तो क्या हम वंचित लोगों के पर्यावरण को सुधारने में निवेश करेंगे? कई लोगों को भय है कि जब

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

मनोवैज्ञानिक जन्मजात क्षमताओं और प्रवृत्तियों के बारे में लिखते हैं, तो या तो वे भ्रमित हैं या फिर गैर-ज़िम्मेदार। ऐसा इसलिए क्योंकि उनके नतीजे इस विश्वास की ओर ले जा सकते हैं कि **जीव विज्ञान ही नियति है**।

‘जीव विज्ञान ही नियति है’ के दो अर्थ हो सकते हैं:

- मनुष्य के जीवन में कई तरह के परिणाम तयशुदा या अपरिहार्य होते हैं।
- जो ताकत इन परिणामों को तय करती है, वह हमारा जीव विज्ञान या हमारी आनुवंशिक खासियतें हैं, न कि हमारा पर्यावरण।

यह दावा कुछ ज़्यादा ही दृढ़ लगता है। हम में से ज़्यादातर लोग यह मानते हैं कि परिणाम तयशुदा नहीं होते और उन्हें हमारे प्रयासों द्वारा हमेशा बदला जा सकता है। हम में से कई यह भी मानते हैं कि पर्यावरण भी परिणामों को पूरी तरह से निर्धारित नहीं कर सकता। तो क्या कोई सच में यह मानता भी है कि जीव विज्ञान ही नियति है? दुर्भाग्य से दुनिया भर में और समूचे मानव इतिहास में इस मान्यता के तमाम उदाहरण मौजूद हैं जिनमें किसी समूह विशेष के साथ इसलिए भेदभाव किया गया, क्योंकि उन्हें ‘जैविक रूप से कमतर’ माना जाता था। गरीबी जैसी सामाजिक समस्याओं की व्याख्या भी मौके न मिलने की बजाय क्षमताओं के आधार पर दी जाती है। अर्थात् एक राजनीतिक नज़रिया यह भी है कि जिन लोगों के पास कुछ खास क्षमताएँ होती हैं वे जीवन में सफल होंगे, और जिनमें वे मौजूद न हों वे गरीब रहेंगे। पर दूसरा दृष्टिकोण यह है कि अगर अच्छी शिक्षा, स्वास्थ्य, और नौकरी के अवसर मिलें तो कोई भी सफल हो सकता है।

ये कठिन मुद्दे बार-बार उभरेंगे। अगला अध्याय हमें यह पूछने को उकसाता है कि अगर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचें कि हमारे अनैतिक व्यवहार के कुछ पक्ष जन्मजात हैं, तो क्या हमें कुछ अपराधों को क्षमा करना होगा? नैतिक और व्यक्तिगत ज़िम्मेदारी के सवाल प्रकृति-परवरिश के विभाजन से गहरे जुड़े हैं। अध्याय आठ में जब हम बुद्धिमत्ता के विषय पर सोचेंगे तब हमें फिर इसी सवाल का सामना करना पड़ेगा।

सन्दर्भ और पुस्तक सूची

1. एसबरी, के., टी.डी. वाक्स, और आर. प्लॉमिन, 2005। 'एंवायरमेंटल मॉडरेटर्स ऑफ जेनेटिक इंप्लुएंस ऑन वर्बल एंड नॉनवर्बल एबिलिटीज़ इन अर्ली चाइल्डहुड।' *इंटेलिजेंस*, 33, 643-61
2. बेट्स, जे.ई., जी.एस. पेटित, के.ए. डॉज, और बी. रिज, 1998। 'इंटरएक्शन ऑफ टेंपरामेंटल रेज़िज़ेंट्स टु कंट्रोल एंड रेस्ट्रिक्टिव पेरेटिंग इन द डेवलपमेंट ऑफ एक्स्टरनलाइज़िंग बिहेवियर।' *डेवलपमेंटल साइकॉलजी*, खण्ड-34, संख्या-5, 982-95
3. ब्रूनर, जे.एस., और एम.सी. कूले, 1971। 'कल्चरल डिफरेंसेज़ एंड इंफरेंसेज़ अबाउट साइकोलॉजिकल प्रोसेसेज़।' *अमेरिकन साइकॉलजिस्ट*, 26, 867-76
4. कूले एम.सी., और एस.आर. कूले, 1993। *द डेवलपमेंट ऑफ चिल्ड्रन। साइंटिफिक अमेरिकन बुक्स।*
5. कॉलिस, डब्लू.ए., ई.ई. मैककोबी, एल. स्टाइनबर्ग, ई.एम. हैदरिंगटन और एम.एच. बॉर्नस्टाइन, 2000। 'कंटेम्पररी रिसर्च ऑन पेरेटिंग: द केस फॉर नेचर एंड नचर।' *अमेरिकन साइकॉलजिस्ट*, खण्ड-55, संख्या-2, 218-32
6. पिंकर, एस., 2002। *द ब्लैक स्लेट: द मॉडर्न डिनायल ऑफ ह्यूमन नेचर।*
7. रोगॉफ बी., और पी. शावाजे, 1995। 'व्हॉट्स बिकम ऑफ रिसर्च ऑन द कल्चरल बेसिस ऑफ कॉग्निटिव डेवलपमेंट?' *अमेरिकन साइकॉलजिस्ट*, खण्ड-50, संख्या-10, 859-77
8. वॉक्स, टी.डी., 2006। 'कॉन्ट्रिब्यूशंस ऑफ टेंपरामेंट टु बफरिंग एंड सेंसिटाइज़ेशन प्रोसेसेज़ इन चिल्ड्रंस डेवलपमेंट।' बी. लेस्टर, ए. मास्टेन और बी. मैकईवन (सम्पादित) *रेज़िलिएंस इन चिल्ड्रन* में शामिल। एनल्स ऑफ द न्यू यॉर्क एकेडमी ऑफ साइंस, खण्ड-1094, 28-29
9. वॉकर, एस.पी., टी.डी. वॉक्स, जे.एम. गार्डनर, बी. लॉजॉफ, जी.ए. वासरमान, ई. पॉलिट, जे.ए. कार्टर और द इंटरनेशनल चाइल्ड डेवलपमेंट स्टीयरिंग ग्रुप, 2007। 'चाइल्ड डेवलपमेंट: रिस्क फैक्टर्स फॉर एडवर्स आउटकम्स इन डेवलपिंग कंट्रीज़।' *लैंसेट*, 369, 145-57

अध्याय-6

नैतिक विकास



तकरीबन चालीस वर्ष पहले, दुनिया भर के अखबारों ने एक सौम्य व अहिंसक कबीले को खोज निकालने की घोषणा की जो सभ्यता से अछूता, फिलीपींस के बरसाती जंगलों के एक खूबसूरत इलाके में निवास करता था। पत्तों से बने वस्त्रों में अपना दैनिक काम करते टासाडे (Tasaday) कबीले के लोगों के चित्र प्रकाशित हुए और जल्दी ही यह खबर फैल गई कि उनकी शब्दावली में 'युद्ध' या 'हथियार' के लिए शब्द तक नहीं थे। इस कहानी ने कई लोगों के भीतर गहरे पैठी इस धारणा को पुख्ता किया कि मनुष्य

स्वाभाविक रूप से अच्छा होता है। लगभग दस साल बाद 'पता चला' कि इस कबीले की कथा शायद किसी चालबाज़ ने ईजाद की थी, जिसने इस पूरी घटना से लाभ कमाया। टासाडे लोग वाकई थे भी या नहीं, यह आज तक निश्चित नहीं हो पाया है। परन्तु रोचक यह है कि दुनिया ने इस कथा को कैसे सच मान लिया! यह दर्शाता है कि अठारहवीं शताब्दी के दार्शनिक ज़्याँ-जाक्स रूसो द्वारा लोकप्रिय बनाए गए 'उदात्त जंगली' (noble savage) के विचार में हम कितना विश्वास करते हैं। रूसो मानते थे कि "मानव हृदय में किसी भी प्रकार की मूल विकृति नहीं होती"। अगर जंगली लोग उदान्त हो सकते हैं तो नन्हे बच्चे, जो वयस्क समाज के प्रभाव से लगभग अछूते होते हैं, वे भी उतने ही उदान्त होने चाहिए। और ठीक यही बात हमें नैतिक विकास में शिक्षा की भूमिका के हृदयस्थल तक ले जाती है।

क्या आप मानते हैं कि बच्चे स्वाभाविक रूप से 'अच्छे' होते हैं और समाज की 'बुराइयाँ' उन्हें भ्रष्ट कर देती हैं? या आपको लगता है कि बच्चे स्वाभाविक रूप से 'असभ्य' होते हैं और उन्हें नैतिक इन्सान बनाने के लिए समाजीकरण आवश्यक होता है? शिक्षकों के रूप में हम विद्यार्थियों के आचरण से जुड़ी स्थितियों से कैसे निपटते हैं, यह इस बात से भी तय होता है कि हम इस रेखा के किस ओर खड़े हैं। क्या हम मानते हैं कि इन्सान की



स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

बुनियादी प्रकृति को सभ्यता और समाज बेहतर बनाते हैं या भ्रष्ट कर देते हैं। जो भी हो हम अपने विद्यार्थियों के सामने जो लक्ष्य रखते हैं वे केवल अकादमिक लक्ष्य भर नहीं होते। हम चाहते हैं कि वे सच बोलें, एक-दूसरे से अपनी चीज़ें बाँटें, सहयोग करें, मदद करें, दया करें, सम्मान करें, साहसी बनें... और साथ ही झूठ न बोलें, एक-दूसरे को चोट न पहुँचाएँ, स्वार्थी, आलसी, बदतमीज़ या डरपोक न बनें। अब, सम्भव है कि इन वांछनीय गुणों के बीज छोटे बच्चों में पहले से मौजूद हों। कुछ शिक्षक मानते हैं कि उनका काम मुख्य रूप से बच्चे की स्वाभाविक उदारता, कोमलता और ईमानदारी को बने रहने देना है।

परन्तु बहुत-से शिक्षकों की धारणा यह होती है कि उनके काम का एक हिस्सा यह भी है कि वे विद्यार्थियों को चीज़ें साझा करना, परस्पर सहयोग करना और आक्रामक आचरण से बचना सिखाएँ और उनमें 'सही विचार स्थापित करें', क्योंकि यह सब स्वाभाविक रूप से नहीं होता। इस तरह बच्चे के लिए स्कूल ही सबसे सशक्त समाजीकरण की ताकत बन जाता है। दरअसल समाजीकरण की प्रक्रिया स्कूल के काफी पहले ही शुरू हो जाती है। बच्चे अपनी पहली वर्षगाँठ के पहले ही अनुशासनात्मक कार्यवाहियों से काफी सूचना पा लेते हैं; उन्हें चेताया जाता है, फुसलाया जाता है, धमकाया व दण्डित किया जाता है, उन्हें आज्ञा दी जाती है और रोका या मना भी किया जाता है। करीब चार साल की उम्र तक आते-आते बच्चों से उम्मीद की जाती है कि वे कई तरह के अनुरोधों और माँगों का, जो सुरक्षा, सम्पत्ति के सम्मान, दूसरों के सम्मान, पारिवारिक और सामाजिक मानकों से सम्बन्धित हों, पालन करेंगे। जब वे छह साल के हो जाते हैं, तो वे औपचारिक शिक्षा प्रारम्भ करते हैं। और ज़्यादातर भारतीय स्कूलों में, चाहे वे धार्मिक हों या धर्मनिरपेक्ष, बच्चों को सभ्य आचरण और नैतिकता की शिक्षा देने पर समय लगाया जाता है। ऐसे नैतिक पाठ सभी कक्षाओं के लिए नियमित रूप से दिए जाते हैं, सम्भवतः सप्ताह में एक बार।

दुर्भाग्य से समाजीकरण और अनुशासन की सालों-साल चलने वाली इस प्रक्रिया के नतीजे ठीक वैसे नहीं होते जो दरअसल हमारे लक्ष्य थे। समस्या शायद यह है कि ये नैतिक पाठ अमूर्त और मौखिक होते हैं। कहावत है न,

कि मूल्य उदाहरण के ज़रिए ही पकड़े जा सकते हैं; निर्देशों द्वारा पढ़ाए नहीं जा सकते। बहरहाल, हम चाहे कोई-सा भी नज़रिया क्यों न अपनाएँ, हम तब तक प्रभावी नहीं हो सकते जब तक हम नैतिक विकास की वास्तविक पेचीदगियों को समझ न लें। नैतिक विकास इस कदर पेचीदा क्यों है, इसके कम से कम चार कारण हैं:

- नैतिकता (जो सार्वभौमिक हो सकती है), और प्रथा (जो अपने परिवार या समाज तक सीमित होती है) में अन्तर होता है। बच्चे इस अन्तर को कैसे समझते हैं? अर्थात् वे यह कैसे जान पाते हैं कि **कुछ चीज़ें क्यों 'सही' हैं, और कुछ अन्य गलत?**
- हालाँकि समाजीकरण की प्रक्रिया काफी जल्दी प्रारम्भ होती है, **वयस्कों के नियम कोरी स्लेटों पर नहीं लिखे जाते।** शोध सुझाता है कि बच्चों में सम्भवतः स्पर्धा, सहकार, सहवेदना या समानुभूति जैसी और परोपकारी, आक्रामक या भयभीत होने की जन्मजात प्रवृत्तियाँ होती हैं।
- वयस्क जो भी सामाजिक मानदण्ड देते हैं उन्हें बच्चे ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं लेते। नैतिक विकास का मतलब आचरण के नियमों को महज़ सोख लेना नहीं है। उसी तरह जैसे संज्ञानात्मक विकास का मतलब केवल ज्ञान को स्वीकार करना भर नहीं होता। यहाँ भी **नियमों को आत्मसात करना एक रचनात्मक प्रक्रिया** होती है।
- नैतिक ज्ञान होने मात्र से हमेशा नैतिक आचरण सुनिश्चित नहीं हो जाता। वह क्या है जो किसी व्यक्ति से 'अपने सिद्धान्तों के अनुरूप काम करवाता है'? अक्सर **हम जो कहते हैं और जो करते हैं इसमें विसंगति होती है**, और यह विसंगति जितनी नैतिकता में होती है उतनी किसी अन्य क्षेत्र में नहीं होती।

इस अध्याय में उपरोक्त चारों बिन्दुओं की विस्तार से, मनोवैज्ञानिक शोध के उदाहरणों के साथ जाँच-पड़ताल की जाएगी। शुरुआत हम नैतिकता और प्रथा के बीच भेद से करेंगे और मनोवैज्ञानिक इतिहास में कुछ अन्तर्संस्कृतिक शोध (cross-cultural research) को भी देखेंगे।

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

यह 'सही' क्यों है?

क्या आपको याद है कि आपने आखिरी बार कब किसी विद्यार्थी को किसी दूसरे विद्यार्थी को धमकाने पर टोका था? अगर आपने उसे टोकने का कोई कारण दिया हो तो याद करने की कोशिश करें कि क्या आपने उसे यह कहा था, 'इस स्कूल में हम धौंसगिरी सहन नहीं करते' या 'उस दूसरे इन्सान को कितना बुरा लगेगा।' या फिर अगर आपने किसी विद्यार्थी को बड़ों के साथ शिष्ट बर्ताव करने को कहा हो तो आपके द्वारा बताया गया कारण क्या 'शिष्ट रहना, अच्छा आचरण है' था, या फिर 'इससे दूसरे को खुशी होती है।' जब भी कोई विद्यार्थी कुछ ऐसा करता है जिसका आप अनुमोदन नहीं करते, तो सम्भावना यह है कि आप उस वक्त कम से कम इन तीन बुनियादी बातों को सम्प्रेषित करें:

- बन्द करो!
- बन्द करो, नहीं तो तुम्हें इस या उस तरह की सज़ा मिलेगी।
- बन्द करो, क्योंकि फलौं-फलौं कारणों के चलते ऐसा करना नहीं चाहिए।

शिक्षकों के रूप में अगर हम ऊपर दी गई सूची के पहले निर्देश से आगे नहीं बढ़ते, तो मनोवैज्ञानिक शोध के अनुसार हमारा हस्तक्षेप खास प्रभावी नहीं होगा। दूसरी प्रतिक्रिया सीधे व्यवहारवादी विचारधारा (behavioural school) की उपज है, और बच्चों के व्यवहार को नियंत्रित करने के लिए यह अक्सर इस्तेमाल किया जाता है। (बॉक्स-1 इन तरीकों के उपयोग के खतरों का वर्णन करता है)। तीसरी प्रतिक्रिया का निश्चित रूप से अनुमोदन किया जाता है – जब हम विद्यार्थियों से विभिन्न आचरणों के कारण और परिणामों की चर्चा करते हैं तो वे बहुत कुछ सीखते हैं। कारण न देने से कहीं अधिक प्रभावी होता है कारण बताना, परन्तु वस्तु स्थिति और भी पेचीदा होती है। ऊपर दिए गए उदाहरणों में दो प्रकार के कारण प्रस्तुत किए गए थे: प्रथा सम्बन्धित और नैतिक। अर्थात् हम बच्चे को यह बता सकते हैं कि कुछ व्यवहार इसलिए 'सही/गलत' हैं, क्योंकि परिवार, स्कूल, समाज या धर्म की प्रथा ऐसा कहती है। या हम किसी बच्ची को यह बता सकते हैं कि कोई

आचरण कुछ क्षति पहुँचाने, अन्यायपूर्ण होने या नुकसानदेह होने के अन्तर्निहित कारण से 'सही/गलत' है – यानी उसके **नैतिक** कारण हैं। क्या एक तरह का कारण दूसरे से अधिक प्रभावी होता है?

दरअसल यह स्थिति पर निर्भर करता है। सभी तरह के उल्लंघन नैतिक नहीं होते। मान लें कि किसी सहपाठी को धमकाने या उस पर धौंस जमाने की बजाय यह हो जाए कि किसी विद्यार्थी ने कक्षा में अपनी टोपी न उतारी हो। मेरी नज़र में कक्षा में टोपी उतारने की परिपाटी के पीछे कोई अन्तर्निहित नैतिक कारण नहीं है। इसी प्रकार की तमाम अन्य प्रथाएँ भी होती हैं जिनका कोई स्पष्ट नैतिक कारण नहीं है। इन प्रथाओं को तोड़ने को नैतिक उल्लंघन नहीं कहा जा सकता। शोध ने दिखाया है कि बच्चे और किशोर काफी कम उम्र में नैतिक और प्रथागत नियमों में अन्तर कर सकते हैं, और करते भी हैं। उदाहरण के लिए, मनोवैज्ञानिक लैरी नुच्ची ने विभिन्न नियमों के बारे में विद्यार्थियों की समझ और उनके शिक्षकों की प्रतिक्रियाओं की छानबीन की थी। उनके एक निष्कर्ष को मोटे तौर पर समेटकर यँ कह सकते हैं: शिक्षक तब अधिक प्रभावी होते हैं जब वे **नैतिक उल्लंघन** को रोकने के लिए प्रथागत कारणों के बदले नैतिक या समानुभूतिपरक कारण



‘अगर तुम्हें कोई मार देता तो तुम्हें कैसा लगता?’

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

बॉक्स-1

बन्द करें वर्ना....!

आचरण को बदलने के सबसे आसान तरीके मनोविज्ञान के **व्यवहारवादी विचारधारा** से आए हैं, जो अवांछित आचरण को हटाने और वांछनीय आचरण को बढ़ावा देने के लिए अलग-अलग रूप में **दण्ड या पुरस्कार** दिए जाने का अनुमोदन करती है। परन्तु जो त्वरित-और-गन्दे तरीके हैं उनके प्रति व्यक्ति को हमेशा शंकालु होना चाहिए! और इस मामले में तो अपने विद्यार्थियों से पेश आते वक्त दण्ड या पुरस्कार से दूर रहने के कई पुख्ता कारण हैं। मान लें कि किसी विद्यार्थी को कक्षा में कुछ माँगते या देते समय शिष्टता बरतना सिखाने के लिए आप उसे अभद्र होने पर हर बार सज़ा देते हैं। इसके नीचे दिए अनचाहे असर हो सकते हैं:

- आपके सामने वह अभद्र आचरण नहीं करता, ताकि सज़ा न मिले, पर अन्यथा वह ठीक ऐसा ही करता है।
- वह अभद्र आचरण रोक देता है, पर उसका स्थान लेने के लिए कोई सकारात्मक आचरण उसके पास नहीं है।
- अगर सज़ा के रूप में उसे कक्षा को साफ करने को कहा जाता है तो वह यह सीखता है कि सफाई का काम एक सज़ा है।
- वह यह सीखता है कि लोगों से अपने मनमाफिक काम करवाने का तरीका सज़ा देना है।
- आपके प्रति उसकी प्रतिक्रिया क्रोध और भय की होती है।
- वह आपको और/या कक्षा को क्रोध व भय की भावना से जोड़ना सीखता है और दोनों में से किसी का भी सामना करते ही उसमें खुद ब खुद ये भावनाएँ जाग जाती हैं।

पिछले कई वर्षों से व्यवहारवादियों समेत कई मनोवैज्ञानिक यह कहने लगे हैं कि मानवीय आचरण को नियंत्रित करने का बेहतर तरीका सज़ा देना नहीं है।



‘अगर तुम यह चॉकलेट अपनी बहन के साथ बाँट लो तो मैं कल तुम्हें वो खास चॉकलेट दे दूँगा।’

‘अगर तुम यह पैसा दान में दे देते हो तो मैं तुम्हें टैक्स (कर) में विशेष छूट दिलवाऊँगा।’

उनमें से कुछ सुझाते हैं कि हमें ‘अच्छे’ आचरण पर सकारात्मक पुष्टीकरण (positive reinforcement) जैसे, प्रशंसा, विशेषाधिकार या अन्य पुरस्कारों का उपयोग करना चाहिए। हम में से अधिकांश यह मानते हैं कि पुरस्कार विद्यार्थियों को प्रोत्साहित करते हैं, या कम से कम नुकसानदेह तो नहीं होते। अतः जब भी कोई बच्ची विनम्रता या औदार्य दिखाती है, हम उसकी तारीफ करते हैं या कोई पुरस्कार देते हैं। परन्तु इसके भी सूक्ष्म अनचाहे असर हो सकते हैं। बच्ची वांछनीय आचरण बढ़ा सकती है, परन्तु केवल उन स्थितियों में जब उसके अच्छे आचरण को पहचाना जाए, या केवल तब ही जब पुरस्कृत करने वाले वयस्क आसपास हों। और तब आचरण ‘अति-औचित्यपूर्ण’ (overjustified) बन जाता है। अर्थात् उसे केवल पुरस्कार के लिए करने योग्य समझ लिया जाता है। पुरस्कार देने का शायद सबसे नुकसानदेह परिणाम यही है। अमूमन पुरस्कार ऐसे आचरण के लिए दिया जाता है जो स्वतःस्फूर्त तरीके से न होता हो, या जब हम में कुछ ‘अच्छा’ घटने का इन्तज़ार करने का धीरज न हो। आप इस अध्याय में आगे देखेंगे कि छोटे बच्चे स्वतःस्फूर्त रूप से उदारता या अन्य लोगों के प्रति संवेदनशीलता दर्शाते हैं। उदारता या संवेदनशीलता वाले क्रियाकलापों को पुरस्कृत करना यह सन्देश देता है कि ‘आपको ऐसा करने के लिए पुरस्कृत किया जाना चाहिए क्योंकि अन्यथा आप ऐसा करेंगे ही नहीं।’

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

बहरहाल, इस सबका अर्थ यह सुझाना नहीं है कि हमें अपने विद्यार्थियों की उदारता, ईमानदारी या संवेदनशीलता की प्रशंसा नहीं करनी चाहिए या उसे कबूल नहीं करना चाहिए। पुरस्कार के नकारात्मक प्रभाव तब होते हैं जब पुरस्कार का उस गतिविधि से सीधा सम्बन्ध न हो। इसका सरल-सा उदाहरण है, अधिक किताबें पढ़ने पर प्रमाण-पत्र दिया जाना बनिस्बत उस स्वाभाविक नतीजे के, कि एक किताब पढ़ लेने पर आप पढ़ने के लिए एक और किताब उधार ले सकते हैं। सकारात्मक पुष्टीकरण तब सबसे अच्छी तरह काम करता है जब वह प्रशंसा, प्रोत्साहन और जानकारी वाले फीडबैक या टिप्पणी के रूप में दिया जाए।

देते हैं। उदाहरण के लिए, जब शिक्षिका ने 'अगर वह तुम्हें मारती तो कैसा लगता?' कहने के बदले 'मारपिट्टाई को लेकर हमारे यहाँ नियम है', कहा, तो विद्यार्थियों की प्रतिक्रिया कम अनुकूल रही। प्रतीत यह होता है कि जब बात मारपीट जैसे मसले की हो (या ऐसा कुछ करने की जिसमें दूसरे को क्षति पहुँचती हो) बच्चे किसी परिपाटी या नियम की बजाय किसी समानुभूतिपरक कारण पर अधिक अनुक्रिया करते हैं।

एक अन्य मनोवैज्ञानिक नैन्सी आइज़ेनबर्ग को भी कुछ ऐसे ही नतीजे तब मिले जब उन्होंने और उनके सहकर्मियों ने दस-वर्षीय बच्चों में उदारता का अध्ययन किया। बच्चों को प्रयोगशाला में एक खेल खेलने के लिए कुछ पैसे दिए गए, और तब उन्हें यूनिसेफ का एक पोस्टर दिखाया गया जिसमें गरीब बच्चों के लिए दान माँगा गया था। उन्हें कहा गया कि अगर वे चाहें तो कुछ पैसे गरीब बच्चों के साथ बाँट सकते हैं, पर ऐसा करना ज़रूरी नहीं है। इसके बाद उन्हें एक छोटी फिल्म दिखाई गई जिसमें एक वयस्क वही खेल खेलता है और फिल्म के अन्त में वह सस्वर बोलते हुए यूनिसेफ को पैसे दान करने के बारे में सोचने लगता है। कुछ बच्चों को दिखाई गई फिल्म के वयस्क ने कहा कि गरीब बच्चों को 'खुशी होगी अगर वे खाना और खिलौने खरीद सकें। क्योंकि आखिरकार गरीब बच्चों के पास लगभग कुछ भी नहीं होता।' दूसरे बच्चों को दिखाई गई फिल्म के वयस्क ने कहा, 'गरीब लड़कों और लड़कियों के लिए दान देना सच में अच्छी बात है... बाँटना ही सही तरीका है।' आइज़ेनबर्ग ने पाया कि जिन बच्चों ने वह फिल्म देखी जिसमें

पैसे साझा करने के लिए समानुभूतिपरक कारण बताए गए थे, उन्होंने अधिक पैसे दान में दिए।

मनोवैज्ञानिक शोध ने यह भी दर्शाया कि बच्चे और किशोर परिपाटियों या प्रथाओं को नैतिकता से कम महत्वपूर्ण और ज़्यादा लचीली मानते हैं। परन्तु यह शोध कार्य अधिकांशतः पश्चिमी देशों के बच्चों के साथ किया गया है जिनके नैतिकता और प्रथाओं सम्बन्धी दृष्टिकोण कमोबेश एक समान हैं। सवाल यह है कि क्या सभी संस्कृतियों के बच्चे प्रथाओं और नैतिकता के बीच के फर्क को एक ही तरह से महसूस करते हैं? केन्या और भारत जैसे देशों के अध्ययन दर्शाते हैं कि गैर-पाश्चात्य संस्कृतियों में नैतिकता और प्रथाएँ समान रूप से महत्वपूर्ण हो सकती हैं, और वहाँ के वयस्क और बच्चे उन्हें समतुल्य मानते हैं। रिचर्ड श्वेडर एक ऐसे नृशास्त्री हैं जिनकी नैतिक विकास के अन्तर्सांस्कृतिक विचारों में गहरी रुचि है। उन्होंने इस धारणा की सार्वभौमिकता पर सवाल उठाया है कि 'कुछ घटनाएँ अन्तर्निहित रूप से नैतिक होती हैं और कुछ अन्य नैतिकता-विहीन (nonmoral)।' हालाँकि यह सम्भव है कि कुछ सर्वव्यापी नैतिक नियम हों जो न्याय, कमज़ोरों की रक्षा, वचन निभाना, और निष्पक्ष फैसला करना जैसे विचारों पर आधारित हों, परन्तु कई समाजों में **प्रथाओं की भी नैतिक शक्ति होती है।** उनके निष्कर्ष 1980 के दशक में उड़ीसा के एक रूढ़िवादी समुदाय के गहन अध्ययन से निकले थे, जहाँ बच्चों का मानना था कि **पिता को उनके नाम से बुलाना नैतिक रूप से गलत था**, और चौदह वर्षीय पुत्र के नाम आए पत्र को पिता द्वारा खोलना *नैतिक रूप से सही*। हम यह कैसे जान सकते हैं कि ये बच्चे इनको नैतिक नियमों की बजाय प्रथाओं के रूप में नहीं देख रहे थे? इन बच्चों से यह भी पूछा गया था कि क्या यह बेहतर होगा कि सारी दुनिया इन नियमों को अपना ले; अगर अमरीकी इन नियमों को अपना लें तो क्या अमरीका एक बेहतर स्थान बन जाएगा; और अगर ज़्यादातर भारतीय चाहें तो क्या इन नियमों को बदल डालना सही होगा। उनके उत्तर (जो हाँ, हाँ व नहीं, थे) संकेत देते हैं कि वे इन्हें महज़ परिपाटियाँ नहीं बल्कि नैतिक नियम मानते थे। इसके विपरीत अमरीकी बच्चों को अपने पिता को नाम से सम्बोधित करने में कुछ भी *गलत नहीं* लगा, पर पिता द्वारा बेटे को सम्बोधित पत्र को खोलना उन्हें *गलत लगा*।

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

श्वेडर और अन्य विद्वानों का तर्क है कि पाश्चात्य संस्कृतियों में भी नैतिकता और प्रथाओं के बीच स्पष्ट विभाजन करना कठिन होगा। कक्षा में समय से पहुँचने के नियम को ही लें, क्या यह एक विशुद्ध परिपाटी है, या फिर शेष कक्षा की सीखने की प्रक्रिया में इसका कोई असर भी होता है? अर्थात् क्या किसी विद्यार्थी का देर से आना 'अन्यायपूर्ण' है क्योंकि इससे शेष विद्यार्थी प्रभावित होते हैं या फिर यह केवल स्कूल के नियमों के विरुद्ध है? या अगर कोई विद्यार्थी कक्षा में हाथ उठाए बिना ही बोलने लगे तो क्या वह महज़ एक परिपाटी को तोड़ रही है, या दूसरे सहपाठियों की ज़रूरतों को अनदेखा कर रही है? हमारे अपने स्कूलों और कक्षाओं को बारीकी से देखकर क्या हम परिपाटियों और नैतिकता में स्पष्ट अन्तर कर सकते हैं? कुछ मनोवैज्ञानिकों ने सुझाया है कि नैतिक और प्रथागत उल्लंघन दरअसल समान आयाम में स्थित होते हैं। इनमें एकमात्र अन्तर यह होता है कि नैतिक उल्लंघन प्रथागत उल्लंघनों से अधिक गम्भीर होते हैं।

आज भारत के उच्च और मध्यमवर्गीय शहरी बच्चे पारम्परिक या ग्रामीण परिवेश में पले-बढ़े अपने साथी बच्चों की तुलना में सम्भवतः पाश्चात्य देशों के बच्चों के अधिक समान होते हैं। मुझे लगता है कि परम्परागत रूप से पाले-पोसे गए बच्चों के बीच भी सम्प्रेषण की कई दिक्कतें ज़रूर इस वजह से उभरती हैं क्योंकि जिसे एक पीढ़ी नैतिक मानती है, उसे ही अगली पीढ़ी एक परिपाटी मानने लगती है। अपने विद्यार्थियों के साथ नैतिकता और प्रथाओं सम्बन्धी अपने और उनके विचारों की चर्चा करना एक रोचक अभ्यास होगा – बशर्ते आप ऐसे सवालों पर संवाद के लिए कुछ समय निकाल सकें।

नैतिक व प्रथागत नियमों में अन्तर की इस पेचीदा छवि को ध्यान में रखते हुए अब हम नैतिक विकास के कुछ ऐतिहासिक दृष्टिकोणों को देखेंगे। ये नैतिकता और परिपाटियों के सवाल पर हमारी समझ को और गहरा बनाएँगे। जिन लोगों ने मनोविज्ञान का थोड़ा बहुत अध्ययन किया है वे सिगमंड फ्रॉयड, ज़्याँ पियाजे और लॉरेंस कोलबर्ग के नामों से परिचित ही होंगे। इनमें से पहले दो मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्तित्व और संज्ञानात्मक विकास के क्षेत्रों में काम किया था। और तीसरे को खास तौर से नैतिक विकास में

उनके 'चरण सिद्धान्त' (stage theory) के लिए जाना जाता है। बचपन की नैतिकता के बारे में इन तीनों के सिद्धान्त एक साझे सूत्र से जुड़े हुए हैं। परन्तु हाल के वर्षों में इस सूत्र पर सवाल उठाए गए हैं, उसे इतना खींचा-ताना गया है कि वह टूटने की कगार पर आ खड़ा हुआ है! यह साझा सूत्र है यह धारणा कि मनुष्य का नैतिक बोध जीवन में *बाद में* वयस्कों द्वारा समाजीकरण के माध्यम से या बेहतर संज्ञानात्मक तार्किकता के कारण उभरता है। खासकर कोलबर्ग के सिद्धान्त में यह साफ-साफ कहा गया है कि **नैतिकता परिपाटियों से उपजती** है, या कम से कम परिपाटियों के *बाद*। जैसा आप देखेंगे, इस धारणा को हाल के आँकड़ों द्वारा चुनौती दी गई है। हाल के आँकड़े दर्शाते हैं कि बच्चे काफी छोटी उम्र से ही नैतिक जीव होते हैं। परन्तु इस चर्चा से पहले नैतिक विकास के तीन नज़रियों का सार-संक्षेप प्रस्तुत है।

फ्रॉयड की अवधारणा यह थी कि छोटा बच्चा बुनियादी आवेगों और इच्छाओं के साथ जन्मता है, जिन्हें वह अभिव्यक्त या सन्तुष्ट करना चाहता है। ये *आवेग मूलतः स्वार्थी होते हैं*, यानी इस प्रारम्भिक उम्र में दूसरों की आवश्यकताओं की कोई फिक्र नहीं होती। परन्तु बच्चे जल्दी ही यह सीख लेते हैं कि उनकी इच्छाओं की तात्कालिक पूर्ति नहीं हो सकती, उनके सहज आवेग इसलिए नहीं पूरे हो सकते क्योंकि वास्तविकता की दुनिया इसकी अनुमति नहीं देती। इस प्रकार समाजीकरण की एक प्रक्रिया प्रारम्भ होती है जिसमें वयस्कों की बारम्बार दी गई चेतावनियाँ, आदेश व धमकियाँ बच्चों को ऐसे काम करने से रोकती हैं जो उन्हें या दूसरों को क्षति पहुँचाएँ, और साथ ही वे उन्हें पारिवारिक और सामाजिक प्रथाओं-परिपाटियों का अनुसरण करना सिखाती हैं। फ्रॉयड के दृष्टिकोण से बालक के जन्मजात आवेगों को निरन्तर कुण्ठित किया जाता है और वह जीवन की (दुखद) सच्चाइयों से जूझता है, जहाँ वह हमेशा और उसी वक्त वह नहीं पा सकता जो वह चाहता है। फ्रॉयड का कहना था कि लगभग पाँच साल की आयु में ये बाहरी बाधाएँ आत्मसात कर ली जाती हैं, और बच्चे में एक अन्तःकरण विकसित हो जाता है जो उसके कृत्यों को अन्दर से दिशा देता है। यह विवेक अपराधबोध की जटिल भावना के रूप में तब भी काम करता है और उससे उचित व्यवहार करवाता है जब वयस्क याद दिलाने या सज़ा देने के लिए आसपास मौजूद न हो।

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

पियाजे ने छोटे बच्चे को 'अहंकारी' (egoistic) कहकर परिभाषित किया था। परन्तु उन्होंने इस शब्द का उपयोग रोज़मर्रा की भाषा में इसका जो अर्थ होता है, उस तरह से नहीं, बल्कि 'दूसरे व्यक्ति के दृष्टिकोण से देख पाने में असमर्थ' के अर्थ में किया था। उनके सिद्धान्त के अनुसार बच्चा सात साल की उम्र के बाद ही अपने कृत्यों के दूसरों पर होने वाले प्रभावों को देख पाता है, कारण और उसके असर को समझता है, और दूसरों की मंशा को भी समझने लगता है। हम कह सकते हैं कि एक नैतिक जीव बनने की प्रक्रिया की यहाँ से शुरुआत होती है। पियाजे के संज्ञानात्मक विकास के विभिन्न चरणों वाले सिद्धान्त से प्रेरणा लेकर कोलबर्ग ने नैतिक विकास के चरणों का सिद्धान्त प्रस्तावित किया। उसका संक्षिप्त विवरण यह है: प्रारम्भ में बच्चे व्यक्तिगत आनन्द और पीड़ा, और अपनी ज़रूरतों के आधार पर काम करते हैं (जो प्रथा-पूर्व या pre-conventional चरण है)। इसके बाद प्रथागत (conventional) तार्किकता का चरण आता है जिसमें वे अपने से अन्य लोगों में एकमतता को पहचानने लगते हैं, दूसरों से अनुमोदन चाहते हैं और सामाजिक नियमों की अनुपालना करते हैं। और अन्ततः उत्तर-प्रथागत (post-conventional) या नैतिक चरण आता है, जब सही आचरण के तर्कसंगत, वस्तुनिष्ठ मानकों पर बच्चे ध्यान केन्द्रित करते हैं। इसमें न्याय, कमज़ोर की सुरक्षा, वार्दों को निभाना और पूर्वाग्रहमुक्त फैसले के वे सिद्धान्त शामिल होते हैं जिनकी चर्चा पहले भी की गई है।



पूर्व-प्रथागत - प्रथागत - उत्तर-प्रथागत

कोलबर्ग के अनुसार इस अन्तिम चरण तक अधिकांश लोग पहुँच ही नहीं पाते। इन चरणों का क्रम अलग-अलग लोगों के लिए अलग-अलग नहीं होता – अर्थात् हरेक व्यक्ति इसी क्रम में इन चरणों से गुज़रता है। परन्तु कोलबर्ग के इन चरणों के आयु संकेतक नहीं हैं। सो आप किसी बारह वर्षीय बालिका और एक पैंतालीस वर्षीय महिला, दोनों को नैतिक विकास के एक समान चरण में भी पा सकते हैं। और इससे यह भी साफ होता है कि हर इन्सान वयस्क अवस्था तक पहुँचने पर आवश्यक रूप से उच्चतर चरण तक नहीं पहुँचेगा। दरअसल दुनिया भर में हुए शोध दर्शाते हैं कि आबादी के पाँच प्रतिशत से भी कम लोग उत्तर-प्रथागत चरण में होते हैं। (बहरहाल, कोलबर्ग के चरणों के अन्तर्सांस्कृतिक निष्कर्षों के उदाहरण के लिए बॉक्स-2 देखें।)

हालाँकि फ़ॉयड, पियाजे और कोलबर्ग के सिद्धान्तों में इन्सानों के बारे में कुछ सच्चाइयाँ हैं, उनको लेकर कई सवाल उठे हैं। हाल के शोध ने संकेत दिया है कि छोटे बच्चों की नैतिक संवेदनशीलता को तीनों ही मनोवैज्ञानिकों ने काफी कमतर आँका है। खास तौर से कोलबर्ग के सिद्धान्त की आलोचना, गलत नहीं तो कम से कम अपूर्ण होने के कारण, की गई है। दरअसल ऐसा लगता नहीं है कि नैतिक मूल्य परिपाटियों का बोध होने के बाद ही विकसित होते हैं। एक मनोवैज्ञानिक, इलियट ट्यूरियल की दृष्टि में बच्चों में प्रारम्भ से ही नैतिकता और परिपाटियों, दोनों का बोध विकसित होता है, परन्तु उनके विकास की राह भिन्न-भिन्न होती है। इलियट और उनके सहकर्मियों के शोध से लगता है कि बहुत छोटे बच्चे भी विभिन्न सामाजिक अन्तरक्रियाओं द्वारा नैतिकता और प्रथाओं में भेद कर पाते हैं। उदाहरण के लिए जब आप अपनी सहेली के बाल खींचते हैं, उसे दर्द होता है और वह रोती है। परन्तु अगर आप अपने शिक्षक को 'नमस्कार' नहीं कहते तो उसका परिणाम कुछ अलग ही होता है। ऐसी कई अन्तरक्रियाओं द्वारा बच्चे यह अनुमान लगाना और फैसला करना सीखने लगते हैं कि कौन-से नियम सार्वभौमिक हैं और कौन-से सापेक्ष। दरअसल ट्यूरियल छोटे बच्चों से पूछते हैं: किसी दूसरे देश में जहाँ माता-पिता और स्कूल अनुमति देते हों, क्या यह सही होगा कि (1) स्कूल में कोई भी कपड़े न पहने जाएँ या (2) किसी के बाल खींचे जाएँ? तीन से पाँच साल की आयु तक के बच्चे भी साफ-साफ कह देते हैं कि इनमें से पहली बात स्वीकार्य हो सकती है, पर दूसरी नहीं।

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

बॉक्स-2

“यूरोप के हाइज़ को भूल जाओ!”

क्या आपने हाइज़ की कहानी सुनी है? यह वह अभागा इन्सान था जिसके पास अपनी मर रही पत्नी के लिए दवाएँ खरीदने के पैसे नहीं थे। लॉरेंस कोलबर्ग और तमाम अन्य मनोवैज्ञानिकों के कारण दुनिया के अनेक बच्चों और वयस्कों का सामना हाइज़ की दुखद कहानी से हुआ है। हाइज़ दवा वाले से अनुरोध करता है जो उसकी मदद करने से इन्कार कर देता है। सवाल यह है कि क्या उसे दवा चुरा लेनी चाहिए? अगर हाँ तो क्यों, या नहीं तो क्यों नहीं? जब पुलिस को चोर का पता चलता है, और उसे पूरे मामले की जानकारी मिल जाती है, तो क्या उसे हाइज़ को गिरफ्तार करना चाहिए? अगर हाँ तो क्यों, या नहीं तो क्यों नहीं?

इस शोध के लिए अपनाई गई विधि में लोगों से साक्षात्कार कर उनसे ऐसी परिकल्पित परिस्थितियों पर चर्चा की जाती है जिनमें कोई नैतिक दुविधा हो, जैसे हाइज़ की कथा में है, और तब उनसे विभिन्न सम्भावित वैकल्पिक कृत्यों का स्पष्टीकरण और औचित्य पूछा जाता है। कोलबर्ग के अनुसार लोगों को चाहे यह लगे कि हाइज़ को दवा चुरानी चाहिए या नहीं चुरानी चाहिए, वे अपने मत के समर्थन में जो कारण बताते हैं, वे कारण उनकी नैतिक तर्कसंगतता के चरण का संकेत देते हैं। हाँ, उसे दवा चुरानी चाहिए क्योंकि अन्यथा ईश्वर उसे अपनी पत्नी को मर जाने देने की सज़ा देगा। नहीं, उसे दवा नहीं चुरानी चाहिए क्योंकि चोरी कानून के खिलाफ है। हाँ, उसे दवा चुरानी चाहिए क्योंकि वह अपनी पत्नी से प्यार करता है और उसके बिना जी नहीं सकता। नहीं, उसे चोरी नहीं करनी चाहिए क्योंकि ऐसा करने पर उसे जेल हो जाएगी। गत तीस सालों से लोग हाइज़ के कारनामों को स्पष्ट करते रहे हैं, उनका औचित्य देते रहे हैं, और ये आँकड़े दर्शाते हैं कि छोटे बच्चे अधिकतर प्रथा-पूर्व प्रकार से तर्क करते हैं, बड़े बच्चे और वयस्क प्रथागत तरीके से, और बहुत कम लोग ऐसे हैं जो उत्तर प्रथागत तरीके से तर्क करते हैं। परन्तु कुछ मनोवैज्ञानिकों का मानना है कि इस प्रयोग में **आत्मचेतन अभिव्यक्ति** (self-conscious verbalisation) के जिस ऊँचे स्तर की ज़रूरत पड़ती है, वह कोलबर्ग के क्रम को ‘मौखिक औचित्य’ के विकास का सिद्धान्त बना डालती है न कि नैतिक विकास का। दुनिया भर के अधिकांश लोग किसी विषय के बारे में जितना कुछ कह पाते हैं, उससे कहीं अधिक

जानते और करते हैं। शायद यह तथ्य उस आश्चर्यजनक परिणाम का स्पष्टीकरण है कि क्यों दुनिया भर में इतने कम लोग कोलबर्ग द्वारा सुझाए गए विकास क्रम में उच्चतम स्तर तक नहीं पहुँचते दिखाई देते हैं।

इसके अलावा कोलबर्ग का सिद्धान्त आपस में टकराने वाले मुद्दों पर सोचने व तर्क करने के दूसरे वैध परन्तु नितान्त भिन्न तरीकों को भी नहीं पकड़ पाता। ज्योत्सना वासुदेव और रेमंड हमेल ने बड़ी संख्या में जयपुर, कोलकाता और दिल्ली के वयस्कों व बच्चों को हाइंज़ की कहानी सुनाकर साक्षात्कार किया और पाया कि भारतीयों के नैतिक सिद्धान्त उन सिद्धान्तों से भिन्न हैं जिन पर कोलबर्ग ने विचार किया था। इन सिद्धान्तों में जीवन (केवल मनुष्य का ही नहीं) की पवित्रता, अहिंसा का विचार, और यह भावना कि सामाजिक मुद्दे व्यक्तिगत जीवन से अधिक बड़े होते हैं, शामिल हैं। इनमें से अन्तिम विचार ने वासुदेव के सहभागियों में से एक को यह टिप्पणी करने को उकसाया, 'अरे हाइंज़ को यूरोप में भूल जाओ। हिन्दुस्तान आओ तो आप देखोगे कि यहाँ के 60 प्रतिशत लोगों के लिए, जो गरीबी रेखा के नीचे जीते हैं, यही सच्चाई है... हाइंज़ की कहानी हमारे चारों ओर हर समय दोहराई जाती है, जिसमें बीवियाँ मरती हैं, बच्चे मरते हैं और उन्हें बचा पाने के लिए पैसा नहीं होता... तो, ठीक है, दवा चुरा लो, पर इससे व्यापक पैमाने पर कोई फर्क नहीं पड़ने वाला।'

ट्यूरियल और उनके सहकर्मियों ने आचरण का एक तीसरा आयाम भी जोड़ा है – **व्यक्तिगत** आयाम। इस श्रेणी में वह आचरण आता है जिसके बारे में युवा लोगों को लगता है कि उनके सिवाय किसी दूसरे का उन मामलों से कोई लेना-देना ही नहीं है (उदाहरण के लिए बालों की लम्बाई, सोने का समय, क्या पहनना चाहिए, कमरा कितना साफ होना चाहिए...!)। वयस्कों को इन मामलों को व्यक्तिगत ही रहने देना चाहिए और उन्हें नैतिक या प्रथागत क्षेत्र में जाने नहीं देना चाहिए, शायद खास तौर से किशोरों के मामले में। हम इस महत्वपूर्ण विचार पर अध्याय-11 में वापस लौटेंगे, जो किशोरावस्था पर है। फिलहाल हम इस सवाल को जाँचते हैं कि क्या नैतिकता के कुछ सहज या जन्मजात तत्व भी हैं, और अगर हैं, तो वे भला क्या हैं?

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

नैतिकता के सहज तत्व

कम ही लोग इस दावे के विरुद्ध तर्क करेंगे कि उद्विकास (evolution) ने इन्सानों में आक्रामकता और स्पर्धा की मूल प्रवृत्तियाँ (instinct) पैदा की हैं। हम बहुत छोटे बच्चों को भी अमूमन आक्रामक होता देखते हैं – वे पसन्दीदा खिलौने के लिए झपटते हैं, एक-दूसरे को काटते हैं, या बाल खींचते हैं। जिस समय यह आचरण पहले-पहल उभरता है, तब भी यह किसी की नकल या वातावरण से सीखा गया आचरण नहीं लगता। स्पर्धा करने की इच्छा भी काफी शुरु में नज़र आती है। हम अक्सर दो बच्चों को किसी ऐसी चीज़ के लिए लड़ते देखते हैं जो पहले उनमें से किसी को भी नहीं चाहिए थी। पर अगर कोई एक उसे उठा लेता है तो दूसरे को अचानक उसके लिए लड़ना ज़रूरी लगने लगता है। और जब लड़ाई खत्म हो जाती है, तो वह चीज़ अचानक एक ओर पटक दी जाती है। उद्विकासीय तर्कों के अनुसार **स्पर्धा** और **आक्रामकता** की मूल प्रवृत्तियाँ बचाव के लिए महत्वपूर्ण हैं, अतः हमें विरासत में मिलती हैं।

पर ठीक यही उद्विकासीय तर्क हमें यह भी बताते हैं कि **सहकार** और **समाजोपयोगी** आचरण भी अपने अस्तित्व को बचाए रखने के लिए ज़रूरी है। कई परिस्थितियों में जो लोग अस्तित्व के संघर्ष में एक-दूसरे की मदद करते हैं, वे ही प्रजनन कर पाने तक जीवित बचे रह पाते हैं, बनिस्बत उन लोगों के जो मदद नहीं करते और फलतः मदद पाते भी नहीं हैं। बेशक, शिशु जन्म से ही मददगार या सहकार करने वाले पैदा नहीं होते, परन्तु बाद के सामाजिक आचरण का भावनात्मक आधार उनमें जन्म के समय से ही मौजूद होता है। कुछ ही दिनों के शिशु अपने निकटतम लोगों के प्रति भावनात्मक प्रतिक्रिया दर्शाते हैं। वे नकल द्वारा ठीक वैसी ही भावनात्मक अभिव्यक्तियाँ करते हैं (मुस्कराना, भौंहें चढ़ाना, भयभीत होना)। दूसरे बच्चे को रोता सुनकर वे रोते हैं, और अगर माँ परेशान हो तो वे उत्तेजित हो जाते हैं। **समानुभूति** (empathy) का यह प्रारम्भिक स्वरूप खुद को व्यथित करने के रूप में अभिव्यक्त होता है। परन्तु जैसे-जैसे बच्चा बड़ा होता जाता है, यही समानुभूति उसे दूसरों की आवश्यकता के अनुसार विशिष्ट मदद देने वाला आचरण करने की छूट देती है। यह तब होता है जब बच्चा 'स्व' और 'अन्य' में अन्तर का भाव विकसित करने लगता है।

परोपकार और **अपराधबोध** जैसे नैतिकता के परिष्कृत पक्ष भी एक या दो साल की उम्र में उभरने लगते हैं। मनोवैज्ञानिक मेरियन रैडकी-यैरो ने भी कुछ अन्य मनोवैज्ञानिकों की तरह बहुत छोटे बच्चों में इन तत्वों के विकास का अध्ययन किया है। उनका एक अध्ययन साल भर से भी अधिक चला और उसमें साल भर की उम्र के बच्चों की माँओं को कुछ असामान्य और रोचक तरीके से जोड़ा गया। इन माताओं को प्रशिक्षित किया गया कि वे ऐसे मौकों को तलाशें जिसमें बच्चा किसी व्यक्ति को कठिनाई में देखे, और तब उसकी अनुक्रियाओं को यथासम्भव ईमानदारी से दर्ज करें। माह में एक बार रैडकी-यैरो के दल में से कोई व्यक्ति उनके घर आता और माता का साक्षात्कार करता। इनमें से कुछ मुलाकातों में माँ स्वयं परेशान होने का नाटक करती ताकि शोधकर्ता बच्चे की अनुक्रिया का वीडियो बना सके। यह माँओं के अवलोकनों की गुणवत्ता को जाँचने का एक उपयोगी साधन था।

इन नतीजों ने क्या दर्शाया? अध्ययन की अवधि में बच्चों ने दूसरों की मुसीबत या परेशानी के समय ज़्यादा से ज़्यादा सामाजिक व्यवहार दर्शाया, जैसे गले लगाना, मदद करना, या मौखिक ढाढ़स दिलाना। उन्होंने समानुभूतिक सरोकार भी दर्शाए, जैसे उदासी या सहानुभूति के हावभाव। साथ ही इन बच्चों ने वह भी दर्शाया जिसे 'परिकल्पना को जाँचना' (hypothesis testing) कहा जाता है, जिसमें यह लगा कि वे परेशानी का कारण तलाश रहे थे। उदाहरण के लिए, एक बच्चा व्यक्ति के चोट खाए पैर और उस कुर्सी को जिससे वह टकराया था, नज़रें घुमाकर बारी-बारी देखता रहा। शोधकर्ताओं की खास रुचि उन परिस्थितियों में थी जिसमें परेशानी का कारण स्वयं बच्चे थे। क्योंकि यहीं अपराधबोध और पश्चाताप की जड़ें मिलने की सम्भावना थी। ऐसा लगता है कि वयस्कों में अपराधबोध द्वन्द्व पैदा करता है; किसी मित्र को तब सांत्वना देना आसान होता है जब उसे किसी दूसरे ने आहत किया हो, बजाय तब जब आपने खुद उसे तकलीफ पहुँचाई हो! परन्तु क्या इतने छोटे बच्चों को यह एहसास हो भी सकता है कि वे खुद ही किसी की परेशानी का कारण थे? और अगर ऐसा होता है, तो उनकी प्रतिक्रिया किस प्रकार अलग हो सकती है?

नतीजों ने दर्शाया कि बच्चे तब भी दुखी व्यक्ति की मदद कर सकते हैं और सांत्वना दे सकते हैं, जब उन्होंने स्वयं उसे तकलीफ पहुँचाई हो। यह तथ्य

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?



सुझाता है कि करुणा और पश्चाताप जनित आचरण, दोनों की जड़ में समानुभूति ही है। परन्तु, जब बच्चों ने खुद तकलीफ पहुँचाई होती है तो वे दूसरों की परेशानी के प्रति अधिक मज़ा, अधिक आक्रामकता, दूसरे के लिए कम सरोकार, और ज़्यादा आत्म-व्यथा (रोना या सुबकना) दिखाते हैं। ऐसे में वे तकलीफ के कारण तलाशने की कोशिश भी कम करते हैं, बजाय उस स्थिति के जिसमें परेशानी का कारण वे न रहे हों! अतः, जैसा रैडकी-यैरो कहती हैं, इस प्रारम्भिक उम्र में भी पश्चाताप से या शुरुआती आत्म-चेतना से जन्मे मददगार या सांत्वना देने वाले व्यवहार के साथ भी कुछ द्वन्द्व और दुविधा जुड़ी होती है। स्वाभाविक ही है कि इसे बढ़ावा देने में वयस्कों की सहायता भी मिलती है जो आक्रामकता पर रोक लगाने या दूसरों के साथ अपनी चीज़ें बाँटने की आदत डालने के लिए अनुशासन का इस्तेमाल करते हैं। बच्चे दूसरे के प्रति समानुभूति महसूस ज़रूर करते हैं पर जब यह एहसास इस जानकारी के साथ आता है कि वह स्वयं किसी दूसरे की परेशानी का *सबब* है, तो वे एक द्वन्द्व को भी महसूस करते हैं जिसे हम बाद में *अपराधबोध* कह सकते हैं।

नैतिक आचरण का एक और महत्वपूर्ण तत्व है परिणामों का भय। बहुत छोटी उम्र में ही बच्चे कुछ कृत्यों और परिस्थितियों को भयावह परिणामों से जोड़ने लगते हैं, जैसे सज़ा मिलना या प्यार खो देना। लगभग सभी पशुओं के मस्तिष्क में जन्म से ही प्रतिपुष्टि (reinforcement) का नियम मौजूद होता है; अर्थात् अगर किसी व्यवहार के नतीजे अप्रिय हों तो भविष्य में उसके दोहराए जाने की सम्भावना कम होती है। नैतिक विकास को इस सरल-सादे नियम से मदद मिलती है। यह नवजात शिशुओं तक में मौजूद होता है। वयस्कों के रूप में सुरक्षा और आचरण के नियम सम्बन्धी महत्वपूर्ण सन्देशों को देने के लिए हम इसी पर निर्भर करते हैं: 'अगर अपना हाथ वहाँ डालोगे तो चोट लगेगी' या 'अगर तुम फूल तोड़ोगे तो माँ बहुत नाराज़ होगी।'

रोचक बात यह है कि बच्चों को यह समझने में थोड़ा समय लग जाता है कि वे फूल तोड़ सकते हैं बशर्ते कोई उन्हें ऐसा करते पकड़े नहीं! और बच्चों को खुद से यह तय करने में और भी वक्त लगता है कि फूल तोड़ना वाकई गलत है भी या नहीं। यह तथ्य हमें समाजीकरण और चीज़ों को आत्मसात करने पर केन्द्रित अगले भाग की ओर ले जाता है। चाहे कुछ नैतिक तत्व जन्मजात हों या जल्दी ही सीख लिए गए हों, स्कूल जाने के पहले ही बच्चों में कई नैतिक तत्व मौजूद होते हैं। और हम निश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि छोटे बच्चे कतई नैतिकता-विहीन (amoral) नहीं होते। परन्तु जब पहले से काफी जटिल इस नैतिक मस्तिष्क के सम्पर्क में बाहरी दुनिया के 'यह करो' और 'यह मत करो' के विचार आते हैं, तब क्या होता है?

आत्मसात करना यानी एक सक्रिय प्रक्रिया

कई मनोवैज्ञानिक समाजीकरण की प्रक्रिया और नैतिक विकास में उसकी भूमिका को बेहद महत्वपूर्ण मानते हैं। उदाहरण के लिए, सिगमंड फ्रॉयड की अवधारणा के अनुसार छोटे बच्चे के अनुचित आवेगों व इच्छाओं को केवल समाजीकरण की प्रक्रिया से ही नियंत्रित किया जा सकता है। यहाँ 'समाजीकरण' से तात्पर्य उन तौर-तरीकों से है जिनके द्वारा हमउम्र साथी, वयस्क, और दीगर समाज बच्चे के आचरण को कुछ यूँ अनुकूलित करते हैं कि वे उस समाज के नियमों को मानने लगे। परन्तु जैसी कि आप कल्पना

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

कर सकते हैं, बात केवल 'बाहरी नियमों को आत्मसात करके उनके अनुरूप काम करना' जितनी सरल नहीं है। बच्चे जब वयस्कों द्वारा जताए गए नैतिक मूल्यों पर ध्यान देते भी हैं, तो भी वे हमेशा उनको स्वीकारते नहीं हैं। विद्वेष, नाराज़गी और मूल्यों को नकारना तब भी आम होता है जब वे बाहरी तौर पर आज्ञा का पालन करते नज़र आ रहे हों। शिक्षकों के रूप में समाजीकरण का काफी सारा काम हमारे ज़िम्मे आता है। स्वाभाविक है कि हम चाहते हैं कि हमारे विद्यार्थी कई मूल्यों को आत्मसात कर लें। इसका मतलब यह हुआ कि विद्यार्थी यह सोचें कि वे मूल्य उनके अन्तः से उपजे हैं, न कि दूसरों द्वारा थोपे गए हैं। क्या शोध कुछ ऐसा भी कहता है जो हमारे इस काम में हमारी मदद कर सके?

हालाँकि ज़्यादातर अध्ययन माता-पिता और उनके बच्चों पर किए गए हैं, परन्तु ठीक वही सिद्धान्त किशोर या युवा वर्ग से अन्तरक्रिया करने वाले किसी वयस्क पर भी लागू होते हैं। उदाहरण के लिए मनोवैज्ञानिक जोन ग्रुसेक और जैकलिन गुडनाओ ने **अनुशासन** सम्बन्धी घटनाओं पर ध्यान केन्द्रित किया और यह पता लगाना चाहा कि दरअसल क्या कारगर होता है और क्या नहीं। उन्होंने पाया कि परिस्थिति (उदाहरण के लिए अपराध का प्रकार), वयस्क की विशेषताएँ और विद्यार्थी के स्वभाव से सम्बन्धित कई बातें आत्मसात करने की प्रक्रिया पर असर डालती हैं। उदाहरण के लिए कई बार वयस्क के कथन विषय से अलग या अप्रासंगिक हो सकते हैं। जैसे जब वे कहते हैं, 'यह तुमने पहली बार नहीं किया है', या 'और एक और चीज़ जो तुम हमेशा करते हो, वह है...।' ऐसे कथन सफल रूप से आत्मसात करने की सम्भावना को कम करते हैं। ग्रुसेक और गुडनाओ इस बात पर भी गौर करते हैं कि कई वयस्कों की प्रतिक्रिया में व्यंग्य या हास्य का पुट भी होता है, जैसे जब बच्चा धीमे बोले तो, 'वह जादुई शब्द भला क्या है?' या 'मैं शायद बहरा हो रहा हूँ!' व्यंग्यात्मक प्रतिक्रिया की स्थिति में बच्चे को बात को पूरी तरह समझने के लिए 'संज्ञानात्मक खुलासा' (cognitive unpacking) करना पड़ता है, जो आत्मसात करने में मदद कर सकता है।

स्थिति चाहे जो भी हो, कोई मूल्य आत्मसात हो इसके लिए कम से कम दो चीज़ें होनी ज़रूरी होती हैं:

- वयस्क के दृष्टिकोण के विषय में बच्चे की समझ का सटीक होना ज़रूरी है, और
- उसे उस दृष्टिकोण को नकारना नहीं, बल्कि स्वीकारना होता है।

ऐसा हो सके इसके लिए आपकी अनुशासन की तकनीक का लचीला होना आवश्यक है। लचीला इस अर्थ में कि किसी बच्चे के प्रति आपकी प्रतिक्रिया, प्रस्तुत परिस्थिति और बच्चे के स्वभाव को ध्यान में रखकर दी जानी चाहिए। परन्तु गौर करें कि **लचीलेपन का अर्थ असंगति** या **सामंजस्यहीनता** नहीं है! परिस्थिति और आपकी प्रतिक्रिया के बीच का रिश्ता मनमाना या बेतरतीब (random) नहीं होता। ग्रुसेक और गुडनाओ का काम दर्शाता है कि कुछ प्रतिक्रियाएँ कुछ खास तरह की परिस्थितियों में ज़्यादा उपयुक्त होती हैं। वह क्या है जो किसी वयस्क की प्रतिक्रिया को किसी विशेष परिस्थिति के लिए उपयुक्त बनाता है? याद रहे कि आपका विद्यार्थी जो कुछ भी सुने उसे उसके मस्तिष्क में पहले से मौजूद सामाजिक अन्तरक्रियाओं, दृष्टिकोणों, विश्वासों और आचरण सम्बन्धी स्कीमाओं में फिट होना पड़ता है। इसका मतलब है कि आपके द्वारा दिए गए कारण या तर्क कल्पना निर्माण और परिवर्तन की प्रक्रिया में मददगार होने चाहिए। जैसा आप पहले ही देख चुके हैं, लैरी नुच्ची बताते हैं कि बच्चों द्वारा किसी वयस्क के सन्देश को स्वीकारने की सम्भावना तब सबसे अधिक होती है जब वह सन्देश उस परिस्थिति के बारे में उनके दृष्टिकोण के अनुरूप हो। अर्थात्, उनकी उम्मीद यह रहती है कि वयस्क नैतिक, प्रथगत और व्यक्तिगत उल्लंघनों में अन्तर करते हुए तर्क रखेंगे। उदाहरण के लिए, नुच्ची ने पाया कि अगर शिक्षक ने गाली बकने पर 'दूसरे के बारे में भी सोचो' या चोरी करने पर 'इसकी अनुमति नहीं है' कहा, तो विद्यार्थियों को ये कारण बेमेल लगे और उनको स्वीकारने की उनकी सम्भावना कम रही। इस तरह के बेमेलपन का प्रभाव केवल उस खास तर्क को स्वीकारने या अस्वीकारने के परे गया। बच्चों ने ऐसे शिक्षकों का सामान्य मूल्यांकन करते समय भी उन्हें कम पसन्द किया।

नैतिक विवेचना की बात करते समय हमें विद्यार्थियों के बदलते संज्ञानात्मक कौशल के स्तर को भी ध्यान में रखना चाहिए। नैतिक तर्क लगाने के महत्वपूर्ण पक्ष संज्ञानात्मक क्षमता पर भी निर्भर करते हैं, जैसे अनेक

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

परिप्रेक्ष्यों को एक साथ देख पाना, दूसरों की मंशा को और कार्य-कारण सम्बन्धों को समझ पाना, आदि। सामान्यतः वयस्क इसके प्रति जागरूक होते हैं। यही कारण है कि हम छोटे बच्चों से सरल, ठोस शब्दों में बात करते हैं और बड़े बच्चों और किशोरों से कुछ जटिल और अमूर्त तरीके से। परन्तु हम तर्क करने के सरल स्तर को परम्परागत, नियम आधारित (मत करो, करना नहीं चाहिए) तर्क समझ लेने की भूल कर सकते हैं। जबकि जिस शोध की हमने यहाँ समीक्षा की है, वह यह संकेत देता है कि प्राथमिक शाला के बच्चे भी समानुभूतिपरक, नैतिक तर्क समझ सकते हैं, और समझते भी हैं। हम उनसे उनके क्रियाकलापों के दूसरों पर पड़ने वाले असर की बात कर सकते हैं। इसे 'अन्य अभिमुख तर्कणा' कहा जाता है। यह कई कारणों से कारगर रहती है:

- यह दूसरों के प्रति बच्चे की समानुभूति की क्षमता को विकसित करती है।
- यह किसी वयस्क से बँधी नहीं होती – यानी जब वयस्क मौजूद न हों, तब भी बच्चे किसी दूसरे की भावना के प्रति सचेत हो सकते हैं।
- यह बच्चों को सोचने को प्रोत्साहित करती है कि वे दूसरे व्यक्ति को पहुँचाई गई चोट को 'सुधारने' के लिए क्या कर सकते हैं।
- यह बच्चों को दूसरों के अधिकारों का सम्मान करने की दिशा में ले जाती है।

इस सबसे हमें यह विश्वास हो जाना चाहिए कि अपने विद्यार्थियों से परिस्थिति के अनुसार उपयुक्त तरीकों से कारणों की चर्चा करने से मूल्यों को आत्मसात करने की प्रक्रिया में मदद मिलेगी। अनुशासन की एक और आम तकनीक का हमारे स्कूलों में खूब दुरुपयोग होता है। उसे 'सत्ता का दबदबा' (power assertion) कह सकते हैं। कुछ शिक्षक बच्चों से अपना ध्यान और स्नेह हटा लेते हैं, बल प्रयोग करते हैं, धमकियाँ देते हैं, यहाँ तक कि शारीरिक दण्ड भी देते हैं। दुर्भाग्य से इस तरह से वे जो सिखाना चाहते हैं, उससे बिलकुल उलटी सीख दे बैठते हैं। सत्ता का दबदबा कई कारणों से एक खतरनाक औज़ार है:

- यह असुरक्षा की दिशा में ले जा सकता है (अगर हम प्यार हटाकर अपनी सत्ता दर्शाएँ)।
- इससे नाराज़गी और द्वेष पैदा हो सकता है, और तब कुछ भी आत्मसात नहीं किया जा सकता।
- यह आक्रामक व्यवहार का आदर्श सामने रखता है।
- इससे वयस्क की उपस्थिति नैतिक आचरण का कारण बन जाती है, और मूल्य आत्मसात नहीं होते।
- इससे विद्यार्थी नैतिक मुद्दों पर खुद विचार करने से हतोत्साहित होते हैं।

एक भूल जो हमसे हो सकती है, वह यह है कि हम अपने नन्हे विद्यार्थियों के नैतिक चिन्तन को कम करके आँकें। उदाहरण के लिए, शोध दर्शाता है कि काफी छोटे बच्चों में भी **न्याय** का जटिल भाव होता है। मनोवैज्ञानिक विलियम डेमन ने छह और दस वर्षीय बच्चों में आपस में मीठी गोलियाँ साझा करने का अध्ययन किया ताकि उनकी न्याय की समझ को जाँचा जा सके। चार बच्चों के समूहों को जितने उनसे बन सकें उतने कंगन बनाने की सामग्री दी गई। प्रत्येक समूह में एक बच्चा बाकी बच्चों से छोटा था, अतः वह बाकियों से कम कंगन बना सकता था। बाद में डेमन ने प्रत्येक समूह को दस-दस गोलियाँ दीं, जो उन्हें आपस में जैसे उचित लगे वैसे बाँटनी थीं। कुछ बच्चों ने किए गए काम के अनुपात में गोलियाँ बाँटने की कोशिश की। कुछ दूसरों ने सब में बराबर गोलियाँ बाँटने की कोशिश की, जिसे डेमन ने चार बच्चों के बीच दस गोलियाँ देकर मुश्किल बना दिया था! चीजों को बराबर बाँटने के दो कारण हो सकते थे: या तो बच्चों को इस तथ्य का महत्व ही समझ न आया हो कि कुछ बच्चों ने दूसरों से अधिक काम किया था, या फिर वे बाँटने के लिए सही अनुपात नहीं निकाल पा रहे हों। परन्तु बड़े बच्चों के समूह में भी बराबर विभाजन उत्पादन के *बावजूद सबके प्रति न्यायपूर्ण होने के नाम पर हुआ।* दस वर्षीय बच्चों के एक समूह में लम्बी चर्चा के बाद यह निष्कर्ष निकाला गया कि उनके छोटे साथी को भी बराबर हिस्सा मिलना चाहिए क्योंकि 'आखिर, ऐसा तो नहीं कि उसने कुछ भी न किया

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

हो... उसने अपनी ओर से भरसक काम तो किया ही है... सो उसे भी उतना ही मिलना चाहिए जितना हमें मिला।'

सम्भव है कि इन बच्चों के कुछ तर्क वयस्क समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से आए हों। परन्तु एक रोचक विचार पर गौर कीजिए। क्या वयस्क जिसे सही कहते हैं, उसमें और वयस्क समाज के वास्तविक क्रियाकलापों में तालमेल होता है? सामाजिक, आर्थिक और विदेश नीतियाँ अक्सर लोभ, सत्ता के लालच, आक्रामकता और दुर्बल के शोषण को दर्शाती हैं। बढ़ते बच्चे न केवल अपनी अन्तरक्रियाओं की तात्कालिक दुनिया के प्रति सजग होते हैं, बल्कि राजनीतिक और सामाजिक वास्तविकताओं के व्यापक जगत् के प्रति भी सचेत होते हैं। और दुनिया भर में कई बच्चे कठोर और कठिन परिस्थितियों में जीते हैं, सामाजिक अन्याय झेलते हैं। विलियम आरसेनियो ऐसे मनोवैज्ञानिक हैं जिनकी रुचि इस बात में है कि जो बच्चे, बकौल आरसेनियो **'विषाक्त सामाजिक वातावरण'** में पलते-बढ़ते हैं, उनमें समानुभूति का विकास किस प्रकार गड़बड़ा सकता है। सम्भव है कि ऐसे बच्चों को नैतिक प्रतिपुष्टि, या न्यायपूर्ण बरताव के प्रत्यक्ष अनुभव बहुत कम हुए हों। हमें शायद इस बात पर अचरज नहीं होना चाहिए कि ऐसे बच्चों को लगे कि जीवन न्यायसंगत नहीं है, सो मैं भला न्यायोचित क्यों बनूँ? जैसा आरसेनियो कहते हैं, इन बच्चों को यह सन्देश मिलता है कि जीवन एक-दूसरे की परवाह करने और न्यायसंगतता के इर्द-गिर्द नहीं बल्कि सत्ता और प्रभुत्व के इर्द-गिर्द घूमता है। सबसे बिगड़े हुए मामलों में यह किसी किशोर/किशोरी को आक्रामकता के लापरवाह स्वरूपों तक ले जा सकता है।

आरसेनियो के निष्कर्ष पश्चिम के वंचित बच्चों के अध्ययन से उपजे हैं। बेशक एक धनी देश में गरीबी में जीना, जहाँ अधिकांश आबादी भौतिक सुख-सुविधा में जीती है, भारत जैसे गरीब देश में गुरबत में जीने से अलग होता है। क्या भारत के वंचित बच्चे भी विद्वेषी होते हैं? समाज में अपने दर्जे को लेकर कटुता से भरे होते हैं? अपने तात्कालिक व विस्तृत परिवार और समुदाय के घनिष्ठ सम्बन्धों का उन पर क्या असर होता है? सम्भव है कि इस तरह का सशक्त और सहायक सामाजिक या सामुदायिक वातावरण यहाँ के बच्चों को नैतिक भावनाओं, जैसे न्यायोचितता और करुणा के ऐसे

अनुभव उपलब्ध करवाता हो जो उनके अपने नैतिक विकास के लिए आवश्यक हों।' इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर बहुत कम शोध हुआ है कि अन्याय के व्यापक सामाजिक प्रचलनों का बच्चों के नैतिक विकास पर क्या असर पड़ता है। इस विषय में जानकारी का एक समृद्ध स्रोत है मनोवैज्ञानिक और लेखक रॉबर्ट कोलेस का कार्य। कोलेस ने कई साल विविध पृष्ठभूमियों के बच्चों से जान-पहचान बनाने में और उनके नैतिक विकास की समझ को गहन बनाने में बिताए। उन्होंने जिन बच्चों से बात की उनमें से कई गरीबी और सामाजिक भेदभाव के शिकार थे। कोलेस की किताबें बेहद सुन्दर और मन को छूने वाली हैं, क्योंकि वे ऐसे छोटे बच्चों की नैतिक ताकत का वर्णन करती हैं जो कठिन परिस्थितियों में जी रहे थे। कोलेस का सामना लगातार ऐसे बच्चों से हुआ जो स्वयं से बेहतर स्थिति में जी रहे बच्चों के प्रति न तो कटु थे, न ही नाराज़। कोलेस ने इसके कारण पहचानने की कोशिश की।

कोलेस एक ब्राज़ीलवासी लड़के के बारे में लिखते हैं जो *फावेलस* (कच्ची बस्ती) के एक झोंपड़े में रहता था जहाँ से उसे समुद्र किनारे बने आलीशान भवन साफ दिखाई देते थे। वह जीवन यापन के लिए अमीर ब्राज़ीलवासियों से भीख माँगता था, उनके छुटपुट काम करता था, उनकी गाड़ियों की सफाई करता था और जूते चमकाता था। कोलेस बताते हैं कि कैसे यह लड़का और उस जैसे दूसरे बच्चे भी, अपने आसपास की गैर-बराबरी के प्रति सचेत थे, परन्तु इसके बावजूद उनमें नैतिकता की सशक्त भावना थी! उनके लिए यह बात स्पष्ट थी कि वे किसी दूसरे को नुकसान नहीं पहुँचाएँगे, एक-दूसरे की देखभाल करेंगे, खुद से कम भाग्यशाली और असहाय लोगों के लिए त्याग करेंगे। इन बच्चों में 'नैतिक गर्व और एक प्रकार का आत्मसम्मान' था। बेशक, कोलेस सावधान करते हैं कि यह बात सब पर एक ही तरह से

1. एक ऐसा रोचक अध्ययन, जो इन प्रश्नों के उत्तर उपलब्ध करवा सकता है, 'यंग लाइव्स' परियोजना है। इसमें पन्द्रह वर्षों तक इथियोपिया, वियतनाम, पेरु और भारत में अध्ययन किया जाएगा। भारत में इसका काम कुछ वर्षों पहले आन्ध्र प्रदेश में प्रारम्भ किया गया, जिसमें वित्तीय रूप से वंचित परिवारों के 3000 बच्चे शामिल हैं। इसका लक्ष्य है कठिन परिस्थितियों में जीने वाले बच्चों पर सामाजिक और राजनीतिक नीतियों के प्रभाव को समझना। आप www.younglives.org.uk से उनके निष्कर्षों के बारे में जानकारी पा सकते हैं।

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

लागू नहीं होती है: उदाहरण के लिए इस छोटे लड़के के पड़ोसी का वर्णन “बदमिज़ाज, चुगलखोर, बेहद अप्रिय!” कहकर किया गया है। और जब कोलेस ने सम्पन्न घरों के बच्चों से बात की तो वहाँ भी उन्हें यही विविधता मिली। कुछ बच्चों ने ‘काफी जिद्दी किस्म के अहंकार, आत्माभिमान व उग्र रूप के स्वार्थीपन’ का प्रदर्शन किया। पर इसके साथ ही ‘...इन सम्पन्न अर्ध-शहरी (suburbs) इलाकों में भी कई उत्साही और नैतिक रूप से संवेदनशील बच्चे मिलते हैं।’ कोलेस उस बात की तलाश में हैं जो यह अन्तर लाता है?



अन्ततः किसी बच्ची या बच्चे की नैतिक भावनाओं का निर्धारण इससे तय होता है कि वह अपनी सामाजिक अन्तरक्रियाओं को किस प्रकार प्रोसेस करता है। मूल्यों को मानना एक बात होती है, पर उनके अनुसार काम करना दूसरी। जो दरअसल महत्वपूर्ण है वह है *नैतिक आचरण* और दुर्भाग्य से, इसकी भविष्यवाणी नैतिक ज्ञान या तर्कों के आधार पर आसानी से नहीं की जा सकती।

नैतिक आचरण

वयस्कों के रूप में हम अक्सर ऐसी स्थितियों का सामना करते हैं जिनमें हमें ऐसे निर्णय लेने और लागू करने पड़ते हैं जो दूसरों के हित को प्रभावित करें। बच्चे भी अक्सर ऐसी स्थितियों का सामना करते हैं और उनके लिए ये स्थितियाँ काफी भ्रामक होती हैं। कोई लड़का अपने सहपाठी से आधी छुट्टी के समय गृहकार्य पूरा करने में मदद माँगता है, जब बाकी सब क्रिकेट खेल रहे हों। क्या वह सहपाठी रुककर मदद करेगा? दो लड़कियाँ मिल-जुलकर एक परियोजना पर काम करती हैं। शिक्षिका परियोजना के विचार के

बेहतरीन होने का श्रेय गलत लड़की को देती है। क्या वह शिक्षिका को बताएगी कि श्रेय दरअसल उसकी साथी को मिलना चाहिए? स्कूल के पर्यावरण रक्षा दल के एक सदस्य को गलियारे में पन्नी गिरी दिखती है। आसपास कोई दूसरा नहीं है। क्या वह उसे फेंकने की ज़हमत उठाएगा? एक छात्रा पाती है कि शिक्षिका ने उसे परीक्षा में पाँच अंक अधिक दे डाले हैं। क्या वह उन्हें कम करवाएगी?

ऊपर जो उदाहरण दिए गए हैं वे सब 'ज़िम्मेदार आचरण' के तहत आते हैं, जिसकी एक परिभाषा मनोवैज्ञानिक कैरॉल इज़र्ड, जॉर्ज बीयर और उनके सहकर्मियों ने इस प्रकार दी है: दूसरों के अधिकारों व हितों से सम्बन्धित निर्णय लेने की, और उन निर्णयों के अनुसार काम करने की क्षमता। किसी परिस्थिति विशेष में कोई बच्चा या किशोर ज़िम्मेदारी से काम करेगा या नहीं, इस बात को कई घटक मिल-जुलकर प्रभावित करते हैं। इज़र्ड और बीयर सामाजिक, संज्ञानात्मक व भावनात्मक घटकों के महत्व पर बल देते हैं। सबसे पहले तो बच्ची को इस **ज़रूरत के प्रति सजग होना** पड़ता है कि उसे किसी खास तरह से व्यवहार करना चाहिए, या किसी खास किस्म के असामाजिक आचरण को रोकना चाहिए। यह चेतना कुछ सामाजिक संकेतों के निहितार्थ निकालने से, दूसरों के दृष्टिकोण के हिसाब से देखने से, या समानुभूति अथवा सहानुभूति की भावना से उपजती है। दूसरा, **उसे पता होना होगा कि क्या करना है**। यह नैतिक तर्कणा करने की क्षमता के अनुरूप होता है, जिसकी हम विस्तार से चर्चा कर चुके हैं। तीसरा, बच्ची को यह तय करना पड़ता है कि वह अपनी निजी नैतिक तर्कणा के अनुसार काम करे। यदि वह चाहे तो व्यक्तिगत स्तर पर उसके लिए चुकाई जाने वाली कीमत और स्वयं को होने वाले फायदे-नुकसान को नाप-तौलकर ऐसा नहीं करना भी तय कर सकती है!

नैतिक आचरण अक्सर व्यक्ति की निजी इच्छाओं से टकराता है, और दरअसल समस्या की जड़ भी यही है। नैन्सी आइज़ेनबर्ग ने अमरीका में नौ से बारह वर्षीय बच्चों के साथ किए गए एक प्रयोगशाला अध्ययन में पाया कि जब इस प्रकार का नैतिक टकराव होता है, तब ही स्वयं से तर्क-वितर्क की सम्भावना अधिक होती है। हल्का-फुल्का मददगार व्यवहार (जैसे किसी

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

की गिरी हुई कलम को उठा देना) बच्चों के लिए अधिक आसान था, और इसमें किसी भी प्रकार की नैतिक तर्कणा की ज़रूरत भी नहीं थी। इसके विपरीत ऐसा सहायतापूर्ण काम जिसमें ज़्यादा कीमत चुकानी पड़ती हो (जैसे अपना नाम गोपनीय रखकर अपनी आय के एक भाग को किसी भले काम के लिए दान देना) स्वयं की ज़रूरतों और इच्छाओं से टकराव पैदा करता है! इस टकराव का समाधान तर्क लगाने से होता है। अतः आइज़ेनबर्ग के अध्ययन में ऐसा मददगार आचरण उन बच्चों में मिलने की सम्भावना ज़्यादा थी जो अमूर्त और आत्मसात किए गए कारणों के आधार पर विवेचना कर सकते थे। लगता यह है कि अमूर्त तर्क करने की क्षमता बच्चों को वह करने को उकसाती है जो उन्हें 'करना चाहिए', तब भी जब ऐसा करने की उनकी इच्छा न हो।

आइज़ेनबर्ग और उनके सहकर्मियों ने एक ज़्यादा वास्तविक जीवन स्थिति में एक और अध्ययन किया। यह दस-से-पन्द्रह साल के मध्यमवर्गीय बच्चों के साथ ब्राज़ील के एक कस्बे में किया गया। उन्होंने विद्यार्थियों से अपने हरेक सहपाठी का इस आधार पर मूल्यांकन करने को कहा कि वे कितने मददगार और उदार हैं। तब उन्होंने इन सूचनाओं को संकलित करके नैतिक तर्कणा की क्षमता की एक परीक्षा से उसके सह-सम्बन्ध को देखा। इस परीक्षा में नीचे दी गई कहानी जैसी कई कहानियाँ थीं।

‘एक दिन मेरी अपने एक दोस्त की दावत में जा रही थी। रास्ते में उसे एक लड़की मिली जो गिर पड़ी थी और उसके पाँव में चोट लग गई थी। उस लड़की ने मेरी से कहा कि वह उसके घर जाकर उसके माता-पिता को बुला लाए ताकि वे उसे डॉक्टर के पास ले जा सकें। परन्तु अगर मेरी उसके घर जाकर उसके माता-पिता को बुलाती है, तो उसे दावत में पहुँचने में देर हो जाएगी और वह अपने दोस्तों के साथ मौज-मस्ती से वंचित हो जाएगी।’

विद्यार्थियों से कहा गया कि मेरी को उस लड़की की मदद करनी चाहिए या नहीं, इस बात के विभिन्न कारणों का वे मूल्यांकन करें। ये कारण नैतिक चिन्तन के अलग-अलग तरीकों को प्रतिबिम्बित करते थे। उदाहरण के लिए:

- यह इस बात पर निर्भर करता है कि मेरी को दावत से कितनी मौज-मस्ती की उम्मीद है (भोगवादी कारण)।

- यह इस बात पर निर्भर करता है कि उस लड़की को सचमुच मदद की ज़रूरत है या नहीं (**आवश्यकता-अभिमुख** कारण)।
- यह इस बात पर निर्भर करता है कि मेरी के माता-पिता और दोस्त इस काम को सही मानेंगे या गलत (**अनुमोदन अभिमुख** कारण)।
- यह इस बात पर निर्भर करता है कि क्या मेरी इसे अच्छा काम मानती है (**रूढ़िबद्ध** कारण)।
- यह इस बात पर निर्भर करता है कि मेरी को मदद करने या नहीं करने पर खुद अपने बारे में कैसा लगेगा (**आत्मसात किया हुआ** कारण)।

शोधकर्ताओं ने पाया कि जिन विद्यार्थियों ने भोगवादी या अनुमोदन अभिमुख कारण चुने थे, उनको उनके सहपाठियों ने कम मददगार व कम उदार आँका। आयु भी एक कारक के रूप में उभरी, और बड़े बच्चों ने अक्सर ज़्यादा अमूर्त और आत्मसात किए गए कारणों को चुना, और जिन्होंने ऐसे कारणों को चुना वे अधिक मददगार भी पाए गए। इसका मतलब यह है कि बच्चों ने जिस प्रकार की तर्कणा का उपयोग किया, उसका सम्बन्ध अपने हमउम्र साथियों के साथ उनके आचरण से भी था। परन्तु यह सह-सम्बन्ध हमेशा बिलकुल सटीक नहीं था; उसमें अपवाद भी थे।

व्यक्ति को क्या 'करना चाहिए' और व्यक्ति आखिरकार क्या करता है, इसके बीच के अन्तर को इलियट ट्यूरियल ने प्राथमिक शाला के बच्चों के साथ किए गए एक अध्ययन के ज़रिए बेहद खूबसूरती से समझा व प्रस्तुत किया है। इन बच्चों को बताया गया कि एक लड़के को उसके दोस्तों ने ललकारा है कि वह *या तो* स्कूल में पाजामा पहनकर आए, *या* फिर किसी का रबर चुराए, *या* फिर अपने किसी सहपाठी को चाँटा लगाए। तब बच्चों से पूछा गया: उसे क्या करना चाहिए? और वह क्या करेगा? बच्चों को लगा कि उसे परिपाटी के उल्लंघन के विकल्प को चुनना **चाहिए** (पाजामा पहने स्कूल आना चाहिए), क्योंकि इससे किसी दूसरे को चोट नहीं पहुँचती। पर जब उन्हें यह चुनने को बाध्य किया गया कि लड़का तीनों में से क्या **करेगा**, तो अधिकांश बच्चों ने कहा कि वह सामाजिक निन्दा के भय से परिपाटी के उल्लंघन के बदले मामूली (रबर चुराना) या बड़ा (किसी को मारना) नैतिक

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

उल्लंघन करेगा। लड़के को क्या करना चाहिए और वह दरअसल क्या करेगा के बीच के अन्तर को छह साल के छोटे बच्चे भी साफ-साफ देख पा रहे थे।

जैसा कि बीयर और इज़र्ड कहते हैं, बच्चा जिसे ज़िम्मेदार आचरण के रूप में जानता है और जो वह अन्ततः करता है, उसके बीच के फर्क को समझाने के लिए वह अक्सर बहाने गढ़ लेता है: 'मैंने उतनी नकल नहीं की जितनी दूसरों ने', 'मैं तो बस खेल कर रहा था', 'उसे पैसे यों बाहर छोड़ने ही नहीं चाहिए थे', और वह प्रसिद्ध बहाना 'शुरुआत उसने ही की थी!' दूसरी ओर, कुछ सशक्त भावनाएँ इस अन्तर को पाट भी सकती हैं। कई बच्चे ज़िम्मेदार आचरण करने का फैसला लेने के सम्बन्ध में अपराधबोध, शर्म या गर्व महसूस करने की बात बताते हैं (जैसे, अगर मैं उसकी मदद न करता तो खुद के साथ जी ही नहीं पाता)।

निष्कर्ष

हालाँकि हम चाहते हैं कि हमारे विद्यार्थी 'सही' सिद्धान्तों को आत्मसात करें, परन्तु अगर हममें ज़रा भी विनम्रता है, तो हम यह भी चाहते हैं कि वे हमारे मूल्यों के आगे जाएँ और स्वयं अपना नैतिक बोध विकसित करें। इसे हासिल करने का एक तरीका है विद्यार्थियों और शिक्षकों के बीच विश्वास और स्नेह के माहौल में नियमित और खुले संवाद के लिए समय निकालना। बेशक, इसका भी कुछ निश्चित असर होगा ऐसा आश्वासन नहीं है! फिर भी, यह सही लगता है कि बच्चों को वयस्कों को चुनौती देने और पलटकर स्वयं चुनौती का सामना करने का अवसर मिले। अधिकांश स्कूलों का वातावरण इसे असम्भव नहीं, तो कम से कम कठिन अवश्य बनाता है।

स्कूलों के वातावरण की दूसरी समस्या यह है कि वे बच्चों से जिस तरह का नैतिक आचरण चाहते हैं, वैसा करने से उन्हें सक्रिय रूप से हतोत्साहित भी करते हैं। इसके कई उदाहरण हैं: जब कोई विद्यार्थी किसी दूसरे को गृहकार्य करने में या (और भी बुरी बात) परीक्षा के दौरान मदद करता है तो इसे नकल या बेईमानी कहा जाता है। अगर एक छात्रा अपनी दोस्त से अधिक अंक पाती है तो उसमें अफसोस नहीं, विजय का भाव उचित माना

जाता है। स्कूल में एक विद्यार्थी की सफलता दूसरे की कीमत पर होती है, पर इस उपलब्धि की सभी तारीफ करते हैं। तंत्र के इन तौर-तरीकों के बच्चों द्वारा नैतिक मूल्यों को आत्मसात करने की प्रक्रिया पर पड़ने वाले सशक्त प्रभावों से हम कमोबेश अनभिज्ञ रहते हैं। डेमन के दस-वर्षीय बच्चों की बात सोचें। उनकी चर्चाओं में निष्कर्ष यह निकला था कि समूह के जिन छोटे सदस्यों ने उतना उत्पादन तो नहीं किया जितना बड़े सदस्यों ने, पर क्योंकि उन्होंने 'अपनी ओर से श्रेष्ठतम' किया था, उन्हें भी उतनी ही मीठी गोलियाँ मिलनी चाहिए थीं जितनी बाकी को। जब हम वयस्क 'रेवड़ी' बाँटते हैं तो हम अक्सर इस सिद्धान्त को तोड़ देते हैं! अपने स्कूलों और कक्षाओं में हम अमूमन प्रयास के बदले क्षमता को पुरस्कृत करते हैं। और स्कूल के बाहर के अधिकांश तंत्र या व्यवस्थाएँ भी ठीक इसी तरह काम करती हैं। अगर हम मानते हैं कि इन गहरे पैठे प्रचलित तौर-तरीकों पर सवाल उठाना ज़रूरी है, तो एक बार फिर इन मुद्दों पर अपने विद्यार्थियों के साथ खुला संवाद करने की ज़रूरत महसूस होती है। यहाँ हम शिक्षकों के रूप में उन्हें अपने नियम नहीं दे रहे होंगे; बल्कि मानव जीवन की जटिलताओं को उनके साथ साझा कर रहे होंगे, इस उम्मीद में कि वे वास्तव में हमसे आगे निकल सकें।

सन्दर्भ और पुस्तक सूची

1. आरसेनियो, डब्ल्यू.एफ., 2001। 'मॉरल एज्युकेशन एंड डोमेंस इन द क्लासरूम।' *स्कूल साइकोलॉजी क्वार्टरली*, खण्ड-17, संख्या-1, 100-07
2. आरसेनियो, डब्ल्यू.एफ., और जे. गोल्ड, 2006। 'द इफेक्ट्स ऑफ सोशल इनजरिस्टिस एंड इनइक्वॉलिटी ऑन चिल्ड्रेंस मॉरल जजमेंट्स एंड बिहेवियर।' *कॉग्निटिव डेवलपमेंट*, 21, 388-400
3. बीयर, जी.जी., एम.ए. मैनिंग, और सी.ई. इज़र्ड, 2003। 'रिस्पॉन्सिबल बिहेवियर: द इंपॉर्टेंस ऑफ सोशल कॉग्निशन एंड इमोशन।' *स्कूल साइकोलॉजी क्वार्टरली*, खण्ड-18, संख्या-2, 140-57
4. कार्लो, जी., एस.एच. कोलर, एन. आइज़ेनबर्ग, एम.एस. डा सिल्वा, और सी.बी. प्रोहलिक, 1996। 'अ क्रॉस-नैशनल स्टडी ऑन द रिलेशंस अमंग प्रोसोशल मॉरल

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

- रीज़निंग, जेंडर रोल ओरिएंटेशन एंड प्रोसोश्यल बिहेवियर्स।' *डेवलपमेंटल साइकॉलजी*, खण्ड-32, संख्या-2, 231-40
5. कोलेस, आर., 1986। *द मॉरल लाइफ ऑफ चिल्ड्रन।* ह्यूटन मिफलिन कम्पनी।
 6. डेमन, डब्ल्यू., 1975। 'अर्ली कंसैप्शंस ऑफ पॉज़िटिव जस्टिस एज़ रिलेटेड टू द डेवलपमेंट ऑफ लॉजिकल ऑपरेशंस।' *चाइल्ड डेवलपमेंट*, 46: 301-12
 7. आइज़ेनबर्ग-बर्ग, एन., और ई. गाइशेकर, 1979। 'कंटेंट ऑफ प्रीचिंग्स एंड पावर ऑफ द मॉडल/प्रीचर: द इफेक्ट ऑन चिल्ड्रंस जेनेरॉसिटी।' *डेवलपमेंटल साइकॉलजी*, खण्ड-15, संख्या-2, 168-75
 8. आइज़ेनबर्ग, एन., आर. शैल, जे. पास्टरनैक, आर. लैनॉन, आर. बैलर, और आर.एम. मैथी, 1987। 'प्रोसोश्यल डेवलपमेंट इन मिडिल चाइल्डहुड: अ लॉन्गिट्यूडिनल स्टडी।' *डेवलपमेंटल साइकॉलजी*, खण्ड-23, संख्या-5, 712-18
 9. गिब्स, जे.सी., और एस.वी. शनैल, 1985। 'मॉरल डेवलपमेंट वर्सेस सोशलइज़ेशन: अ क्रिटीक।' *अमेरिकन साइकॉलजिस्ट*, खण्ड-40, संख्या-10, 1071-80
 10. ग्रुसेक, जे.ई., और जे.जे. गुडनाओ, 1994। 'इंपैक्ट ऑफ पेरेंटल डिसिप्लिन मैथेड्स ऑन द चाइल्ड्स इंटरनलाइज़ेशन ऑफ वैल्यूज़: अ रिकेसेप्टुअलाइज़ेशन ऑफ करेंट प्वाइंट्स ऑफ व्यू।' *डेवलपमेंटल साइकॉलजी*, खण्ड-30, संख्या-1, 4-19
 11. कोचंस्का, जी., 1994। 'बियोन्ड कॉग्निशन: एक्सपैडिंग द सर्च फॉर द अर्ली रूट्स ऑफ इंटरनलाइज़ेशन एंड कॉन्श्यंस।' *डेवलपमेंटल साइकॉलजी*, खण्ड-30, संख्या-1, 20-22
 12. श्वेडर, आर.ए., एम. महापात्रा और जे.जी. मिलर, 1987। 'कल्चर एंड मॉरल डेवलपमेंट।' जो कैगन, जे., और एस. लेम्ब (सम्पादित), *द एमरजेंस ऑफ मॉरैलिटी इन यंग चिल्ड्रन*, में शामिल है, यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस: शिकागो।
 13. स्नेरी, जे.आर., 1985। 'क्रॉस कल्चरल यूनिवर्सलिटी ऑफ सोशल-मॉरल डेवलपमेंट: अ क्रिटिकल रिव्यू ऑफ कोलबर्गियन रिसर्च।' *साइकोलॉजिकल बुलेटिन*, खण्ड-97, संख्या-2, 202-32
 14. टिसैक., एम.एस., और ई. ट्यूरियल, 1988। 'वेरिएशन इन सीरियसनेस ऑफ ट्रांसग्रेसंस एंड चिल्ड्रंस मॉरल एंड कंवेनशनल कॉन्सेप्ट्स।' *डेवलपमेंटल साइकॉलजी*, खण्ड-24, संख्या-3, 352-57
 15. वासुदेव, जे., और आर.सी. हमेल, 1987। 'मॉरल स्टेज सीक्वेंस एंड प्रिंसिपल्ड रीज़निंग इन एन इंडियन सैम्पल।' *ह्यूमन डेवलपमेंट*, 30, 105-18
 16. जाहन-वैक्सलर, सी., एम. रैडकी-चैरो, इ. वैगनर और एम. चैपमैन, 1992। 'डेवलपमेंट ऑफ कंसर्न फॉर अदर्स।' *डेवलपमेंटल साइकॉलजी*, खण्ड-28, संख्या-1, 126-36

अध्याय-7

बुद्धिमत्ता



मनोविज्ञान की कई किताबों में बुद्धिमत्ता का अध्याय इस सवाल के साथ शुरू होता है: 'बुद्धिमत्ता क्या है?' और पाठकों को प्रोत्साहित किया जाता है कि वे अपनी परिभाषाएँ दें। पर जब मैं इसे पढ़ाती हूँ तो मैं अपने विद्यार्थियों से एक दूसरा ही अभ्यास करने को कहती हूँ। यह अभ्यास आपको भी शिक्षाप्रद व रोचक लग सकता है। पाँच ऐसे प्रश्न या काम लिखें जो किसी आयु समूह की 'बुद्धिमत्ता' (आप जिसे भी बुद्धिमत्ता मानते हों) को मापते हों। उदाहरण के लिए, आप चाहें तो छह वर्षीय, या फिर तेरह वर्षीय बच्चों को चुन सकते हैं।

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

बुद्धिमत्ता को मापने के लिए तैयार यह लघु परीक्षा अमूमन कुछ बेहद महत्वपूर्ण और सार्थक प्रश्न उभारती है, और इस अभ्यास के दौरान आप उनका सामना कर सकते हैं।

क्या मैं यह मानकर चलूँ कि:

- सभी बच्चे भारतीय हैं?
- सभी मध्यमवर्गीय हैं?
- सभी स्कूल जाते हैं और पढ़ना व लिखना जानते हैं?
- तो मैं इस परीक्षा को, ज्ञान की बजाय क्षमता को दर्शाने वाली कैसे बनाऊँ?
- क्या मेरी परीक्षा इतनी कठिन होनी चाहिए कि बहुत कम बच्चे सही उत्तर दे पाएँ? या वह इतनी सरल हो कि बहुत कम बच्चे उत्तर देने में *अक्षम* हों?
- महज़ एक बार ली जाने वाली कोई परीक्षा भला बुद्धिमत्ता को कैसे नाप सकती है, जो यथासम्भव व्यापक अर्थ में व्यक्ति जिस तरह अपना जीवन जीता है और अपने वातावरण से जिस प्रकार अनुकूलित होता है, उसमें अभिव्यक्त होती है?

जब मनोवैज्ञानिक बुद्धिमत्ता मापते हैं तो उन्हें जिन मुद्दों का सामना करना पड़ता है, ये प्रश्न उस विषय में हमें सब कुछ बताते हैं। बुद्धिमत्ता जैसी सार्वजनिक वस्तु को मापने की परीक्षा तो ऐसी होनी चाहिए जो किसी भी संस्कृति पर लागू की जा सके, जो समाज के किसी भी तबके से भेदभाव न करे, और जो साक्षरता पर निर्भर न हो। इन सभी शर्तों को पूरा करने वाले टेस्ट बनाना उबेहद कठिन है। और अगर हम यह मानते हैं कि बुद्धिमत्ता अनुभव नहीं बल्कि क्षमता का मसला है, तो हम जल्दी ही परेशान हो जाएँगे। क्योंकि ऐसी परीक्षा की रचना लगभग असम्भव ही है जो अनुभव से पूरी तरह मुक्त हो। अधिकतर प्रश्न अन्ततः ज्ञान अथवा सीखे गए कौशल की जाँच तक सीमित होकर रह जाते हैं। परीक्षा के कठिनाई स्तर बुद्धिमत्ता परीक्षा के बारे में हमारी अपनी विचारधारा और हमारे उद्देश्यों को बताते हैं। अगर हम ऐसे विद्यार्थियों की पहचान करना चाहें जिन्हें कुछ विशेष समस्याएँ हों,

तो हम आसान सवाल पूछेंगे। पर अगर हम यह मानते हों कि बुद्धि ऐसी चीज़ होती है जो केवल कुछ ही लोगों के पास होती है, तो हम कठिन सवाल पूछेंगे। और अन्ततः यह भी सम्भव है कि अपने परिवेश की माँगों के साथ अनुकूलन करने के माध्यम से ही जो बात अभिव्यक्त होती हो उसे कुछ सवालों के बदले दिए जवाबों के माध्यम से मापने के विचार का हम विरोध भी कर सकते हैं।

इन तमाम कारणों से बुद्धि-परीक्षण का विषय मनोवैज्ञानिक शोध के सबसे विवादास्पद और रोचक क्षेत्रों में शामिल रहा है। 1994 में द बैल कर्व (*The Bell Curve*) नामक पुस्तक जन-सामान्य के लिए प्रकाशित हुई थी। इसमें बुद्धिमत्ता सम्बन्धी कई दावे किए गए थे जो सामान्य आबादी में बुद्धि-लब्धि (intelligence quotient अथवा I.Q.) के वितरण से सम्बन्धित थे। यह वितरण घण्टी के आकार का है जिसमें अधिकांश लोग औसत अंक के आसपास और कम से कमतर लोग दोनों सिरों पर अंक पाते हैं। यह वक्र (बैल कर्व) इन्सानों में पाए जाने वाले कई परिवर्तनशील घटकों के लिए (उदाहरण के लिए वयस्क इन्सानों का कद) एक सामान्य और अनापत्तिजनक जीवन तथ्य है। परन्तु इस किताब पर कई लोगों को आपत्ति हुई, क्योंकि इसने यह दावा किया कि गरीबी के कारण परिवेश सम्बन्धी घटक में उतना नहीं मिलते जितना व्यक्ति की बुद्धि-लब्धि (I.Q.) में। आपको शायद यह जानकर आश्चर्य न हो कि पुस्तक के प्रकाशन के फौरन बाद मीडिया और कई अग्रणी वैज्ञानिकों ने उसे चीर-फाड़कर रख दिया। उदाहरण के लिए लेखक और वैज्ञानिक स्टीफन जे. गूल्ड ने लिखा, 'कई पाठकों के लिए द बैल कर्व के ग्राफ और तालिकाएँ उनकी गहन आशंका की पुष्टि करते हैं: कि जनकल्याण, गरीबी और निम्न वर्ग, न्याय के नहीं बल्कि जीव विज्ञान के मसले हैं।' पुस्तक की अधिकतर आलोचना इस बात पर आधारित थी कि अगर गरीबी और बुद्धिमत्ता में सह-सम्बन्ध नज़र आता है, तो इसका अर्थ यह नहीं कि उनके बीच कार्य-कारण का सम्बन्ध भी है। यानी अगर हम सामाजिक वर्ग और बुद्धि-लब्धि के अंकों के बीच सह-सम्बन्ध पाते हैं, तो इससे हमें यह नहीं पता चलता कि गरीबी का कारण बुद्धि है। ज़ाहिर है, यह तथ्य हमें यह भी नहीं बताता कि गरीबी के कारण बुद्धि-लब्धि कम हो जाती है। परन्तु आलोचकों ने नीचे दिए गए

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

बिन्दुओं को स्पष्ट करने का बीड़ा उठाया:

- बुद्धि-लब्धि परीक्षाएँ सम्भवतः वह नहीं मापतीं जिसे अधिकांश लोग बुद्धिमत्ता मानते हैं;
- जीवन में सफल होने के लिए जिन खासियतों की ज़रूरत होती है, बुद्धि-लब्धि परीक्षाएँ उनमें से बस एक छोटे-से हिस्से को ही मापती हैं;
- बुद्धि-लब्धि या आई. क्यू. में अन्तर गुणसूत्र (genes) और परिवेश दोनों से प्रभावित होते हैं;
- गरीब बच्चे वंचित परिवेशों में बढ़ते हैं। इसके कारण बुद्धि-लब्धि परीक्षा में उन्हें कम अंक मिल सकते हैं।

यह विवाद ठण्डा भी न पड़ा था कि दिसम्बर, 1994 में *द वॉल स्ट्रीट जर्नल* (*The Wall Street Journal*) ने 52 प्रमुख वैज्ञानिकों द्वारा हस्ताक्षरित एक आलेख प्रकाशित किया। आलेख ने बुद्धिमत्ता सम्बन्धी शोध की वैज्ञानिक स्थिति के बारे में 'सही सूचनाएँ' देने की कोशिश की थी। कई अन्य बिन्दुओं के साथ आलेख ने स्पष्ट कहा कि:

- बुद्धि-लब्धि परीक्षाएँ सचमुच वह मापती हैं जिसे अधिकांश लोग बुद्धिमत्ता मानते हैं;
- बुद्धि-लब्धि परीक्षाएँ जो मापती हैं, उसका 'भारी व्यावहारिक और सामाजिक महत्व होता है'¹;
- लोगों में बुद्धि-लब्धि सम्बन्धी अन्तर पैदा करने में परिवेश की तुलना में आनुवंशिकता की बराबर या अधिक बड़ी भूमिका होती है;
- हम अब तक यह नहीं जानते कि परिवेश को किस प्रकार बदला जाए जिससे बुद्धि-लब्धि के स्तर को स्थाई रूप से ऊपर उठाया जा सके।

आलेख की लेखिका, लिंडा गॉटफ्रेडसन ने बुद्धिमत्ता को लेकर शोध करने वाले 100 विशेषज्ञों से सम्पर्क किया। उनमें से 52 ने हस्ताक्षर किए और 48 ने ऐसा करने से मना कर दिया। ऊपर दिए वक्तव्य की पुष्टि न करने के

1. यह वक्तव्य पाश्चात्य समाज के सन्दर्भ में दिया गया था और आलेख में संयुक्त राज्य अमरीका के अलावा अन्य देशों और संस्कृतियों के बारे में कोई दावे नहीं किए गए थे।

किसी वैज्ञानिक के भला क्या कारण हो सकते हैं? एक कारण तो यह हो सकता है कि बुद्धिमत्ता की प्रकृति और उसके मापन को लेकर वास्तविक असहमति हो। दूसरा कारण आलेख के विचारों में अन्तरिमता की कमी से उत्पन्न हुई असहजता भी हो सकती है। परन्तु एक सशक्त कारण का सम्बन्ध विज्ञान से नहीं बल्कि नैतिक सिद्धान्त से है। क्या बुद्धिमत्ता को लेकर ऐसे दावे करना जिम्मेदाराना आचरण है जो समाज के बड़े तबकों के साथ भेदभाव को और अधिक बढ़ावा दे, और उन्हें जीवन में सफल हो पाने के न्यायोचित अवसर तक न मिलें?

यह सच है कि *द बैल कर्व* में जिस तरह के विचार व्यक्त किए गए हैं, वैसे विचार सुजनन विज्ञान (eugenics) जैसे सामाजिक आन्दोलनों के लिए ईंधन का काम करते हैं। सुजनन आन्दोलन, जो सौ साल से भी अधिक पुराना है, मानव प्रजनन को इस प्रकार नियंत्रित करने की पैरवी करता है कि आबादी की औसत बुद्धिमत्ता 'सुधारी' जा सके। उनकी नीतियों में उन लोगों की जबरन नसबन्दी करना या उन्हें बच्चे पैदा करने से हतोत्साहित करना भी शामिल है जिनके गुणसूत्रों में बुद्धि-लब्धि कमतर होने की आशंका हो, जबकि दूसरों को अधिक बच्चे पैदा करने को प्रोत्साहित किया जाता है। सुनने में यह बात बेहद बर्बर और सीधे अन्धकार युग से निकली लगती है, परन्तु दुर्भाग्य से ये विचार आज भी जीवित हैं। स्वाभाविक ही है कि सुजननवादी ऐसे सभी सबूतों का स्वागत करेंगे जो उनके सपने को वैज्ञानिक आधार देते हैं। इसमें बुद्धि-लब्धि की आनुवंशिक प्रकृति और इसके द्वारा जीवन में सफलता का निर्धारित होना शामिल है। सुजनन का वैज्ञानिक आधार अगर सच हो तो भी मुझे शंका है कि उच्च बुद्धि-लब्धि वाले लोगों से बसी दुनिया अधिक न्यायोचित और रहमदिल दुनिया होगी। बहरहाल ये प्रश्न अब तक सुलझ नहीं पाए हैं, न ही वे सुलझ पाने के संकेत दर्शा रहे हैं।

यह रोचक है कि भारत में इन मुद्दों पर खास विवाद नहीं हुआ है। सम्भवतः ऐसा इसलिए है क्योंकि हमें यह साफ नज़र आता है कि गरीबी का निहितार्थ है अवसरों की भारी कमी। बुद्धि-लब्धि या I.Q. के कम स्कोर गरीबी का कारण हैं, इस कथन की कोई भी जाँच केवल तब की

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

जा सकती है जब हम पहले सबको समान अवसर उपलब्ध करवा दें (उदाहरण के लिए प्रसव-पूर्व देखभाल, शिशुओं की देखभाल, घर का वातावरण और प्री-स्कूल व स्कूल की गुणवत्ता आदि)। ज़ाहिर है कि हम इस स्थिति से बहुत दूर हैं। बेशक इससे यह नकारा नहीं जा सकता कि भारत में कई लोगों के मन में निचले वर्गों के उनके साथी इन्सानों के बारे में, सम्भवतः अचेतन रूप से, पर गहरी पैठी छवियाँ मौजूद हैं। उदाहरण के लिए, गरीब बच्चों को पढ़ाने वाले शिक्षक उनसे अकादमिक उम्मीदें भी कम रखते हैं। और यह भी सम्भव है कि इन शिक्षकों को यह एहसास भी न हुआ हो कि इन निम्न अपेक्षाओं के क्या कारण हैं, न उन्होंने कभी उन्हें जाँचा होगा। बस इतना ज़रूर है कि जिस प्रकार के वक्तव्य *द बैल कर्व* में दिए गए, वैसे हमारे यहाँ मुख्यधारा में कम ही नज़र आते हैं।

परन्तु हमें इन बहसों के प्रति सचेत होना चाहिए क्योंकि सम्भव है कि देर-सवेर वे यहाँ भी छिड़ें। वैसे भी भारत में अब बुद्धिमत्ता मापने के 'सीधे-सरल' उपाय के रूप में बुद्धि-लब्धि परीक्षा का अधिकाधिक उपयोग होने लगा है। यह सच है कि बुद्धि-लब्धि परीक्षा के कुछ उपयोग तार्किक हो सकते हैं। परन्तु कई माता-पिता और शिक्षक 'बुद्धि-लब्धि प्राप्तांकों (I.Q. स्कोर) को बुद्धिमत्ता के बराबर' ही मान लेते हैं। इस मान्यता और इससे निकलने वाले परिणामों की बजाय अधिक अन्तरिम और सूक्ष्म समीकरणों को रखा जा सकता है, और रखा जाना भी चाहिए। अगले दो भागों में हम बुद्धिमत्ता की परिभाषा और उसके माप को अलग-अलग देखेंगे, हालाँकि इन दोनों का नज़दीकी रिश्ता है। साथ ही मैं उस दौरान बुद्धिमत्ता के कुछ गम्भीर वैकल्पिक दृष्टिकोणों का वर्णन भी करूँगी।

बुद्धिमत्ता की परिभाषा

पिछले हिस्से में *वॉल स्ट्रीट जर्नल* के जिस आलेख का वर्णन किया गया था, उसमें बुद्धिमत्ता का विवरण कुछ यों दिया गया था:

‘...एक बहुत सामान्य मानसिक क्षमता जिसमें अन्य चीज़ों के साथ-साथ तर्क करना, योजना बनाना, समस्याओं को सुलझाना, अमूर्त विचार करना, जटिल विचारों को समझना, जल्दी सीखना और

अनुभव से सीखना भी शामिल है। यह केवल किताबी सीखना, या कोई संकीर्ण अकादमिक कौशल, या परीक्षा देने की चतुराई नहीं है। बल्कि इसका तात्पर्य हमारे परिवेश के बारे में एक अधिक व्यापक व गहन समझ से है – जो चीजों को ‘पकड़ पाने’ से, उनका ‘अर्थ बूझने’ से है या क्या किया जाए उसका ‘अन्दाज़ा लगा लेने’ से है।’

यह ‘आधिकारिक’ परिभाषा लगभग सबको सन्तुष्ट करने की हद तक व्यापक लगती है। परन्तु हमें, शिक्षकों, माता-पिता और सामान्य समाज में बुद्धिमत्ता के बारे में प्रचलित नज़रियों को जाँचने की ज़रूरत है जो इससे कहीं ज़्यादा संकीर्ण होते हैं। भारत और दूसरे देशों में भी बुद्धिमत्ता की अवधारणा को लेकर काफी रुचि है। हमारे देश के विज्ञापन सुबह के नाश्ते के खाद्य पदार्थों और गरम पेयों के माध्यम से अधिक ‘दिमागी शक्ति’ का वादा करते हैं! और एक समाज के रूप में हम जिस किस्म की ‘दिमागी शक्ति’ की तलाश कर रहे हैं, वह काफी संकीर्ण है – ऐसी शक्ति जो बच्चे को स्कूल के अकादमिक कामों में बढ़िया प्रदर्शन करने दे।

बॉक्स-1

बुद्धि-लब्धि परीक्षा (I.Q. की जाँच)

केवल किसी लाइसेंसशुदा व्यक्ति (उदाहरण के लिए कोई मनोचिकित्सक या स्कूली मनोवैज्ञानिक) को ही एक आधिकारिक बुद्धि-लब्धि परीक्षण रखने या लागू करने की अनुमति है। कई गैर-पेशेवर लोग भी अपने निजी परीक्षण बनाकर इंटरनेट पर उन्हें ‘प्रकाशित’ करते हैं, पर इनको केवल मनोरंजन का महत्व ही देना चाहिए। आम तौर पर लोग बुद्धि-लब्धि परीक्षणों के प्रति काफी आकर्षित होते हैं। मुझे लगता है कि ऐसा इसलिए होता है क्योंकि हम सब को मापे जाने और वर्णित किए जाने से प्यार है! परन्तु एक छोटे बच्चे और उसके माता-पिता के लिए इस परीक्षण में महज़ मनोरंजन से कहीं ज़्यादा कुछ दाँव पर लगा होता है। भारत में मनोवैज्ञानिक उनके पास भेजे गए ऐसे बच्चों पर बुद्धि-लब्धि परीक्षणों का उपयोग करते हैं जिनमें सीखने की अक्षमताओं, अति-सक्रियता (hyperactivity), भावनात्मक गड़बड़ी की शंका हो या और जो कुछ भी बात हो जिसकी किसी भी वजह से स्कूली पाठ्यक्रम में उनकी सीधी प्रगति अवरुद्ध हो रही हो।

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

पिछली एक सदी से हम मुख्यतः दो बुद्धि-लब्धि परीक्षणों का ही उपयोग करते रहे हैं (जिनमें इतने सालों में कुछ ही परिवर्तन किया गया है!) – इनमें एक स्टैनफर्ड बिने परीक्षण है और दूसरा वैक्सलर परीक्षण। ये स्थापित परीक्षण सुरक्षित हैं और जब किसी प्रशिक्षित मनोवैज्ञानिक द्वारा लागू किए जाते हैं तो भरोसेमन्द परिणाम देते हैं। इनमें व्यक्ति के प्राप्तांकों की गणना विभिन्न आयु समूहों के बच्चों के औसत प्रदर्शन के आधार पर की जाती है जो इस प्रकार है:

बुद्धि-लब्धि = मानसिक आयु (mental age)

(जिन बच्चों को विद्यार्थी के समान अंक मिले हों उनकी आयु) $\times 100$

विद्यार्थी की कालक्रमिक आयु (chronological age) वर्षों में)

100 का प्राप्तांक 'औसत' बुद्धिमत्ता के बराबर माना जाता है, क्योंकि इसका मतलब है कि किसी विद्यार्थी ने अपनी आयु के अन्य बच्चों के समान प्रदर्शन किया है। लगभग दो-तिहाई आबादी को 85 से 115 के बीच अंक मिलते हैं। परम्परागत रूप से 70 से कम अंक पाने वाले को मानसिक रूप से पिछड़ा माना जाता है। ये सारे अंक काफी भरोसे लायक और सूचना देने वाले लग सकते हैं, पर शिक्षकों के रूप में हमें बुद्धि-लब्धि परीक्षण के नतीजों का अर्थ निकालने में सावधानी बरतनी चाहिए। बच्चों के बुद्धि-लब्धि प्राप्तांकों के बारे में कुछ महत्वपूर्ण बिन्दु ये हैं:

- यह संख्या बच्चे की कोई स्थिर चारित्रिक विशेषता का प्रतिनिधित्व नहीं करती (जैसे कि उसका रक्त समूह या अँगूठे का निशान करता है)।
- यह संख्या नीचे दी गई बातों में से किसी एक या सभी को परिलक्षित कर सकती है: निश्चित उत्तर वाले सवालों (closed ended problems) को सुलझाने की क्षमता जिनमें मौखिक/तार्किक/स्थानिक (spatial) तर्क और याददाश्त की जरूरत पड़ती हो, दो घण्टे के परीक्षण में अपना श्रेष्ठतम प्रदर्शन करने की अभिप्रेरणा, परीक्षण की अपरिचित परिस्थिति और उसके कारणों से उत्पन्न दुश्चिन्ता, अनुपालन करने वाला आज्ञाकारी व्यक्तित्व।
- माप में कुछ त्रुटि (error of measurement) होती है (जैसी सभी मापन यंत्रों में होती है, देखें अध्याय 9), जिसका अर्थ है कि आपको इन संख्याओं को किसी भी अर्थ में बिलकुल सही और सटीक नहीं मानना चाहिए।

ऐसा नहीं है कि हम किसी भी दूसरी चीज़ को महत्व नहीं देते – हमारे श्रेष्ठ खिलाड़ियों, संगीतकारों, नर्तकों, लेखकों व अन्य विशेष प्रतिभा वाले लोगों को भी हम पूजते हैं। परन्तु अन्तर यह है कि हम इस धारणा को बड़ी आसानी से स्वीकार लेते हैं कि ये प्रतिभाएँ हम सबके बीच समान रूप से वितरित नहीं हैं। उदाहरण के लिए, संगीत या एथलेटिक्स का रुझान न रखने वाला बच्चा अपने या अपने परिवार के लिए कोई समस्या खड़ी नहीं करता। अगर बच्ची गा नहीं सकती या तेज़ दौड़ नहीं सकती तो कोई फर्क नहीं पड़ता। पर अगर वह स्कूल में अच्छा प्रदर्शन नहीं करती तो उस पर फौरन दबाव डाला जाने लगता है।

क्या आप बुद्धिमत्ता को स्कूल में अच्छा प्रदर्शन करना कहकर परिभाषित करेंगे? शायद नहीं। पर हम इन दोनों बातों को अक्सर बराबर ज़रूर मानते हैं। सच तो यह है कि भारत में हम बुद्धिमत्ता को गणित व विज्ञान में अच्छा होने के समान मानते हैं, भाषा और मानविकी में नहीं। बुद्धिमत्ता की यह परिभाषा इतनी संकीर्ण है कि माफ करने लायक नहीं है। हम में से प्रत्येक बुद्धिमत्ता को अपने ही तरीके से परिभाषित कर सकते हैं, पर कुछ बातें जो अधिकांश लोग अपनी परिभाषा में शामिल करेंगे, वे हैं तार्किक विवेचना, विश्लेषणात्मक चिन्तन और रचनात्मक समस्या समाधान। कुछ लोग इसमें याददाश्त और सूचना को प्रोसेस करने (पचाने) की गति को भी जोड़ेंगे! मनोवैज्ञानिक शोध में इसकी परिभाषाएँ अधिक बुनियादी (स्नायुतांत्रिक कुशलता या *neurological efficiency*) से लेकर उच्च स्तरीय (चिन्तन व विमर्शपूर्ण आत्मनिर्देशन का ज्ञान) और उससे भी आगे जाकर सन्दर्भ-आश्रित (व्यक्ति की प्रतिभा और उसके समाज में मूल्यवान मानी जाने वाली प्रतिभाओं के बीच तालमेल) तक की मिलती हैं।

बुद्धिमत्ता को परिभाषित करने का एक महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि क्या वह कोई 'एक चीज़' है या 'कई चीज़ें' है। जो लोग इसे एक चीज़ मानते हैं, वे उसे 'जी' (*general*) या सामान्य घटक कहते हैं, और उनके निष्कर्ष की पुष्टि बुद्धि-लब्धि (*I.Q.*) परीक्षण में विभिन्न कामों में सह-सम्बन्ध दर्शाने वाले आँकड़े करते हैं। तो इसका मतलब यह होता है कि अगर आप किसी एक चीज़ में अच्छे हैं तो आप सब में अच्छे होंगे, क्योंकि जी ऐसी वस्तु है जो सभी

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

क्षमताओं को प्रभावित करती है, और वह आप में ज़्यादा मात्रा में है। एक प्रारम्भिक मनोवैज्ञानिक ने (चार्ल्स स्पीयरमैन ने 1914 में) जी को 'मानसिक ऊर्जा का सामान्य कोष' कहा था। जिन सिद्धान्तों में बुद्धिमत्ता को स्नायुतांत्रिक कुशलता के रूप में देखा जाता है (उदाहरण के बतौर, जानकारी प्रोसेस करने की गति, संवेदी तंत्रों के आधार पर विभेदीकरण), वे जी घटक का समर्थन करते हैं। क्योंकि, उनके अनुसार मस्तिष्क की संरचना (wiring) में ही कुछ ऐसा होता है जो लोगों को ज़्यादा या कम बुद्धिमत्ता वाला बनाता है।

ज़ाहिर है कि ऐसा घटक व्यक्ति की सभी क्षमताओं को प्रभावित करेगा। परन्तु जी की मौजूदगी का हमारे पास कोई सशक्त प्रमाण नहीं है – बुद्धि-लब्धि परीक्षण के विभिन्न उप-परीक्षणों में लोगों के अंकों में बहुत सीमित हद तक सह-सम्बन्ध नज़र आता है। कई लोग बुद्धिमत्ता को **बहुआयामी** (multidimensional) मानते हैं, जिसके कई भिन्न पक्ष हों और ज़रूरी नहीं कि ये पक्ष परस्पर सह-सम्बन्धित हों। मनोवैज्ञानिक हावर्ड गार्डनर और रॉबर्ट स्टर्नबर्ग इस दूसरे समूह में आते हैं।

गार्डनर बताते हैं कि 'स्कूली किस्म की बुद्धिमत्ता' समाज में अन्य प्रतिभाओं से अधिक कीमती मानी जाती है। किसी एक दक्षता को, जो आबादी में अलग-अलग मात्रा में मौजूद होती है, इस कदर बेहिसाब महत्व देना निश्चित ही समस्याएँ पैदा करता है। गार्डनर की बात को समझने के लिए एक ऐसी दुनिया की कल्पना करें जहाँ केवल वे ही लोग जीवन में सफल हो सकते हैं जो खेलकूद में उम्दा हों। यह निश्चित ही हम में से कई लोगों के लिए एक दुखद छवि प्रस्तुत करती है, कि हम बचपन में, उच्च शिक्षा और फिर नौकरी तलाशने के दौरान लगातार संघर्षरत और असफल रहेंगे। और इसके ठीक विपरीत, हम में से कुछ के लिए अचानक सुनहरा भविष्य सुनिश्चित हो जाएगा! जब हम स्कूली किस्म की बुद्धिमत्ता को सबसे कीमती बना डालते हैं तब भी बिलकुल इसी तरह की बात होती है। इस स्थिति पर अनुक्रिया करते हुए गार्डनर ने बुद्धिमत्ता की पुनर्परिभाषा की और उसे कई भिन्न किस्मों का होना बताया। ये किस्में जैसा आप नीचे देख सकते हैं, मोटे रूप में ऐसी क्षमताओं से मिलती-जुलती हैं जिन्हें हम अन्यथा प्रतिभा कह सकते हैं। गार्डनर के बहु-बुद्धिमत्ता सिद्धान्त के अनुसार हम सब में विभिन्न किस्म

की बुद्धिमत्ताएँ अलग-अलग पैमाने में मौजूद होती हैं। अतः प्रत्येक व्यक्ति की मज़बूतियों व कमज़ोरियों का अपना निजी 'जखीरा' (profile) होता है, और शिक्षा को इन सभी को आनुपातिक रूप से फलने-फूलने देने की कोशिश करनी चाहिए।

हावर्ड गार्डनर की सात बुद्धिमत्ताएँ:

1. भाषाई (उदाहरण, तेज़ी से नए अर्थों को पकड़ना)।
2. सांगीतिक (उदाहरण, स्वर के प्रति संवेदनशील होना)।
3. तार्किक-गणितीय (उदाहरण, अमूर्त विवेचना कर पाना)।
4. स्थानिक (उदाहरण, देखी हुई वस्तुओं की मानसिक छवि गढ़ पाना)।
5. शारीरिक-गतिविधिक (उदाहरण, नृत्य जैसी सुन्दर या व्यायामी क्रियाएँ)।
6. व्यक्तिगत (उदाहरण, अपनी मंशाओं को समझना)।
7. सामाजिक (उदाहरण, दूसरों की भावनाओं को समझना)।

अगर हम चाहें तो, सिद्धान्ततः इन बुद्धिमत्ताओं को और भी बुद्धिमत्ताओं में फैलाया जा सकता है। क्योंकि आखिरकार इन प्रारम्भिक सात बुद्धिमत्ताओं के लिए कोई सशक्त जीव वैज्ञानिक आधार तो है नहीं!² हाल में गार्डनर ने इस सूची में दो और बुद्धिमत्ताओं को जोड़ा है – प्रकृतिवादी और आध्यात्मिक

2. बुद्धिमत्ता के ऐसे भी बहुआयामी सिद्धान्त हैं जिनका जीव वैज्ञानिक आधार होता है। ये मानसिक मॉड्यूल (mental module) सिद्धान्त हैं। उद्विकासीय मनोवैज्ञानिक लेडा कॉस्मिडेस और जॉन टूबी हमें बताते हैं कि इन्सानों में कई अलग-अलग मॉड्यूल क्रमिक रूप से विकसित हुए जो हमें भाषाएँ सीखने, चेहरे पहचानने, एक-दूसरे की मंशाओं को समझने आदि में सक्षम बनाते हैं। सम्भव है कि मस्तिष्क का एक और मॉड्यूल हमें नई परिस्थितियों पर सोचने और उनकी विवेचना कर उनसे निपटने में मदद करता हो – और यह जी घटक का प्रतिनिधित्व कर सकता हो। वे कहते हैं कि इनमें से प्रत्येक मॉड्यूल सम्भवतः एक अलग किस्म की बुद्धिमत्ता है, और इन्सान इन क्षमताओं में एक-दूसरे से अलग होते हैं। महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि स्नायु विज्ञानी (neuroscience) शोध ने मस्तिष्क के कुछ विशेष भागों में इन अलग-अलग मॉड्यूलों को स्थित पाया है। इससे इस सिद्धान्त को कुछ जीव वैज्ञानिक आधार मिलता है।

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

बुद्धिमत्ता। यह एक महत्वपूर्ण बिन्दु को सामने रखता है। सम्भव है कि 'बुद्धिमत्ता क्या है?' इस प्रश्न का जवाब एक खोज न होकर एक निर्णय ही हो। और इस अर्थ में बुद्धिमत्ता के किसी भी सिद्धान्त का मूल्यांकन इन्सानी व्यवहार का वर्णन करने में उसकी उपयोगिता के आधार पर होना चाहिए, न कि उसकी 'सत्यता' के मूल्य के आधार पर। अगर गार्डनर का बहु-



अनुकूली बुद्धिमत्ता

बुद्धिमत्ता सिद्धान्त हमें काबिलियतों के विभिन्न क्षेत्रों में बच्चों की अलग-अलग मजबूतियों के प्रति अधिक संवेदनशील बनाता है, अगर यह हमें शिक्षा के दायरे को व्यापक बनाने को प्रोत्साहित कर इन क्षेत्रों को शामिल करने देता है, और साथ ही समाज के मूल्यों का विश्लेषण करने का बढ़ावा देता है, तो मेरी दृष्टि में यह एक अच्छा सिद्धान्त है। बुद्धिमत्ता के अन्य सिद्धान्तों का भी इसी नज़रिए से मूल्यांकन किया जा सकता है।

रॉबर्ट स्टर्नबर्ग, जो इस क्षेत्र में एक सक्रिय विचारक हैं, एक अलग परिभाषा सुझाते हैं। अव्वल तो, वे कहते हैं कि बुद्धिमत्ता ऐसी चीज़ है जो किसी भी सन्दर्भ में लागू होती है। हम केवल स्कूली प्रदर्शन को अलग करके, स्कूल को वह स्थान नहीं कह सकते जहाँ बुद्धिमत्ता प्रकट होती है। सड़कों या जंगलों में बचे रहने वाला व्यक्ति भी अपनी बुद्धिमत्ता का उपयोग करता है और बुद्धिमान आचरण दर्शाता है। दूसरे, बुद्धिमत्ता वह मानसिक क्षमता है जिसकी ज़रूरत हमें अपने आसपास के सन्दर्भ से अनुकूलित होने के लिए और उसे आकार देने के लिए पड़ती है। अतः यह महज़ किसी बुद्धि-लब्धि परीक्षण में अच्छा प्रदर्शन करने की क्षमता भर नहीं है, बल्कि जंगल में अपनी राह तलाश पाने और सड़कों पे परेशानियों से एक कदम आगे रह पाने की क्षमता भी है। और तीसरे, वे कहते हैं कि बुद्धिमत्ता उन मानसिक क्षमताओं का प्रतिनिधित्व करती है जो केवल उपयोगी या वांछनीय नहीं, जीवन की

रक्षा के लिए अनिवार्य हैं। इस पक्ष से देखें तो गार्डनर की कुछ बुद्धिमत्ताएँ स्टर्नबर्ग के बुद्धिमत्ता के मापदण्डों के अनुरूप नहीं हैं।

स्टर्नबर्ग के त्रिकोणीय (triarchic) सिद्धान्त में तीन प्रकार की बुद्धिमत्ताएँ हैं: विश्लेषणात्मक, रचनात्मक और व्यावहारिक। स्टर्नबर्ग और उनके सहकर्मियों ने भारत, रूस, तंज़ानिया और संयुक्त राज्य अमरीका जैसे दूर-दूर स्थित देशों में शोध किया और यह दर्शाया कि हालाँकि ये तीनों बुद्धिमत्ताएँ एक-दूसरे से भिन्न हैं, फिर भी तीनों का वास्तविक जीवन स्थितियों में कामयाबी के साथ सह-सम्बन्ध होता है। इन तीनों में पहली, विश्लेषणात्मक बुद्धिमत्ता है। आम तौर पर हम इसे ही समूची बुद्धिमत्ता मान लेते हैं। यह परिभाषा बेहद संकीर्ण है, और स्टर्नबर्ग का दावा है कि जिन लोगों में विश्लेषणात्मक बुद्धिमत्ता कम हो पर ऊँचे दर्जे की रचनात्मक और/या व्यावहारिक बुद्धिमत्ता हो, वे भी सही वातावरण में उम्दा प्रदर्शन करते हैं। उनका कहना है कि ऐसे लोग अक्सर हाशिए पर धकेल दिए जाते हैं क्योंकि उन्होंने विश्लेषणात्मक बुद्धिमत्ता के मापदण्डों के अनुसार अच्छा प्रदर्शन नहीं किया होता है, जिस अकेले को स्कूलों में मूल्यवान माना जाता है।

स्टर्नबर्ग के परीक्षणों के कुछ उदाहरण यहाँ दिए गए हैं (मैंने उनमें से कुछ का भारतीय स्थितियों के अनुरूप संशोधन किया है)।

विश्लेषणात्मक बुद्धिमत्ता:

1. ज़खला की अगली संख्या लिखें : -4, -3, -1, 3, 11, 27

2. नीचे दिए अनुच्छेद में 'डुग' शब्द का सबसे सही अर्थ चुनें:

'कोई भी धन्धा अगर अपने नियमित ग्राहकों की उपेक्षा करते हुए नए डुगों पर ध्यान दे, तो वह यह पा सकता है कि बिक्री नहीं बढ़ रही है। इस तरह से पैदा की गई नई रुचि ऐसे असन्तुष्ट ग्राहकों के कारण बिक्री में आई कमी की क्षतिपूर्ति नहीं कर सकती, जो दूसरी दुकानों से खरीददारी करने लगे हैं।' 'डुग' शब्द का सबसे सम्भावित अर्थ है:

- | | |
|-------------|-----------|
| क) उत्पाद | ख) ग्राहक |
| ग) विज्ञापन | घ) निवेश |

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

रचनात्मक बुद्धिमत्ता:

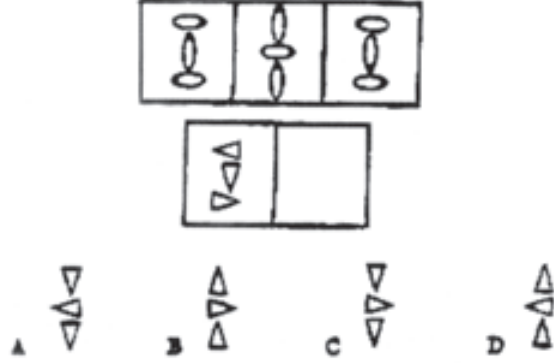
1. एक नई गणितीय संक्रिया है जिसे जूगी कहते हैं। इसकी परिभाषा इस प्रकार है:

x जूगी y = $x+y$, अगर $x < y$

पर बाकी सब स्थितियों में, x जूगी y = $-x-y$

4 जूगी 7 कितना है?

7 जूगी 7 कितना है?



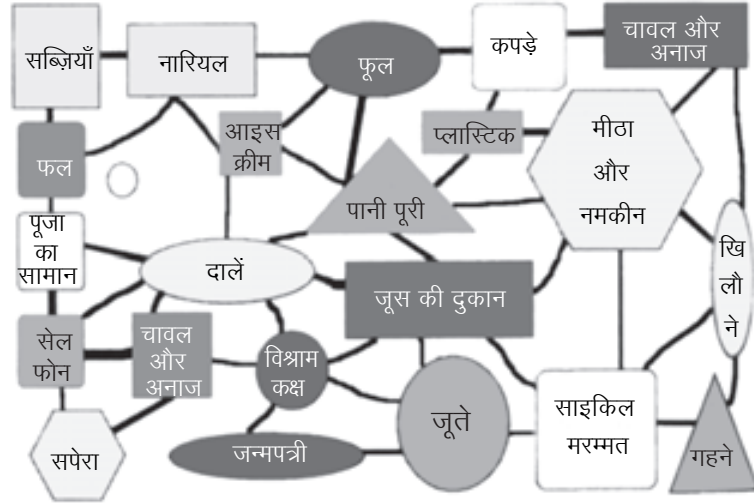
2. पहले क्रम को देखकर दिए गए विकल्पों में से किसी एक को चुनकर दूसरे क्रम को पूरा करें।

व्यावहारिक बुद्धिमत्ता:

1. आपकी सहेली कई हफ्तों से अपना गृहकार्य (होमवर्क) नहीं कर रही है, हालाँकि आप उसे समझाती रही हैं कि यह उसके ही फायदे के लिए है। हाल में उसने आखिरी वक्त पर आपके जवाबों की नकल करना शुरू कर दिया है। अगर आप अपनी सहेली की मदद करना चाहती हैं, और साथ ही अगर सम्भव हो तो उसे उसकी शिक्षिका और उसके बेहद सख्त माता-पिता से बचाना भी चाहती हैं, तो सबसे बढ़िया समाधान क्या होगा?

- (क) अपने माता-पिता से सलाह लेना, क्योंकि वे उसके परिवार के अच्छे परिचित हैं।
- (ख) सहेली को सुझाव देना कि वह शिक्षिका को सब कुछ बताए और उनसे मदद माँगे।
- (ग) शिक्षिका को जो कुछ घट रहा है वह बताना, और उनसे अनुरोध करना कि वे आपकी सहेली के खिलाफ अनुशासनात्मक कार्यवाही न करें।

2. नीचे दिए गए नक्शे का उपयोग कर, सवाल का जवाब दें:



आप मोबाइल फोन की दुकान से जूतों की दुकान की ओर पैदल जा रहे हैं। आपका दोस्त जन्मपत्री की दुकान से आइसक्रीम की दुकान की ओर चल रहा है। इनमें से किन स्थानों से आप दोनों के ही गुज़रने की सम्भावना है?

- क) चावल व अनाज की दुकान ख) पेशाबघर
ग) सपेरा घ) दालों की दुकान

जीवन के विविध क्षेत्रों के लोगों में व्यावहारिक बुद्धिमत्ता के अनेक रोचक अध्ययनों के उदाहरण उपलब्ध हैं, जिनमें घुड़दौड़ में बाज़ी लगाने वालों और

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

बॉक्स-2

व्यावहारिक बुद्धिमत्ता, निहित ज्ञान

एक बार एक मनोवैज्ञानिक को मन्दबुद्धि बच्चों के स्कूल में बुद्धि-लब्धि (I.Q.) परीक्षण करने के लिए बुलाया गया। जब वे पहुँचे तो उन्होंने पाया कि व्यापक सुरक्षा व्यवस्था के बावजूद विद्यार्थी स्कूल के कार्यकर्ताओं को चकमा देकर भाग चुके थे। जब बच्चों को अन्ततः घेरकर लाया गया, मनोवैज्ञानिक ने उन्हें एक भूल-भुलैयाँ परीक्षण (maze test) हल करने को दिया, जिसमें कागज़ पर बनी भूल-भुलैयाँ से निकलने का रास्ता पेंसिल से दर्शाना पड़ता है। जो विद्यार्थी अपनी निगरानी करने वालों की नज़र से बच निकले थे, उनमें से कोई भी परीक्षण में दी गई भूल-भुलैयाँ से निकलने का रास्ता नहीं तलाश पाया।

यह एक सच्ची कहानी है, और यह दर्शाती है कि जिसे मनोवैज्ञानिक व्यावहारिक बुद्धिमत्ता और परम्परागत कागज़-और-पेंसिल परीक्षण कहते हैं, उन दोनों में मेल नहीं है। नीचे दी गई तालिका ऐसे परीक्षणों और वास्तविक दुनिया की माँगों के बीच अन्तर को दर्शाती है।

बुद्धिमत्ता के अकादमिक परीक्षण में ऐसी समस्याएँ होती हैं जिनमें...	वास्तविक दुनिया के व्यावहारिक बुद्धिमत्ता परीक्षणों में ऐसी समस्याएँ होती हैं जिनमें...
<ol style="list-style-type: none"> 1. सभी आवश्यक जानकारियाँ शुरु से उपलब्ध होती हैं; 2. अमूमन समस्याएँ सुपरिभाषित होती हैं; 3. व्यक्तिगत रुचि की बात नहीं होती; 4. रोज़मर्रा के अनुभव से कटाव/अलगाव होता है; 5. केवल एक ही समाधान सही हो सकता है। 	<ol style="list-style-type: none"> 1. सभी आवश्यक जानकारियाँ शुरु से मौजूद नहीं होतीं; 2. समस्याएँ सुपरिभाषित नहीं होतीं; 3. व्यक्तिगत रुचि की बात होती है; 4. रोज़मर्रा के अनुभवों से सम्बन्ध होता है; 5. जिनके उनके समाधान हो सकते हैं, और प्रत्येक के अपने नफे-नुकसान होते हैं।

मनोविज्ञान के प्रोफेसरों से लेकर ब्राज़ील की सड़कों पर फेरी लगाने वाले तक शामिल हैं। ये सभी अध्ययन दर्शाते हैं कि व्यावहारिक बुद्धिमत्ता अधिकांशतः अकादमिक बुद्धिमत्ता से असम्बद्ध है। रॉबर्ट स्टर्नबर्ग दूध प्रसंसाधित करने वाले एक कारखाने के कामगारों पर किए गए अध्ययन के नतीजों का वर्णन करते हैं। 'जो कामगार विभिन्न मात्राओं (उदाहरण के लिए, गैलन, क्वार्ट, पाइंट) और उत्पादों (उदाहरण के लिए, पूर्ण वसायुक्त दूध, दो प्रतिशत वसायुक्त दूध, या छाछ) के डिब्बों को इकट्ठा कर ऑर्डर के अनुसार इकट्ठा कर जमाते हैं, उन्हें एसैम्बलर (assembler – इकट्ठा करने वाला) कहा जाता है... अनुभवी एसैम्बलर जटिल रणनीतियों का उपयोग कर के आंशिक रूप से भरे डिब्बों में चीज़ें रखते थे ताकि किसी ऑर्डर विशेष को पूरा करने में उन्हें कम से कम धराई-उठाई करनी पड़े। हालाँकि एसैम्बलर उस कारखाने के सबसे कम शिक्षित कामगार थे, वे मन ही मन अलग-अलग आधार वाली संख्या प्रणालियों (base number systems) के अनुसार गणना करके नतीजे में प्राप्त मात्राओं को समझ लेते थे। और वे उन अधिक शिक्षित सफेदपोश कार्यकर्ताओं से हमेशा बेहतर प्रदर्शन करते थे जो एसैम्बलर के छुट्टी पर जाने पर उनके एवज़ में काम करने आते थे... एसैम्बलरों का ऑर्डर भरने का प्रदर्शन स्कूली प्रदर्शन के मानकों से असम्बद्ध था, और बुद्धिमत्ता परीक्षण के अंकों, गणित परीक्षण के अंकों और ग्रेड्स से भी।'

स्टर्नबर्ग *सफल बुद्धिमत्ता* की बात भी करते हैं, जो अपनी मज़बूतियों का अधिकतम लाभ उठाने और अपनी कमज़ोरियों की क्षतिपूर्ति करने की क्षमता है। इस दृष्टि से बुद्धिमत्ता वह है जो हमें जीवन में सफल होने में मदद करती है। फिर भी परम्परागत बुद्धि-लब्धि परीक्षाएँ जिन क्षमताओं को उभारती हैं – - विश्लेषण, विवेचन, मौखिक क्षमताएँ – उनकी हम उपेक्षा नहीं कर सकते। जैसे स्टर्नबर्ग कहते हैं कि व्यावहारिक बुद्धिमत्ता के मापों को मौजूदा परम्परागत परीक्षाओं के स्थान पर रखने की बजाय उन्हें पूरकों के रूप में जोड़ने पर हम बुद्धिमत्ता का अधिक सम्पूर्ण हिसाब पा सकेंगे, बनिस्बत इनमें से किसी एक के द्वारा मापने पर।

गार्डनर और स्टर्नबर्ग की बुद्धिमत्ता की परिभाषाएँ मुक्तिदाई हैं। जो स्कूल ऐसी परिभाषाओं को अपनाते हैं, वे अपने पाठ्यक्रम को इस तरह बदलेंगे कि

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

विभिन्न क्षमताओं को प्रोत्साहित किया जा सके और व्यावहारिक व रचनात्मक बुद्धिमत्ता को भी। परन्तु जब तक पूरा समाज बुद्धिमत्ता को लेकर संकीर्ण सोच रखेगा, ऐसे स्कूलों के विद्यार्थियों को एक अर्थ में 'लहरों के विपरीत तैरना पड़ेगा'। आजकल हमारे समाज में तमाम रोचक, सार्थक व चुनौतीपूर्ण व्यवसायों को बहुत कम सम्मान मिलता है, या बिलकुल भी सम्मानजनक नहीं माना जाता (इसका श्रेष्ठतम उदाहरण है अध्यापन!)।

अगर मनोवैज्ञानिक लोग मापन की ओर मुड़ने से पहले परिभाषा के मुद्दों को सुलझाने का इन्तज़ार करें, तो उन्हें अनन्तकाल तक इन्तज़ार करना पड़ेगा। आसानी से परिभाषित न किए जा सकने वाले इस गुण को मापने के गत 100 से भी अधिक वर्षों में अनेकों प्रयास हुए हैं। हम अब उनकी ओर मुड़ते हैं।

बुद्धिमत्ता का मापन

ज़ाहिर है कि आप बुद्धिमत्ता को जिस तरह परिभाषित करते हैं वह उसे मापने के तरीके को भी प्रभावित करता है। डार्विन के दूर के रिश्ते के भाई, फ्रांसिस गाल्टन, पिछली शताब्दी के अन्त में यह मानते थे कि बुद्धिमत्ता मस्तिष्क का ऐसा गुण है जो विरासत में मिलता है, यह तांत्रिकीय कुशलता (neural efficiency) का मसला है, अतः उसे अनुक्रिया करने में लगने वाले समय और ऐन्द्रिक या संवेदी विभेदन के कार्यों द्वारा नापा जा सकता है। उन्होंने इंग्लैंड में आयोजित एक सार्वजनिक मेले में एक दुकान लगाई और छोट-सा शुल्क लेकर हज़ारों लोगों की परीक्षा करने का प्रस्ताव रखा। परन्तु दुर्भाग्य से उनके द्वारा एकत्रित आँकड़ों ने दर्शाया कि जिन लोगों ने कम समय में अनुक्रिया की, या जिनमें विभेद कर पाने की क्षमता थी, वे जीवन में सफल लोग नहीं थे। सो, उन्हें यह विचार त्यागना पड़ा। उसके बाद के वर्षों में कई बुद्धि परीक्षण रचे गए जो विभिन्न परिभाषाओं पर आधारित थे। इसके कुछ उदाहरण ये हैं:

- जो लोग बुद्धिमत्ता को 'सीखने की क्षमता' के रूप में देखते हैं वे गत्यात्मक (dynamic) परीक्षणों का उपयोग सुझाते हैं। गत्यात्मक

परीक्षण परीक्षणों को केवल अतीत में सीखे गए का माप नहीं मानते, बल्कि परीक्षण के दौरान ही सीखने की प्रक्रिया को मापते हैं। अगर आप किसी प्रश्न का सही उत्तर दे देते हैं, तो आप आगे बढ़ जाते हैं; अगर नहीं दे पाते तो आपको कुछ दिशादर्शक निर्देश (guided feedback) मिलते हैं ताकि उत्तर देने में आपको मदद मिले। निर्देशों या फीडबैक की मात्रा और उसके प्रकार, और साथ ही आपने जो प्रगति की, इन सबको मिलाकर बुद्धिमत्ता मापी जाती है।

- गार्डनर और उनके सहकर्मियों ने बुद्धिमत्ता के ऐसे परीक्षण बनाए हैं जो आचरणों, दिए गए कार्य (project) और काम के संग्रह (portfolio) की अवलोकनात्मक जाँच सूचियों की प्रणाली पर आधारित होते हैं। उदाहरण के लिए एथलेटिक संचालन (शक्ति, स्फूर्ति, गति और सन्तुलन) का मूल्यांकन गतिसंवेदी (kinaesthetic) बुद्धिमत्ता के तहत किया जाता है। ये परीक्षाएँ न तो मानकीकृत हैं, न ही व्यापक स्तर पर उपलब्ध।
- स्टर्नबर्ग का त्रिकोणीय (triarchic) क्षमता परीक्षण भी है जो विश्लेषणात्मक, रचनात्मक और व्यावहारिक बुद्धिमत्ता को बहु-विकल्प व निबन्धात्मक प्रश्नों से जाँचता है (इसके उदाहरण पहले दिए जा चुके हैं)। इस परीक्षण के विभिन्न संस्कृतियों में अच्छे नतीजे मिले हैं, परन्तु अब भी इसका व्यापक उपयोग नहीं हो रहा है।
- तमाम सिद्धान्तों और परीक्षणों के बावजूद बुद्धिमत्ता को जाँचने के लिए जिस परीक्षण का आम तौर पर उपयोग किया जाता है, वह है बुद्धि-लब्धि (I.Q.) परीक्षण, और ऐसा सौ वर्षों से भी ज़्यादा समय से हो रहा है। सबसे ज़्यादा उपयोग दो बुद्धि-लब्धि परीक्षणों का होता रहा है – स्टैनफोर्ड-बिने परीक्षण और वैक्सलर परीक्षण। इनमें कई उप-परीक्षण शामिल होते हैं जो शब्दावली, याददाश्त और जानकारी को प्रोसेस करने की गति से लेकर तार्किक विवेचना और स्थानिक (spatial) पहलियों तक के होते हैं। किसी भी बुद्धि-लब्धि परीक्षण को ध्यान से देखें (आगे दी गई तालिका को देखें) तो आप यह बता सकेंगे कि उस परीक्षण को बनाने वाला बुद्धिमत्ता को कैसे परिभाषित करता है।

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

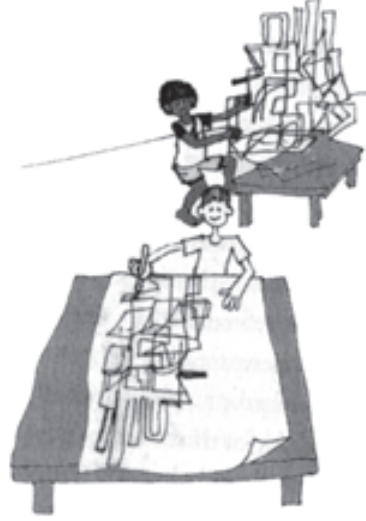
वैक्सलर वयस्क बुद्धिमत्ता पैमाने के उप-परीक्षण

1. सूचना (भाष किससे बनी होती है?)।
2. डिजिट स्पैन या अंक विस्तृति (अल्पकालिक याददाश्त)।
3. शब्दावली।
4. गणित।
5. अर्थग्रहण (बीमा कम्पनियाँ लाभ कैसे कमाती हैं?)।
6. समानताएँ (किताबें और टेलीविज़न किस प्रकार समान हैं?)।
7. चित्र पूरा करना।
8. चित्र व्यवस्था (चित्र कार्डों को ऐसे लगाना कि वे एक कहानी कहें)।
9. ब्लॉक डिज़ाइन (रंगीन ब्लॉक ऐसे लगाना कि कोई नमूना बने)।
10. वस्तुओं को साथ जोड़ना (जिगसाँ पहेलियाँ)।
11. डिजिट सिम्बॉल या अंक संकेत [तेज़ गति से कूट प्रतिस्थापन करना (speeded code substitution)]।

बुद्धिमत्ता में व्यक्तिगत अन्तर

एक ही उम्र के विद्यार्थियों की अकादमिक क्षमताओं में व्यक्तिगत अन्तर होते हैं। यह वास्तविकता न तो आश्चर्यजनक है, न ही चिन्ताजनक; इन्सान के हरेक लक्षण और क्षमता में व्यक्तिगत अन्तर दिखाई देते हैं। विविधता ही प्रकृति का मानक है। परन्तु स्कूल सम्बन्धी क्षमताओं के मामले में, जैसा कि हम देख ही चुके हैं, विविधता को उतनी आसानी से नहीं स्वीकारा जाता जितना एथलेटिक क्षमताओं के मामले में स्वीकार लिया जाता है। समाज और परिवार बच्चों पर स्कूली प्रदर्शन के उच्च स्तरों पर खरा उतरने का भारी दबाव डालते हैं, और जो इन स्तरों को पा लेते हैं उन्हें बाकी बच्चों से अधिक बुद्धिमान माना जाता है।

दुर्भाग्य से 'बुद्धिमत्ता क्या है' पर सहमति के अभाव के कारण उसे मापने के तरीकों के बारे में एकमत होना भी सम्भव नहीं है। नतीजतन इन अन्तरों के विषय में कही गई किसी भी बात पर तत्काल सवाल उठ जाते हैं। ऐतिहासिक रूप से अमरीका में कुछ देशों से आने वाले आप्रवासियों को प्रवेश नहीं दिया जाता था, क्योंकि यह माना जाता था कि वे अन्य देशों के आप्रवासियों से कम बुद्धि वाले हैं। उस समय बुद्धिमत्ता का स्वीकृत माप आज की बुद्धि-लब्धि परीक्षा का ही एक स्वरूप था जिसमें कई ऐसे सवाल शामिल थे जो



अमरीकी संस्कृति और जीवन शैली से परिचय पर आधारित थे। अगर कोई एक नस्ल या प्रजाति समूह इस परीक्षण में किसी दूसरे की तुलना में खराब प्रदर्शन करता था, तो इसके कारण आवश्यक रूप से, या अकेले, बुद्धिमत्ता से सम्बन्धित नहीं थे। बल्कि उनका सम्बन्ध साक्षरता, स्कूली अनुभव और मुख्यधारा की संस्कृति से परिचय भी हो सकता था। यों लोगों के जीवन के बारे में महत्वपूर्ण फैसले निहायत गलत आधारों पर लिए गए थे। अगर आप बुद्धिमत्ता को मुख्यधारा की संस्कृति से परिचय कहकर परिभाषित नहीं करें, तो ये परीक्षाएँ लोगों में वास्तविक अन्तर को माप ही नहीं रही थीं।

हम पूरी तरह यह निश्चय कभी कर नहीं सकते कि बुद्धिमत्ता का कोई परीक्षण किन्हीं दो बच्चों के साथ बराबर न्याय करेगा। इसका एक सरल उदाहरण लें। ज़ाम्बिया और इंग्लैंड के बच्चों को तीन अलग माध्यमों के ज़रिए एक जैसा पैटर्न बनाने को कहा गया – तार से, मिट्टी से और कागज़-पेंसिल की मदद से। ज़ाम्बिया के बच्चों ने तार में बेहतर प्रदर्शन किया, इंग्लैंड के बच्चों ने कागज़-पेंसिल में, और दोनों ही समूहों ने मिट्टी में बराबर प्रदर्शन किया। अगर यही परीक्षण केवल कागज़ और पेंसिल की मदद से लिया जाता तो हम इस गलत निष्कर्ष पर पहुँचते कि 'ज़ाम्बिया के बच्चे किसी नमूने को जस का तस उतारने में कम सक्षम हैं।'

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

परीक्षण की प्रक्रिया में जो 'अदृश्य' होता है, उस पर हम बिरले ही सवाल उठाते हैं: परीक्षण की भाषा का माध्यम, उसमें प्रयुक्त सामग्रियाँ, उसमें निहित मूल्य, उसे पूरा करने के लिए ज़रूरी अभिप्रेरणा और जाँचकर्ताओं के गुण। ये सभी बातें बच्चे के अन्तिम प्राप्तांकों में काफी योगदान करती हैं, पर अमूमन इनकी उपेक्षा की जाती है।

समय के फासले पर खड़े लोगों के समूहों के बीच भी बुद्धि-लब्धि के प्राप्तांकों में अन्तर मिलता है। कुछ साल पहले जेम्स फिलिप्स नामक राजनीति वैज्ञानिक ने दुनिया के विभिन्न देशों से यह दर्शाने के लिए सबूत काफी इकट्ठा किए कि एक ही पीढ़ी के अन्तराल में औसत बुद्धि-लब्धि प्राप्तांक 5 से 25 बिन्दु तक बढ़ गए थे (1900 की सदी के बीच के तकरीबन तीस वर्षों में)। फिलिप्स ने इस महत्वपूर्ण खोज के अर्थ पर अटकलें लगाईं। वे इस नतीजे पर पहुँचे कि बुद्धि-लब्धि के प्राप्तांक बुद्धिमत्ता को नहीं मापते, बल्कि किसी दूसरी ही चीज़ को मापते हैं जिसका बुद्धि से बहुत ही क्षीण-सा सह-सम्बन्ध है। उनके तर्कों में एक यह भी था कि बुद्धिमत्ता के स्तर में इतना व्यापक और महत्वपूर्ण अन्तर 'काफी स्पष्ट रूप से प्रकट होना चाहिए....। इसका नतीजा एक ऐसा सांस्कृतिक पुनर्जागरण होना चाहिए जिसकी अनदेखी न की जा सके... (परन्तु) मौजूदा पीढ़ी के दौरान प्रतिभा में, या गणितीय और वैज्ञानिक खोज में नाटकीय बढ़त का एक भी उल्लेख नहीं है।' उदाहरण के लिए, फ्रांस में, जहाँ बुद्धि-लब्धि प्राप्तांक 15 से 20 बिन्दु बढ़ा था, फिलिप्स ने पाया कि नए आविष्कारों के लिए दिए गए पेटेंटों की संख्या इन वर्षों में बढ़ने के बदले घटी थी!

ये उदाहरण सुझाते हैं कि फिलहाल बुद्धिमत्ता के स्तरों में विविधता सम्बन्धी सवालों के जवाब देने के लिए हमारी तैयारी नहीं है। बेशक मनोवैज्ञानिक बुद्धि-लब्धि परीक्षण के प्राप्तांकों पर प्रकृति और परवरिश के सापेक्ष प्रभाव का अध्ययन करते हैं, परन्तु जैसा हम देख चुके हैं, ऐसा करने से वे इस प्रश्न का मात्र एक जवाब मानकर चलते हैं कि बुद्धिमत्ता दरअसल है क्या। और फिर बुद्धिमत्ता सिखाने का सवाल भी है: क्या उसे सिखाया-पढ़ाया जा सकता है, और अगर हाँ, तो किस हद तक।

सम्भव है कि इस बिन्दु पर हमें लगने लगे कि हम उस व्यक्ति जैसे हैं जो

एक कमज़ोर नींव पर मकान बनाने लगा है, और तिस पर वह उसे तिमंज़िला भी बनाना चाहता है। अगर बुद्धिमत्ता की हमारी परिभाषाएँ अनिश्चित हैं, और बुद्धिमत्ता में व्यक्तिगत अन्तरों के कारण और उनकी प्रकृति भी अनिश्चित है, तो हम बुद्धिमत्ता को बढ़ाने के तरीकों के विषय में निश्चितता के साथ कोई भी वक्तव्य भला कैसे दे सकते हैं?

बुद्धिमत्तापूर्ण आचरण के लिए शिक्षित करना

सीखने सम्बन्धी अध्याय के सन्दर्भ-आश्रित तर्कणा वाले भाग में आपकी मुलाकात मनोवैज्ञानिक डेविड पर्किन्स से हुई थी। बुद्धिमत्ता पर पर्किन्स का नज़रिया इस समझ से आता है कि बुद्धिमत्तापूर्ण आचरण हमेशा किसी सन्दर्भ विशेष या ज्ञान के क्षेत्र में दर्शाया जाता है। उनके और कई अन्य मनोवैज्ञानिकों के लिए बुद्धिमत्ता कोई वियुक्त (isolated) कौशल नहीं है। हम किसी अर्थशास्त्री या सूक्ष्म जीव विज्ञानी को देख सकते हैं और उनके आचरण में बुद्धिमत्ता के कई लक्षणों का अवलोकन कर सकते हैं और बड़ी आसानी से ऐसे लोगों पर 'बुद्धिमान' होने का ठप्पा चस्पों कर सकते हैं। पर शिक्षक के रूप में हमारे लिए उपयोगी होगा कि हम एक विशेषज्ञ और एक **बुद्धिमान नौसिखिए** में फर्क कर सकें। जॉन ब्रूअर के अनुसार बुद्धिमान नौसिखिया वह व्यक्ति है जो किसी नई समस्या या जाँच के नए क्षेत्र का सामना करने पर अपनी पहले की सीखी हुई बातों को नई परिस्थिति पर लचीले तरीकों से लागू करती है, साम्य पहचानने या साधन-साध्य के विश्लेषण जैसी सामान्य रणनीति को अपनाती है, और सीखने में अपने नज़रिए और प्रगति का स्वयं निरीक्षण करती है। उसमें तीन क्षमताएँ होनी आवश्यक हैं, और ब्रूअर का मानना है कि इन तीनों को शिक्षा से निर्मित किया जा सकता है:

- किसी खास विषय या क्षेत्र का ज्ञान: कम से कम किसी एक क्षेत्र में अवधारणात्मक और कार्यात्मक ज्ञान का ठोस आधार;
- इन कौशलों को सामान्य बना पाने की क्षमता: यह समझ कि नई परिस्थितियों में अपने ज्ञान और रणनीतियों को कब और कैसे लागू किया जाए – ब्रूअर के शब्दों में 'उन्हें विस्तार देकर नई समस्याओं के को उठाना और हल करना';

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

- अधि-संज्ञानात्मक कौशल (metacognitive skills): सोचने की प्रक्रिया पर विचार करने और सूचना को प्रोसेस करने की अपनी मानसिक प्रक्रियाओं को देखने-जानने व नियंत्रण करने की क्षमता।

विशेषज्ञ और बुद्धिमान नौसिखिए में अन्तर देखने का एक और तरीका है इस परिकल्पनिक प्रश्न का उपयोग करना जिसे पर्किन्स और उनके सहयोगी, गेवरिएल सैलोमन, ने 1989 में उठाया था। मान लें कि एक छोटा शान्तिप्रिय देश अपने विशाल आक्रामक पड़ोसी देश से खतरे का सामना कर रहा है। छोटे देश को युद्ध रणनीति का कोई अनुभव नहीं है, पर उसके पास शतरंज (chess) का मौजूदा विश्व चैम्पियन है। सो उसका नेता शतरंज चैम्पियन से कहता है कि वह अपनी तर्कशक्ति का उपयोग कर शत्रु को चकमा देने में मदद करे। क्या यह युक्ति कारगर होगी – क्या एक शतरंज खिलाड़ी सामान्य तौर पर भी बुद्धिमान है, या फिर उसकी बुद्धिमत्ता केवल शतरंज के क्षेत्र तक सीमित है?

एक दृष्टि से शतरंज में मस्तिष्क का प्रशिक्षण किसी इन्सान को वास्तविक जीवन की सामरिक रणनीति को बनाने की क्षमता दे सकता है, क्योंकि कोई भी मानसिक प्रशिक्षण दिमाग को अभ्यास देता है और उसकी सामान्य क्षमता को सुधारता है। एक समय मनोवैज्ञानिकों में यह विचार लोकप्रिय था, पर 1970 के दशक के मध्य में, संज्ञान (cognition) के क्षेत्र में हुए शोध ने पलड़े को दूसरी ओर झुका दिया। तब यह विचार स्वीकारा जाने लगा कि किसी क्षेत्र विशेष में दक्षता केवल उसी क्षेत्र में बुद्धिमत्तापूर्ण आचरण की ओर ले जाएगी, या बहुत हुआ तो उन क्षेत्रों में भी जिनके सभी तत्व मूल क्षेत्र के समान हों। दूसरे शब्दों में, शतरंज का चैम्पियन अपने देश को बचाने में खास कुछ नहीं कर पाएगा। हालाँकि अगर उसे किसी अन्तर्राष्ट्रीय चैकर्स प्रतिस्पर्धा में भेजा जाए तो वह उम्दा प्रदर्शन कर सकेगा।

इस दृष्टिकोण को हवा देने वाले शोध का एक उदाहरण वह प्रसिद्ध अध्ययन है जो कई वर्षों पहले विलियम चेज़ और हर्बर्ट साइमन द्वारा शतरंज के विशेषज्ञों व नौसिखियों पर किया गया था। प्रयोगकर्ता शतरंज की बिसात पर 25 मोहरें या तो मनमर्जी से (रैंडम तरीके से) विभिन्न स्थानों पर रखते, या फिर किसी वास्तविक सम्भव खेल परिदृश्य में। तब वे लोगों से कहते हैं

कि वे याददाश्त से बिसात को फिर से वैसा ही सजाएँ। पाया गया कि वास्तविक खेल के अनुसार बोर्ड पर मोहरों की स्थिति की याददाश्त विशेषज्ञों की कहीं बेहतर थी, वे लगभग सभी मोहरों को सही स्थानों पर रख पाते थे (जिसमें अचरज की कोई बात नहीं थी)। परन्तु मनमर्जी से रखे गए मोहरों में उन्हें तकरीबन छह ही मोहरों का स्थान याद रह पाया। इसके विपरीत नौसिखियों को दोनों ही परिस्थितियों में केवल लगभग छह मोहरों के स्थान याद रह पाए थे! अतः किसी विषय में विशेषज्ञ होने का कोई सम्बन्ध *सामान्यतः* याददाश्त की रणनीतियों में बेहतरी की शकल में नज़र नहीं आया।

एक गौण रूप में हमारे विद्यार्थी भी अक्सर शतरंज चैम्पियन जैसे होते हैं। अंग्रेज़ी की कक्षा में उन्होंने किसी पाठ के एक अंश का विश्लेषण करना सीख लिया होता है, पर इतिहास की कक्षा में वे स्वतः विश्लेषण नहीं करते। गणित की कक्षा में ग्राफ बनाने के कौशल पर वे महारत हासिल कर लेते हैं, परन्तु विज्ञान की कक्षा में स्वतः ही इन कौशलों का उपयोग नहीं कर पाते। उनका उपयोग किया जा सकता है, यह उन्हें सूझता ही नहीं है। इसे 'स्थानान्तरण' (transfer) की समस्या कहते हैं, और मनोवैज्ञानिक सालों से इस प्रश्न पर शोध करते रहे हैं कि, जो कुछ सीखा जाता है उसे एक सन्दर्भ से दूसरे में स्थानान्तरित किया जा सकता है या नहीं। वर्ना सीखने का मतलब ही क्या है? हालाँकि प्रारम्भिक नतीजों ने यह दर्शाया कि अन्तरण नहीं होता है, 1980 के दशक में मनोवैज्ञानिकों को पता लगने लगा कि ऐसी भी परिस्थितियाँ होती हैं जिनमें विद्यार्थी कौशलों और रणनीतियों को नए क्षेत्रों में स्थानान्तरित करते हैं: दूसरे शब्दों में कहें तो वे बुद्धिमान नौसिखिए बन जाते हैं।

सबसे पहले मनोवैज्ञानिकों ने वह स्थापित किया जिसका हम सबको अनुभव है: कि कुछ विद्यार्थी ऐसे होते हैं जिनमें यह बिना प्रयास किए, स्वतःस्फूर्त रूप से होता है। आप कह सकते हैं कि कुछ विद्यार्थी स्वाभाविक रूप से बुद्धिमान नौसिखिए होते हैं। वे नई परिस्थितियों में अपने ज्ञान को लागू करने में सक्षम नज़र आते हैं। वे उपयोगी प्रश्न पूछते हैं, और आप यह रोचक बात भी देखते हैं कि वे विविध सन्दर्भों में तेज़ी से सीखते हैं। परन्तु कहीं हम इस

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

निष्कर्ष पर न अटक जाँ कि कुछ विद्यार्थी सीख सकते हैं, और कुछ नहीं। उदाहरण के लिए, मैंने सुना है कि कुछ लोग स्वाभाविक रूप से ही अच्छे गॉल्फ खिलाड़ी होते हैं, परन्तु प्रशिक्षण के ऐसे कार्यक्रम भी हैं जो गॉल्फ के बल्ले को चलाने के कौशल को काफी स्पष्ट रूप से समझाते हैं। ऐसे प्रशिक्षण से टाइगर वुड जैसे खिलाड़ी तो नहीं बनाए जा सकते पर कुशल गॉल्फ खिलाड़ी विकसित हो पाते हैं। जैसा ब्रूअर कहते हैं, हम अपने विद्यार्थियों को सरल रणनीतियाँ प्रत्यक्ष रूप से नहीं सिखाते, मसलन समझ के लिए कैसे पढ़ना चाहिए। मनोवैज्ञानिकों ने यह भी दर्शाया है कि स्पष्ट प्रशिक्षण नई परिस्थितियों में विद्यार्थियों द्वारा रणनीतियों के उपयोग को निश्चित रूप से बेहतर बनाता है। इसी प्रकार उन्होंने यह भी पाया कि हालाँकि कुछ विद्यार्थी स्वाभाविक रूप से अच्छे अधिसंज्ञानात्मक (metacognitive) कौशल विकसित कर लेते हैं, इन कौशलों को भी प्रत्यक्ष प्रशिक्षण द्वारा सिखाया जा सकता है।

मनोवैज्ञानिक स्कॉट पेरिस और उनके सहकर्मियों ने 1980 के दशक में एक कार्यक्रम विकसित किया जो सीखने की सुविज्ञ रणनीतियाँ (Informed Strategies for Learning) कहलाता था। इस कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य था आवश्यक पठन और अधिसंज्ञानात्मक कौशलों को विद्यार्थियों के लिए सुस्पष्ट बनाना। उनके शब्दों में, कार्यक्रम 'रणनीतियों को ठोस रूप से प्रस्तुत करेगा और बच्चों को दिखाएगा कि उनके इस्तेमाल के लिए क्या कोशिशें करनी होंगी और उनसे क्या लाभ होंगे।' पढ़ने की आदतों और पूर्वमान्यताओं को भी स्पष्टतः रेखांकित किया गया, और विद्यार्थियों को दिखाया गया कि कैसे कुछ रणनीतियाँ कारगर होती हैं और कुछ नहीं। उदाहरण के लिए, विद्यार्थियों को सिखाया गया कि पढ़ने का मुख्य उद्देश्य अर्थ समझना है, न कि तेज़ी से बिना गलती किए पढ़ना। बीच-बीच में से कुछ पढ़कर देखना (skimming) तेज़ी से यह पता लगाने का एक तरीका है कि पाठ में क्या है। यह छोटे शब्दों को पढ़ने और बड़े शब्दों को छोड़ देने का अभ्यास नहीं है। पढ़ते समय, ठीक जैसे किसी पहेली को सुलझाते समय, आपको बीच में यह देखने के लिए रुकना चाहिए कि आप जो पढ़ रहे हैं उसे समझ भी रहे हैं या नहीं। मनोवैज्ञानिकों ने यातायात संकेतों की उपमाओं का भी प्रयोग किया ताकि रणनीतियाँ याद रहें। **रुको**

(STOP) का अर्थ था सोचो और अपने शब्दों में बात को कहो। **गति सीमा** (SPEED LIMIT) का अर्थ था पढ़ने की गति को पाठ की कठिनता के स्तर के अनुरूप बदलो। **बन्द रास्ता** (DEAD END) का अर्थ था वापस लौटो और जो हिस्से ठीक से समझ नहीं पाए हो, उन्हें फिर से पढ़ो। **घुमावदार मोड़** (CURVES) का अर्थ था कठिन हिस्सों को छोड़ दो, जो खराब रणनीति थी और जिससे बचना चाहिए!

अधिसंज्ञान (metacognition) सिखाने के लिए यह ज़रूरी है कि हम विद्यार्थियों को *खुद का आलोचक बनाएँ*। अगर आप विद्यार्थियों के काम को उनके ही सामने जाँचते हैं, और अपने मापदण्ड साफ-साफ बताते जाते हैं, तो अगला चरण यह हो सकता है कि वे आपके सामने स्वयं ही अपने काम को जाँचें। धीरे-धीरे वे आत्मसुधार की प्रक्रिया को आत्मसात कर लेते हैं। कक्षा में बोलकर सोचना (thinking aloud) और एक-दूसरे के चिन्तन पर टिप्पणी करने से अधिसंज्ञानात्मक रणनीतियों को स्पष्ट करने में मदद मिलती है।

हालाँकि इन सुझावों का दायरा सँकरा लग सकता है (ये केवल स्कूली अकादमिक कार्यों से सम्बन्धित हैं) परन्तु ब्रूअर कहते हैं कि पढ़ने, लिखने, गणित और विज्ञान के 'सक्षमता' या 'औज़ार' क्षेत्रों ('enabling' or 'tool' domain) में महारत सभी विद्यार्थियों में उच्च-स्तरीय संज्ञानात्मक कौशल विकसित करती है। इनसे लैस हो जाने पर विद्यार्थी विशिष्ट क्षेत्रों में उच्च-स्तरीय शिक्षण में अधिक प्रभावी रूप से काम कर सकते हैं – अर्थात् वे बुद्धिमान नौसिखिए बन सकते हैं! इसे कारगर बनाने के लिए हमें कैसे पढ़ाएँ को लेकर भी उतना ही सचेत होना पड़ेगा, जितना हम *क्या पढ़ाएँ* को लेकर हों। भारतीय सन्दर्भ में हमें याद रखना होगा कि **पाठ्यक्रम (syllabus) केवल किसी पाठ्यचर्या का एक हिस्सा होता है**, जिसमें विधियाँ, नज़रिया, रेखांकन बिन्दु और दृष्टिकोण शामिल होते हैं। हमारे लक्ष्य में अपने विद्यार्थियों को उच्च स्तरीय कौशल सिखाना शामिल होना चाहिए, और केवल ज्ञान और तथ्यों को हस्तान्तरित करने तक सीमित नहीं रहना चाहिए।

यहाँ मुझे यह उल्लेख भी कर देना चाहिए कि खास तौर से **बुद्धि-लब्धि प्राप्तांकों** को बढ़ाने के भी प्रयास हुए हैं। यहाँ लक्ष्य सीधा-सादा परन्तु

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

संकीर्ण है, और परिणाम आसानी से मापे जा सकने वाले। ऐसे ज़्यादातर प्रयास, जैसे संयुक्त राज्य अमरीका का हैडस्टार्ट कार्यक्रम, बुद्धि-लब्धि परीक्षण में प्राप्तांकों को बढ़ाने के लिए किए गए थे (यहाँ फिर से बुद्धि-लब्धि = बुद्धिमत्ता वाला समीकरण है!)। ये कार्यक्रम प्रारम्भिक बाल्यावस्था या शालापूर्व आयु समूह पर ध्यान केन्द्रित करते हैं और आगे के कुछ वर्षों तक जारी रहते हैं। ऐसे कार्यक्रमों के परिणाम बुद्धि-लब्धि प्राप्तांकों में मामूली बढ़त के होते हैं, जो अक्सर कार्यक्रम पूरा हो जाने के मात्र कुछ सालों बाद दिखाई नहीं देती। परन्तु बुद्धि-लब्धि स्तर को ऊपर उठाने का जो सबसे सफल कार्यक्रम हमेशा से रहा है वह है – अपनी साँसें थाम लें – नियमित स्कूली शिक्षण।

शोध साफ-साफ दर्शाता है कि जो बच्चे स्कूलों में ज़्यादा समय बिताते हैं उनका बुद्धि-लब्धि स्तर अधिक होता है। बढ़त की यह दर प्रति वर्ष केवल दो बुद्धि-लब्धि अंक होती है। आपको शंका हो सकती है कि यह सम्बन्ध दूसरी दिशा में है – कि जितनी ज़्यादा व्यक्ति की बुद्धि-लब्धि है, उतना अधिक समय व्यक्ति स्कूल में बिताएगा। परन्तु शोध यह निर्धारित कर सका है कि स्कूली पढ़ाई बुद्धि-लब्धि में वृद्धि का कारक है, या और सटीक रूप से कहें, तो उसे कम नहीं होने देती। इससे आश्चर्य नहीं होना चाहिए क्योंकि बुद्धि-लब्धि परीक्षण अकादमिक कौशलों से नज़दीकी से जुड़े होते हैं। स्टीफन सेसी एक मनोवैज्ञानिक हैं जिनकी बुद्धिमत्ता और शिक्षण में गहरी रुचि है। उन्होंने इन दोनों के बीच सम्बन्ध पर लिखे गए काफी साहित्य की समीक्षा की है। उन्होंने पाया कि देर से पढ़ाई प्रारम्भ करने या जल्दी पढ़ाई छोड़ देने से बुद्धि-लब्धि में कमी आती है। ऐसे एक अध्ययन ने यह दर्ज किया कि दक्षिण अफ्रीका के भारतीय बच्चों ने, गाँवों में बसे उनके जैसे अन्य बच्चों की तुलना में देर से पढ़ाई शुरू की (क्योंकि दुर्भाग्य से चार वर्षों तक एक शिक्षक उपलब्ध नहीं था)। इन बच्चों ने हर साल की देरी के लिए 5 बुद्धि-लब्धि बिन्दुओं की औसत दर से अंक खोए। सेसी की एक



अजीबोगरीब खोज यह भी थी कि गर्मियों की लम्बी छुट्टियों के दौरान बुद्धि-लब्धि प्राप्तांक कुछ कम हो जाते हैं – दरअसल अक्सर मुझे अपने बारे में यह शक होता रहा है!

सेसी कहते हैं कि इस सम्बन्ध में **स्कूल की गुणवत्ता एक कारक नहीं है।** परन्तु उनके नतीजे मुख्यतः यूरोप और अमरीका से हैं। कई सालों तक स्कूल जाते रहने से, फिर चाहे स्कूल कम गुणवत्ता वाला ही क्यों न हो, बुद्धि-लब्धि में इज़ाफा होता है। परन्तु स्कूली शिक्षण और बुद्धि-लब्धि के बीच इस सम्बन्ध को भारत में दोहराते नहीं पाया गया है। यहाँ बच्चे जो शिक्षा पाते हैं, उसके स्तर में नाटकीय अन्तर होता है और यह स्तर बेहद घटिया भी हो सकता है। कई भारतीय शिक्षा विशेषज्ञों का कहना है कि हमें नामांकन बढ़ाने और बच्चों को स्कूलों में बनाए रखने से आगे बढ़कर स्कूलों की गुणवत्ता को सुधारने पर ध्यान देना चाहिए। सम्भव है कि हमारे सरकारी स्कूलों में पढ़ने वाले हज़ारों बच्चे स्कूल में बिताए गए घण्टों में लगभग कुछ भी नहीं सीख पाते।

निष्कर्ष

इस अध्याय में प्रस्तुत शोधों का सार-संक्षेप हमें बुद्धिमत्ता के प्रति अपने नज़रिए को व्यापक बनाने को प्रोत्साहित करता है। पर इससे भी ज़्यादा महत्वपूर्ण यह है कि यह हमें उस जुड़ाव पर भी सवाल उठाने को उकसाता है जो समाज ने बुद्धिमत्ता की एक खास परिभाषा (जो बुद्धि-लब्धि परीक्षा द्वारा मापी जाती है) और किसी इन्सान की 'लियाकत' या 'मूल्य' के बीच बना लिया है! यह सच है कि बुद्धि-लब्धि परीक्षा जो कुछ भी नापती है वह मानव क्षमता का एक रोचक पक्ष है। आज की दुनिया में वह क्षमता स्कूल और उच्च शिक्षा में बेहद महत्वपूर्ण है, और कई पेशों की वजह से वास्तविक जगत् में भी उसका खासा महत्व है। गॉटफ्रेडसन सुझाती हैं कि जटिल जीवन स्थितियों में जहाँ नयापन, अनिश्चितता और अस्पष्टता होती है, बुद्धि-लब्धि ज़्यादा महत्वपूर्ण होती है; और जिन जीवन स्थितियों में सरल समस्या समाधान की ज़रूरत हो, उसमें कम महत्वपूर्ण।

विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों में बुद्धिमत्ता के परम्परागत, विकृत विचार

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

केवल तब ही बदले जा सकते हैं जब हम हरेक व्यक्ति को उसके उन कौशलों के लिए बेशकीमती मानें जिस पर उसने मेहनत की है। हरेक व्यक्ति समाज में योगदान कर सकता है और ऐसा हर योगदान कीमती होता है। हम इस बुनियादी सच्चाई से बहुत दूर हो गए हैं। हाल में एक विद्यार्थी ने मुझसे कहा, 'मेरी माँ गणित और उस जैसी चीज़ें नहीं कर सकती, पर वह किसी भी चीज़ का इन्तज़ाम करना जानती है, वह सच में काम करवा सकती है।' और एक बेहद पढ़े-लिखे सज्जन ने कुछ महीनों पहले मुझे फोन पर कहा 'मेरी पोती ने अभी-अभी दसवीं की है। दुर्भाग्य से वह गणित और विज्ञान में उतनी अच्छी नहीं है, पर...', और तब उन्होंने तमाम अद्भुत चीज़ें बताईं जो वह करती है, जिसमें ललित कलाओं के प्रति उसका प्रेम और कई भाषाओं को सीखना शामिल था!

अगले अध्याय में हम स्कूल में सीखने में अभिप्रेरणा के बेहद अहम सवाल को देखेंगे। यह बात रोचक है कि वह अध्याय इस कहानी पर खत्म होता है कि एक विद्यार्थी की बुद्धिमत्ता की समझ किस प्रकार चुनौतीपूर्ण कार्य के प्रति उसकी अभिप्रेरणा को प्रभावित कर सकती है।

सन्दर्भ और पुस्तक सूची

1. ब्रोडी, एन., 1997। 'इंटेलिजेंस, स्कूलींग एंड सोसायटी'। *अमेरिकन साइकॉलॉजिस्ट*, खण्ड-52, संख्या-10, 1046-50
2. ब्रूअर, जे.टी., 1995। *स्कूल्स फॉर थॉट*। एम.आई.टी. प्रेस: केम्ब्रिज, मैसाच्यूसैट्स।
3. सेसी, एस.जे., 1990। *ऑन इंटेलिजेंस – मोर ऑर लैस: अ बायो-इकोलॉजिकल ट्रीटाइज़ ऑन इंटेलैक्चुअल डेवलपमेंट*। प्रेंटिस हॉल: न्यू जर्सी।
4. सेसी, एस.जे., और डब्ल्यू.एम. विलियम्स, 1997। 'स्कूलींग, इंटेलिजेंस एंड इंकम'। *अमेरिकन साइकॉलॉजिस्ट*, खण्ड-52, संख्या-10, 1051-58
5. चेज़, डब्ल्यू.जी., और एच.ए. साइमन, 1973। 'परसेप्शन इन चैस'। *कॉग्निटिव साइकॉलॉजी*, 4, 55-81
6. फिल्लन, जे.आर., 1987। 'मैसिव आई.क्यू. गेंस इन 14 नेशंस: व्हॉट आई.क्यू.

- टेस्ट्स रियली मैज़र'। *साइकोलॉजिकल बुलेटिन*, खण्ड-101, संख्या-2, 171-91
7. गार्डनर एच., 1983। *फ्रेम्स ऑफ़ माइंड: द थियरी ऑफ़ मल्टिपल इंटेलिजेंसेस*। बेसिक बुक्स: न्यू यॉर्क।
 8. वही, 2003। 'मल्टिपल इंटेलिजेंसेस आफ्टर ट्वेंटी ईयर्स'। *अमेरिकन एज्युकेशनल रिसर्च एसोसिएशन*, शिकागो, इलिनॉए में अप्रैल 21, 2003 को प्रस्तुत शोध-पत्र।
 9. गॉटफ्रेडसन, एल.एस., 1997। 'फोरवर्ड टू इंटेलिजेंस एंड सोशल पॉलिसी'। *इंटेलिजेंस*, 24(1), 1-12
 10. वही, 1997। 'सम्पादकीय: मेनस्ट्रीम साइंस ऑन इंटेलिजेंस'। *इंटेलिजेंस*, 24(1), 13-23 वॉल स्ट्रीट जर्नल के दिसम्बर 13, 1994 अंक से अनुमति के साथ पुनः प्रकाशित।
 11. गूल्ड, एस.जे. 1994। 'कर्वबॉल'। *द न्यू यॉर्कर*, नवम्बर 28, 1994
 12. ग्रीनफील्ड, पी.एम., 1997। 'यू कांट टेक इट विद यू: व्हाय एबिलिटी एसैसमेन्ट्स डॉट क्रॉस कल्चर्स'। *अमेरिकन साइकोलॉजिस्ट*, खण्ड-52, संख्या-10, 1115-24
 13. कानाज़ावा, एस., 2004। 'जनरल इंटेलिजेंस एज़ अ डोमेन स्पेसिफिक एडेप्टेशन'। *साइकोलॉजिकल रिव्यू*, खण्ड-111, संख्या-2, 512-23
 14. मुरे, सी., और आर. हर्नस्टाइन, 1994। *द बैल कर्व*। न्यू यॉर्क, एन.वाय: द फ्री प्रेस।
 15. नाइसर, यू., जी. बूडू, टी.जे. बोउकार्ड, ए.डब्ल्यू. बॉयकिन, एन. ब्रोडी, एस.जे. सेसी, डी.एफ. हैल्पर्न, जे.सी. ल्योहलिन, आर. परलॉफ, आर.जे. स्टर्नबर्ग और एस. उरबिना, 1996। 'इंटेलिजेंस: नॉस एंड अननॉस'। *अमेरिकन साइकोलॉजिस्ट*, खण्ड-51, संख्या-2, 77-101
 16. पेरिस, एस.जी., डी.आर. क्रॉस, और एम.वाय. लिपसन, 1984। 'इंफॉर्मड स्ट्रैटेजीज़ फॉर लर्निंग: अ प्रोग्राम टू इंप्रूव चिल्ड्रेंस रीडिंग अवेयरनेस एंड कॉम्प्रिहेंशन'। *जर्नल ऑफ़ एज्युकेशनल साइकोलॉजी*, खण्ड-76, संख्या-6, 1239-52
 17. पर्किन्स, डी.एन., और जी. सैलोमन, 1989। 'आर कॉग्निटिव स्किल्स कॉन्टेक्ट बाउंड?' *एज्युकेशनल रिसर्चर*, 18, 16-25
 18. पर्किन्स डी.एन., और टी.ए. ग्रोत्ज़र, 1997। 'टीचिंग इंटेलिजेंस'। *अमेरिकन साइकोलॉजिस्ट*, खण्ड-52, संख्या-10, 1125-33
 19. स्टर्नबर्ग, आर.जे., आर.के. वैगनर, डब्ल्यू.एम. विलियम्स और जे.ए. होरवाथ, 1995। 'टेस्टिंग कॉमन सेंस'। *अमेरिकन साइकोलॉजिस्ट*, खण्ड-50, संख्या-11, 912-27

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

20. स्टर्नबर्ग, आर.जे., 1997। 'इंटेलिजेंस एंड लाइफलॉग लर्निंग: व्हॉट्स न्यू एंड हाउ कैन वी यूज़ इट?' *अमेरिकन साइकॉलजिस्ट*, खण्ड-52, संख्या-10, 1134-39
21. वही, 2003। 'अ ब्रॉड व्यू ऑफ इंटेलिजेंस: द थियोरी ऑफ सकसैस्फुल इंटेलिजेंस'। *कंसल्टिंग साइकॉलजी जर्नल: प्रैक्टिस एंड रिसर्च*, खण्ड-55, संख्या-3, 139-54
22. वही, 2004। 'व्हाय स्मार्ट पीपल कैन बी सो फूलिश'। *यूरोपियन साइकॉलजिस्ट*, खण्ड-9, संख्या-3, 145-50
23. वही, 2004। 'कल्चर एंड इंटेलिजेंस'। *अमेरिकन साइकॉलजिस्ट*, खण्ड-59, संख्या-5, 325-38

अध्याय-8

प्रेरणा



वह क्या है जो हमसे वह सब करवाता है, जो हम करते हैं? वह क्या है जो किसी गतिविधि को शुरू करने की और कोई लक्ष्य हासिल होने तक उसे जारी रखने की, कई बार तो भारी कठिनाइयों के समक्ष भी जुटे रहने की प्रेरणा देता है? इस सवाल का जवाब एक से दूसरे व्यक्ति और एक से दूसरी परिस्थिति में अलग-अलग हो सकता है। परन्तु प्रेरणा (या अभिप्रेरणा) का एक सार्वभौमिक पक्ष भी होता है, क्योंकि सभी इन्सानों में प्रेरित हो पाने की क्षमता होती है। यह याद रखना ज़रूरी है कि जब हम कहते हैं कि कोई व्यक्ति 'अनुत्प्रेरित' (unmotivated) है तो यह शायद इसलिए है क्योंकि वह

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

उन चीज़ों को नहीं कर रहा होता जो हम चाहते हैं कि वह करे। शिक्षकों के रूप में हम जानते हैं कि जब हमारे विद्यार्थी सीखने को प्रेरित होते हैं तो हमारा काम आनन्ददायी बन जाता है। जब स्कूली काम के प्रति प्रेरणा का अभाव हो, तो पढ़ाने की हमारी तमाम कोशिशें एक अन्धे-कुएँ में गायब होती लगती हैं, और हम कुण्ठित हो जाते हैं। अतः एक बेहद महत्वपूर्ण प्रश्न यह है: मैं अपने विद्यार्थियों को सीखने के प्रति कैसे प्रेरित करूँ?

मनोवैज्ञानिक परम्परागत रूप से दो प्रकार की प्रेरणा की बात करते रहे हैं: आन्तरिक (intrinsic) और बाह्य (extrinsic)। क्या आपने किसी नन्हे शिशु को पहली बार, पीठ के बल पलटने की कोशिश करते देखा है? आपने उसकी दृढ़ता, एकनिष्ठ एकाग्रता और लगातार के प्रयत्न पर गौर किया होगा, जो वह लक्ष्य प्राप्त होने तक जारी रखता है। अपने जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में शिशु जो कुछ सीखते हैं, उन तमाम चीज़ों को सीखने और उसका अभ्यास करने में वे इतनी मेहनत भला क्यों करते हैं? अगर आप जवाब में 'उसके अपने आनन्द के लिए' या ऐसा ही कुछ कहते हैं, तो आप **आन्तरिक प्रेरणा** की स्थिति का वर्णन कर रहे हैं।

आन्तरिक प्रेरणा हमारे अन्दर की एक ऐसी चीज़ है जो हमें कुछ लक्ष्यों को हासिल करने, कुशल होने, आज़ादी और स्वायत्तता का भाव महसूस करने की ओर ले जाती है। इसे हम खेल में, खोज में, चुनौतियों को तलाशने में – हर उस गतिविधि में जो हम पर लादी न गई हो, जिसे हम स्वेच्छा से कर रहे हों – देख पाते हैं। मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि दरअसल, उद्विकास की दृष्टि से सभी मनुष्यों के लिए प्रेरणा बेहद ज़रूरी है क्योंकि यह हमें ऐसी चीज़ें करने की दिशा में ले जाती है जो हमारे बचे रहने के लिए अच्छी हों।

इसके बावजूद, और यह हम शिक्षकों के लिए बहुत ज़रूरी है, बचपन के किसी बिन्दु पे हम पाते हैं कि ऐसी चीज़ों की सूची क्रमशः बढ़ने लगती है जिनको बच्चे आन्तरिक प्रेरणा से नहीं करते। और इस लम्बी सूची में अधिकाधिक ऐसे काम होते हैं जिनकी माँग स्कूल करते हैं। सफाई करने जैसी गतिविधियाँ, जिन्हें कभी 'खेल' के रूप में किया जाता था, अब 'काम' मान लिए जाते हैं और उनका विरोध होता है, उनसे कन्नी काटी जाती है।

इस बिन्दु पर, बच्चों से हम जो करवाना चाहते हैं, उसके लिए बाहरी परिणाम घुसेड़ने लगते हैं, जैसे पुरस्कार और दण्ड। साथ ही हम ऐसी बातें भी कहने लगते हैं, 'अगर तुम यह करते हो, तो...'; और 'यह करो, नहीं तो...।' जब कोई बच्चा किसी गतिविधि को सज़ा से बचने के लिए, या कोई पुरस्कार पाने के लिए करता है तो हम कहते हैं कि वह गतिविधि बाहरी या **बाह्य प्रेरणा** से की गई है। यों हम वादों और धमकियों के एक अनन्त चक्र में प्रवेश करते हैं ताकि बच्चों से मनचाहा आचरण करवा सकें।

'खैर, इससे क्या?' आप सोच सकते हैं। अगर बच्चा या बच्ची वह कर रही है जिसे करने की उसे ज़रूरत है, तो फिर इससे क्या फर्क पड़ता है कि वह ऐसा क्यों कर रही है? इस दुनिया की कई व्यवस्थाएँ बाहरी अभिप्रेरणा – धमकियाँ और वादे, पुरस्कार और दण्ड – की (सायास) सोची-समझी योजना की मदद से सुचारु रूप से चलती हैं। धार्मिक परम्पराएँ, आधुनिक कॉर्पोरेट दफ्तर, स्कूल तथा उच्च शिक्षा की संस्थाएँ ऐसी व्यवस्थाओं के उदाहरण हैं। मैं यह निश्चित रूप से समझती हूँ कि बाह्य अभिप्रेरक अधिकतर परिस्थितियों में सबसे तेज़ और सरल समाधान होते हैं – क्योंकि इनके प्रति अधिकतर (पर सभी नहीं) लोगों की अनुक्रिया एक-जैसी और तयशुदा-सी होती है। बाह्य प्रेरणा ही दुनिया को चलाती है। लेकिन पूरी तरह से नहीं...।

ऐसी व्यवस्थाओं के साथ-साथ मनुष्य ने हमेशा लोगों को प्रेरित करने के तरीकों को भी बढ़ावा दिया है – समझ के द्वारा, चुनौतियों के द्वारा, जागरूकता के द्वारा, और स्व की खोज के द्वारा। हमने प्रदूषण फैलाने वालों पर जुर्माने लगाए हैं, पर साथ ही पर्यावरण की स्थिति पर जागरूकता अभियान भी चलाए हैं। हमने स्वर्ग और अच्छे कर्मों के वादे किए हैं, पर साथ ही हम मानवीय समानुभूति और हमदर्दी की गुहार भी लगाते हैं। मुझे लगता है कि इन दो प्रकार की अभिप्रेरक व्यवस्थाओं – आन्तरिक और बाह्य – से दूसरा कोई भी इतने घनिष्ठ रूप से नहीं जुड़ा होता जितना स्कूली शिक्षक जुड़े होते हैं। शिक्षक इन मुद्दों से वास्तव में जुड़ते हैं। हालाँकि शिक्षा व्यवस्था में अनेकों बाहरी उत्प्रेरक हैं, शिक्षक ही सीखने की प्रक्रिया के सबसे निकट हैं और वे ही उस स्पष्ट अन्तर को भी देख पाते हैं जब कोई बच्चा आन्तरिक रूप से प्रेरित होकर काम करता है। स्वाभाविक ही है कि शिक्षक

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

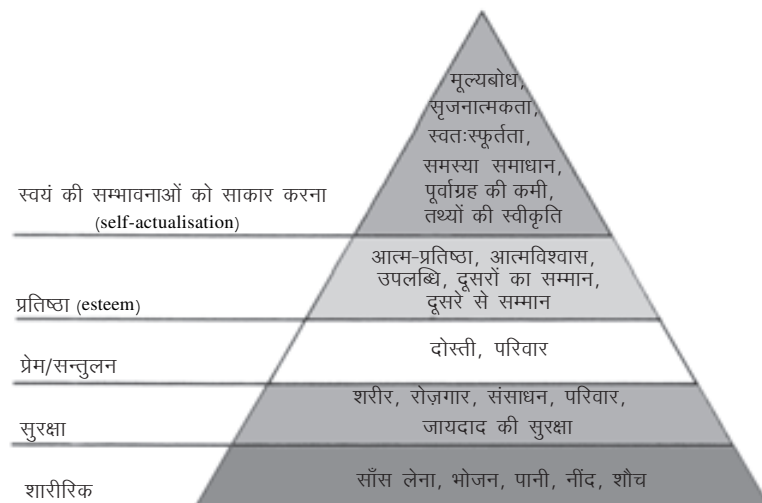
ऐसे विद्यार्थी चाहते हैं जो स्कूली काम में जिज्ञासा रखते हों और रुचि लेते हों, और जब स्कूल से निकलें तो सीखने के लिए प्रेम लेकर निकलें।¹ दूसरे शब्दों में, शिक्षकों का लक्ष्य प्रदर्शन की प्रेरणा (जो शायद भारतीय स्कूलों में व्यापक है) की बजाय सीखने की प्रेरणा होता है। परन्तु इस इच्छा की पूर्ति आसानी से नहीं होती।

स्कूली बच्चों में आन्तरिक प्रेरणा के अभाव के कई सम्भावित कारण हैं: भावनात्मक या शारीरिक असुरक्षा और खराब स्वास्थ्य, उद्विगतासीय बाधाएँ, सीखने की प्रक्रिया पर स्वयं का नियंत्रण नज़र न आना, पुरस्कारों का दुरुपयोग, सामग्री का अप्रासंगिक होना, काम के स्तर का कठिन होना, कक्षा का वातावरण, और सबसे महत्वपूर्ण बात, शिक्षकों के आचरण और विद्यार्थियों की मान्यताएँ। इस अध्याय में मैं इन घटकों का बारी-बारी से वर्णन करूँगी और इस प्रक्रिया में हमारी कक्षाओं में घटते प्रेरणा के स्तरों को उठाने के विभिन्न उपाय सुझाऊँगी।

अतृप्त शारीरिक या भावनात्मक आवश्यकताएँ

प्रेरणात्मक (motivational) मनोविज्ञान में एक परिचित नाम है अब्राहम मैस्लो। उन्होंने सुझाया था कि इन्सानों की आवश्यकताओं का एक पदानुक्रम (hierarchy) होता है। जब इस पिरामिड के आधार पर स्थित ज़रूरतें पूरी हो जाती हैं, केवल तब ही हम ऊपरी स्तरों की आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रति प्रेरित होते हैं। सरल शब्दों में कहें तो, अगर कोई बच्चा भूखा, चिन्तित या प्रेमरहित हो तो वह स्कूल में सीखने को प्रेरित नहीं होगा। परन्तु अगर उसकी इन ज़रूरतों की पूर्ति हो जाती है तो वह स्कूल में कुशलता पाने को आन्तरिक रूप से प्रेरित होगा। इस बात की पुष्टि हमारे अनुभवों के

1. प्रेरणा को अक्सर केवल किसी उपलब्धि के माध्यम के रूप में देखा जाता है, न कि शिक्षा के एक परिणाम के रूप में। हम चाहते हैं कि विद्यार्थी सीखने के लिए प्रेरित हों ताकि वे 'अच्छा' कर सकें – यह बात समझ आती है, परन्तु हम सीखने की प्रेरणा को शिक्षा के वांछनीय नतीजे के रूप में भी देख सकते हैं। जो विद्यार्थी सीखने के प्रति प्रेरित हों, वे हमेशा सीखने से आनन्द प्राप्त कर सकेंगे, स्कूल छोड़ने के कई सालों बाद भी। यह दृष्टिकोण अपने आप में मूल्यवान है।



उदाहरणों से भी होती है। जब कोई बच्चा भावनात्मक रूप से कठिन दौर से गुज़रता है (चाहे वह परिवार से सम्बन्धित समस्या हो या साथियों से) उसका स्कूली प्रदर्शन तत्काल प्रभावित होता है। जो शिक्षक चाहते हैं कि उनकी कक्षाओं में बच्चे सीखें, उनके सामने इसके सिवाय कोई विकल्प ही नहीं होता कि वे अपने विद्यार्थियों के भावनात्मक जीवन से जुड़ें। जहाँ तक शारीरिक ज़रूरतों की बात है, गरीब बच्चों के स्कूलों में शिक्षक अपना समय, ऊर्जा, और कभी तो निजी धन तक खर्च कर उन बच्चों की भूख मिटाते हैं – ज़रूरतों के पदानुक्रम को वे सहजबोध से पहचान लेते हैं।

दुर्भाग्य से, भारत में बच्चों का एक बड़ा प्रतिशत इस स्थिति में नहीं है कि उनकी शारीरिक आवश्यकताओं तक की पूर्ति हो, भावनात्मक आवश्यकताओं की तो बात छोड़ ही दें। जो बच्चे शारीरिक और भावनात्मक रूप से सुरक्षित होते हैं, उनके लिए भी सीखने की प्रेरणा एक समस्या हो सकती है।

उद्विकासीय सीमाएँ

अध्याय एक में मैंने डेविड गेयरी के जैविक रूप से प्राथमिक और गौण क्षमताओं के सिद्धान्त का वर्णन किया था। उसकी याद दिलाने के लिए संक्षेप में बता दूँ कि वे कहते हैं कि इन्सानों का क्रमिक विकास कुछ इस प्रकार

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

हुआ है कि वे बचपन में मुक्त खेल व खोज द्वारा कुछ क्षमताओं (जैविक रूप से प्राथमिक क्षमताओं, जैसे भाषा) को विकसित करते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार हम में एक लोक-मनोविज्ञान, लोक-भौतिकी व लोक-जीव विज्ञान सीखने/विकसित करने की आन्तरिक प्रेरणा होती है। हालाँकि हम अन्य विचार, जैसे बॉयल के नियम, युक्लीडियन ज्यामिति, व्याकरण, या तत्वों की आवर्त सारणी (periodic table) पर महारत हासिल करने की अन्तःप्रेरणा के साथ शायद पैदा नहीं होते। अतः, गेयरी कहते हैं कि अगर हम चाहते हैं कि हमारे बच्चे ये चीज़ें सीखें तो हमें उन्हें सायास निर्देशों, और (शायद) बाहरी प्रेरकों के रूप में आवश्यक सहयोग उपलब्ध करवाना पड़ता है।

जैसा कि मैंने उक्त अध्याय में लिखा था, यह सिद्धान्त एक शिक्षक के लिए कुछ निराशाजनक है। हमें यह सोचने का लालच होता है कि हमारे स्कूली पाठ्यक्रम के ज्यादातर हिस्से को सीखना किसी बच्चे के लिए 'अस्वाभाविक' है; सो हम यह मान लेते हैं कि बाहरी प्रेरक जैसे परीक्षा में रैंक पाना या असफलता, सम्मान या शर्मिन्दगी का उपयोग करना चाहिए ताकि विद्यार्थी स्कूली काम करें। हमें यह भी लग सकता है कि अगर हम स्कूल में किसी भी तरह का सीखना होते देखना चाहते हैं तो प्यार और मार (पुरस्कार और दण्ड) से काम लिए बिना नहीं चलेगा।

पर मुझे लगता है कि यह अति है। यह तथ्य प्रदर्शित हो चुका है कि इन्सान न केवल भारी मात्रा में अमूर्त ज्ञान सीखने की क्षमता रखते हैं, बल्कि उसकी रचना भी कर सकते हैं ताकि भावी पीढ़ियाँ वह सब सीख सकें। हम यह कर सकते हैं, और ऐसा करते समय हमें मज़ा भी आता है। इस अध्याय के प्रारम्भ में दी गई आन्तरिक प्रेरणा की परिभाषा को अगर फिर से दोहराएँ, तो यह हमारे अन्तस में मौजूद वह कुछ है जो हमें किन्हीं लक्ष्यों को पाने की ओर, कुशल बनने की ओर, मुक्ति और स्वायत्तता के एहसास की ओर ले जाता है। ऐसी प्रेरणा को किसी भी उपक्रम पर लागू किया जा सकता है। मुझे ऐसा कोई कारण नज़र नहीं आता जो हमें स्वयं को या हमारे विद्यार्थियों को तथाकथित 'जैविक रूप से गौण क्षमताओं' के प्रति उत्प्रेरित होने से रोके। आगामी पन्नों में आप कुछ सुझाव व विचार पाएँगे, जो इस कोशिश में आपको दिशा दिखा सकते हैं।

सिर्फ यह याद रखें: उद्विकासीय सीमाएँ अगर सचमुच होती हैं, तो वे स्कूल में सीखने की प्रेरणा को न तो स्वचालित बना सकती हैं न ही असम्भव। बल्कि वे यह संकेत देती हैं कि हमें सिखाने को लेकर अधिक कल्पनाशील और ऊर्जावान होना होगा।



नियंत्रण के एहसास का अभाव

आत्म-निर्धारण सिद्धान्त (Self Determination Theory या S.D.T.) नामक एक नया सिद्धान्त उस बाहरी प्रेरणा की बात करता है जो कम या अधिक हद तक **आत्मसात** कर ली गई हो। यह कुछ विरोधाभासी लगता है: बाहरी प्रेरणा जो अन्दर बस गई हो – इसका अर्थ भला क्या हो सकता है? अगर आचरण के बाहरी कारण हमारे लिए पूरी तरह बाहरी रहते हैं तो हम केवल उसकी अनुपालना के लिए ही काम करते हैं (जैसा प्यार और मार वाले तरीके में होता है) और उन शक्तियों द्वारा स्वयं नियंत्रित किए गए महसूस करते हैं। परन्तु मान लें कि हम इन्हें कुछ हद तक आत्मसात कर लेते हैं। तब हम ऐसा आचरण करेंगे कि हम अपने आत्म-प्रतिष्ठा (स्व-मूल्य के एहसास) को कायम रख सकें या उसे बढ़ा सकें। हालाँकि तब भी हम दूसरों के फैसलों या उनके मन में हमारी छवि जैसी बाहरी ताकतों द्वारा नियंत्रित होंगे। मान लें कि हम उन्हें और ज़्यादा हद तक आत्मसात कर लेते हैं। तब हम इसलिए वह गतिविधि करेंगे क्योंकि हम उसके कारणों को समझ चुके हैं, फिर चाहे वह गतिविधि हमें अपने आप में मज़ेदार लगे या न लगे। मुझे लगता है कि मैं खुद कई चीज़ें इसी आखिरी प्रकार की प्रेरणा के कारण करती हूँ। अपने विद्यार्थियों की कॉपियों को जाँचने का उदाहरण ही लें। यह करने की आन्तरिक प्रेरणा मुझमें बिरले ही होती है, क्योंकि यह कोई मज़ेदार काम तो है नहीं। फिर भी मैं यह नियमित रूप से करती हूँ, क्योंकि इसे मैं एक शिक्षिका के रूप में अपने काम का आवश्यक (फिर चाहे वह थकाऊ ही क्यों न हो) काम मानती हूँ। मैं जानती हूँ कि अपने विद्यार्थियों के सीखने से सम्पर्क में रहने का यह एक महत्वपूर्ण तरीका है, और यह फीडबैक उनकी

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

और मेरी मदद करेगा। खुद को बाहरी घटकों द्वारा नियंत्रित महसूस करने की बजाय (मुझे कॉपियाँ जाँच लेनी चाहिए, नहीं तो मैं मुश्किलों का सामना करूँगी, या अगर मैं कॉपियाँ जाँचती हूँ तो मैं एक अच्छी शिक्षिका हूँ) चूँकि इस काम को मैंने मूल्यवान मान लिया है, इसलिए यह मुझे अपने कृत्यों पर स्वायत्तता या नियंत्रण का एहसास भी देता है (मैं कॉपियों को जाँचने का काम खुद चुनती हूँ)।

नीचे दिए चरण हमारे कृत्यों की ज़्यादा से ज़्यादा आन्तरिक प्रेरणा की दिशा में क्रमशः प्रगति को दर्शाते हैं:

- मैं यह करूँगी ताकि मुझे वेतनवृद्धि मिले या मैं दोषारोपण से बचूँ।
- मैं यह करूँगी ताकि दूसरों के मन में मेरी छवि अच्छी बने।
- मैं यह करूँगी क्योंकि यह काम ज़रूरी और महत्वपूर्ण है।
- मैं यह करूँगी क्योंकि मुझे ऐसा करने में मज़ा आता है।

शिक्षकों के रूप में हमें सीखने को दो तरीकों से प्रोत्साहित करना होता है जो उपरोक्त सूची में आखिरी दो बातों में दर्ज हैं: सीखने और महारत हासिल करने में रुचि और चुनौती का भाव सम्प्रेषित कर (आन्तरिक प्रेरणा), और विद्यार्थियों को इस सीखने की सार्थकता का भाव सम्प्रेषित कर (आन्तरिक रूप से नियमित बाह्य प्रेरणा)। जब तक विद्यार्थी जो कर रहे होते हैं, वह उन्हें सार्थक लगे या अपने काम पर नियंत्रण की उनकी भावना बनी रहे, शिक्षक के रूप में हम अपना काम सही तरह से कर रहे होते हैं। इस अध्याय के अन्तिम भाग में आप शिक्षकों के आचरण की कुछ खासियतों के बारे में पढ़ेंगे जो विद्यार्थियों की आन्तरिक प्रेरणा को हतोत्साहित या प्रोत्साहित करते हैं।

इनामों का दुरुपयोग

मनोविज्ञान में एक घमासान और मज़ेदार बहस चल रही है। एक तरफ के लोग मानते हैं कि इनाम या पुरस्कार आन्तरिक प्रेरणा को **घटाता** है, अतः वांछित आचरण को भी कम कर देता है। दूसरी तरफ वाले यह मानते हैं कि पुरस्कार आन्तरिक प्रेरणा और वांछित आचरण दोनों को **बढ़ाता** है।

इनाम देना वांछनीय आचरण को कम कैसे कर सकता है – व्यवहार को सुदृढ़ करने के बुनियादी नियमों के अनुसार क्या इसका असर ठीक उलटा नहीं होना चाहिए? व्यवहारवादी

(behaviourist) परम्परा में, इनाम हमेशा आचरण की बारम्बारता को तब तक बढ़ाता है जब तक वह दिया

जाता रहे; जब आप इनाम देना बन्द कर देते हैं तब आचरण घटकर अपनी मूल बारम्बारता पर आ जाता है।



अगर मैं इससे खेलूँ तो आप मुझे क्या दोगे?

जब यह नियम चूहों और अन्य पशुओं के साथ लगातार दर्शाया गया, तब मानवीय गतिविधियों के कई क्षेत्रों में भी पुरस्कार का नियोजित उपयोग शुरू हुआ। बेशक इसके मुख्य केन्द्र स्कूल थे। परन्तु 1970 के दशक में मनोवैज्ञानिक एडवर्ड डेसी ने सुझाया कि शायद हम गलती कर रहे हैं। अब्बल तो उन्होंने दावा किया कि कुछ गतिविधियाँ अपने आप में ही और स्वयं अपना इनाम हैं (यह इस बात को कहने का एक और तरीका है कि हम पहले से ही उन गतिविधियों को करने को आन्तरिक रूप से प्रेरित होते हैं)। दूसरे, उन्होंने कहा कि इनाम का असर इस बात पर निर्भर करता है कि व्यक्ति उसका क्या अर्थ निकालता है (यानी व्यक्ति की स्वायत्तता और कुशलता का एहसास इनाम से किस तरह प्रभावित होता है)। यों कोई इनाम केवल वही वस्तु मात्र नहीं होता, बल्कि वह भी होता है जिस अर्थ में पाने वाला उसे देखता है! एक बेहद खूबसूरत कार्टून इस बात को यों पेश करता है – दो विद्यार्थी डस्टर साफ कर रहे हैं और एक विद्यार्थी दूसरे विद्यार्थी को व्याकुल होकर कहती है, 'तुम डस्टरों को सज़ा के रूप में साफ कर रहे हो? पर मैं तो इन्हें इनाम के रूप में साफ कर रही हूँ!'

पुरस्कारों को लेकर अपनाए गए भोले नज़रिए में एक तीसरी समस्या भी थी,

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

और वह थी 'अति-औचित्यीकरण प्रभाव' (overjustification effect) की। यानी जब आपको किसी ऐसी गतिविधि के लिए इनाम मिलता है जिसमें आपको वैसे भी आनन्द आता है, तो आपको यह लगने लगता है कि आपने वह काम उसको करने के मज़े की बजाय इनाम के लिए किया था। कई प्रयोगों ने दर्शाया है कि पुरस्कार आन्तरिक प्रेरणा को घटाते हैं, और इसलिए जिस गतिविधि में आपको पहले मज़ा आता था, इनाम मिलने पर बाद में उस पर कम समय बिताया जाता है।² एक बढ़िया अध्ययन मार्क लैपर द्वारा किया गया था। इसमें पाँच वर्षीय बच्चों को खेलने के लिए स्कैच पेन दिए गए, जो उस आयु के अधिकांश बच्चों को मज़ेदार लगते हैं। इसके बाद कुछ बच्चों को 'अच्छी तरह खेलने' के लिए पुरस्कृत किया गया (उन्हें सुन्दर दिखने वाले प्रमाण-पत्र दिए गए!)। बाद में मुक्त खेल के सत्रों में इन बच्चों ने स्कैच पेनों के साथ उन बच्चों की तुलना में कम समय बिताया, जिन्हें प्रमाण-पत्र नहीं दिए गए थे। डेसी के अनुसार मुख्य घटक नियंत्रण की वह भावना है जो किसी काम को करते समय व्यक्ति को महसूस होती है। जब कोई इनाम आपके आचरण को नियंत्रित करने वाले घटक के रूप में देखा जाने लगता है तो आप आज़ादी और स्वायत्तता की भावना खो देते हैं, और यह आन्तरिक प्रेरणा को कम कर देता है। परन्तु इनाम कई तरह के हो सकते हैं, और सभी का असर एक-सा नहीं होता। उन तरह-तरह के इनामों के बारे में सोचें जो आपकी नज़र में आए हैं। वे ठोस हो सकते हैं (कोई प्रमाण-पत्र या वस्तु), या मौखिक (शाबाशी या सकारात्मक फीडबैक/टिप्पणी)। वे किसी काम को करने के प्रयास के लिए दिए जा सकते हैं या सिर्फ उसे पूरा कर लेने पर। वे किसी तयशुदा मानक को हासिल करने के लिए दिए जा सकते हैं या फिर दूसरों से बेहतर करने के लिए। विभिन्न प्रकारों के पुरस्कारों का आन्तरिक प्रेरणा पर जो असर पड़ता है, उसका सार-संक्षेप नीचे दिया जा रहा है।

- ठोस पुरस्कार (प्रमाण-पत्रों से लेकर मीठी गोलियों तक) आन्तरिक

2. इन अध्ययनों में आन्तरिक प्रेरणा को अलग-अलग तरीकों से मापा गया था: अपने मन से विषय चुनने की छूट वाले कालांशों में किसी गतिविधि पर जुटे रहने का स्तर और बिताया गया समय, और किसी गतिविधि में रुचि और आने वाले आनन्द के बारे में स्वयं द्वारा कही गई बातें।

प्रेरणा को कम करते हैं और कॉलेज विद्यार्थियों की तुलना में बच्चे इसके प्रभाव के प्रति ज़्यादा संवेदनशील होते हैं।

- कोशिश करने, काम पूरा करने, दूसरों से बेहतर करने और मानकों को हासिल करने के लिए दिए जाने वाले पुरस्कार – सभी आन्तरिक प्रेरणा को तब कम करते हैं, जब उन्हें हमारे आचरण को नियंत्रित करने वाले तत्व के रूप में देखा जाने लगता है।
- मौखिक शाबाशी या सकारात्मक प्रतिपुष्टि (फीडबैक) आन्तरिक प्रेरणा को कम नहीं करते, बल्कि उसे बढ़ा भी सकते हैं। दरअसल अगर कोई पुरस्कार सूचनात्मक प्रतिपुष्टि (informational feedback) के भाव से दिया जाता है, जैसे कि प्रदर्शन की अच्छी गुणवत्ता को दर्ज करते हुए, और जब उसकी मंशा विद्यार्थी के आचरण को नियंत्रित करने की नहीं होती, तो वह आन्तरिक प्रेरणा को बढ़ा सकता है।
- बहरहाल, हमारे स्कूलों के उन विद्यार्थियों को, जो तयशुदा मानकों के अनुरूप प्रदर्शन नहीं करते, बिरले ही पुरस्कार या सकारात्मक प्रतिपुष्टि दी जाती है। इसका मतलब है लगातार अपनी कुशलता के बारे में नकारात्मक प्रतिपुष्टि (negative feedback) पाना, जो स्कूली काम के प्रति आन्तरिक प्रेरणा को घटाता है।

उपरोक्त सूची हमें यह सुझाती लग सकती है कि हमें अपने विद्यार्थियों की प्रशंसा करनी चाहिए, उनको सकारात्मक प्रतिपुष्टि देनी चाहिए। परन्तु तारीफ भी सावधानी से ही करनी चाहिए! इस अध्याय के अन्तिम हिस्से में आप उस काम के विषय में भी पढ़ेंगे जो कुछ परिस्थितियों में प्रशंसा के नकारात्मक प्रभाव होने की बात सुझाता है। बॉक्स-1 में प्रशंसा सम्बन्धी उन सामान्य मुद्दों का वर्णन है जिनको ध्यान में रखना चाहिए।

अप्रासंगिक और चुनौतीहीन काम

स्कूली काम के अमूर्त होने, और बच्चों के रोज़मर्रा के जीवन व सरोकारों से दूर होने के विषय में काफी कुछ कहा जा चुका है। उद्विगासीय दृष्टिकोण से, अनुकूलनशील व्यवहार (adaptive behaviours, जैसे –

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

खाना, मैथुन सम्बन्ध, और अपने वातावरण में बेहतर तरीके से बचे रह पाने के लिए उसके बारे में सीखना) के प्रति आकर्षित होने के लिए अभिप्रेरणा ज़रूरी होती है। मनुष्य में, दरअसल सभी पशुओं में, ऐसी चीज़ें सीखने की अभिप्रेरणा होती है, जो उन्हें उनके वातावरण से बेहतर अनुकूलित होने में सहायक हो। इसीलिए, जब हम चाहते हैं कि बच्चे ऐसी चीज़ें सीखें जो उन्हें उनके वास्तविक जगत् के वातावरण से असम्बन्धित लगती हों, तो उनकी प्रेरणा ढीली पड़ जाने पर अचरज कैसा?



बॉक्स-1

प्रशंसा या तारीफ

औपचारिक रूप से प्रशंसा या तारीफ को किसी दूसरे व्यक्ति के सकारात्मक मूल्यांकन के रूप में परिभाषित किया जाता है, जो ऐसे व्यक्ति द्वारा किया जाए जो मूल्यांकन के मानकों को जानता हो। यह किसी विद्यार्थी को अपने बारे में अच्छा महसूस करवाने का त्वरित तरीका हो सकता है, परन्तु बात यह भी है कि प्रशंसा काफी जटिल भी हो सकती है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार गलत चीज़ के लिए, गलत समय, या गलत तरीके से की गई तारीफ के कई नकारात्मक असर हो सकते हैं। सन् 2002 में मनोवैज्ञानिक जेनिफर हेंडरलॉन्ग व मार्क लैपर ने प्रशंसा के प्रभावों पर किए गए अध्ययनों की व्यापक समीक्षा की। उनके मुख्य निष्कर्ष थे:

- प्रशंसा या तारीफ को बाह्य रूप से नियंत्रण करने और इस कारण विद्यार्थी की स्वायत्तता को कम करने के रूप में देखा जा सकता है (जो

डेसी के सिद्धान्त के अनुसार आन्तरिक प्रेरणा को कम करती है)।

- तारीफ से अच्छे प्रदर्शन को जारी रखने का दबाव महसूस हो सकता है।
- प्रशंसा अपनी छवि अच्छी बनाए रखने और साथ ही दूसरों की छवि खराब करने की सनक की ओर ले जा सकती है।
- बेहद आसान काम की तारीफ विद्यार्थी में यह भाव जगा सकती है कि उसकी क्षमता कम है।
- अगर विद्यार्थी को लगे कि तारीफ सच्ची नहीं है तो वह उसे साफ-साफ टुकरा सकती है, या उसे लग सकता है कि शिक्षक उसे अच्छी तरह से जानता ही नहीं है, या (जो और भी बुरा है) वह यह सोच सकती है कि आखिर उसमें ऐसा क्या खोट है जिसे शिक्षक को झूठी तारीफ की मदद से छुपाना पड़ रहा है। एक अध्ययन का निष्कर्ष यह था कि हालाँकि सात वर्ष से कम आयु के बच्चे तारीफ को जस का तस स्वीकार लेते हैं, बारह वर्ष की उम्र तक अधिकतर बच्चे प्रशंसा को सन्देह की दृष्टि से देखने लगते हैं। इसलिए, क्योंकि वे मानते हैं कि तारीफ इस बात का संकेत है कि आप लायक नहीं हैं, अतः आपको अतिरिक्त प्रोत्साहन की दरकार है!

बेशक, इस सबका मतलब यह कतई नहीं है कि हमें अपने विद्यार्थियों के काम की प्रशंसा कभी करनी ही नहीं चाहिए। तारीफ करने के सही तरीके भी होते हैं, और संक्षेप में वे ये हैं:

- गतिविधि की प्रक्रिया की प्रशंसा करें (रणनीतियाँ, विचार, कोशिशें) विद्यार्थी की क्षमता की नहीं।
- अपनी प्रशंसा को विद्यार्थी के काम से सम्बन्धित और वर्णनात्मक बनाएँ, ताकि वह उपयोगी फीडबैक के रूप में काम करे।
- अन्य विद्यार्थियों से तुलना किए बिना प्रशंसा करें।

एक और रोचक रिश्ता प्रशंसा और उच्च आत्म-प्रतिष्ठा के बीच होता है। कई सालों तक माना यह जाता था कि उच्च आत्म-प्रतिष्ठा के कई सकारात्मक परिणाम होते हैं, जो बेहतर प्रदर्शन से लेकर लम्बी आयु तक के हो सकते हैं! आत्म-प्रतिष्ठा आन्दोलन का इतिहास रोचक है, पर हाल में इसकी आलोचना भी हुई है। इसका वर्णन आपको अध्याय दस में मिलेगा।

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

जो भी हो, मानव समाज इतना जटिल हो गया है कि स्कूली पाठ्यचर्या में तमाम ऐसी चीज़ों को शामिल करने के अलावा हमारे पास कोई चारा ही नहीं है जो बच्चों की तात्कालिक आवश्यकताओं व परिवेश से जुड़ी न हों। यह बात हाई स्कूल पाठ्यचर्या के लिए खास तौर से सच है। बच्चों को यह विश्वास दिलाना अगर असम्भव नहीं तो कम से कम कठिन ज़रूर है कि उनके लिए सदिश रेखाओं (अर्थात् वह रेखा जिसमें परिणाम और दिशा दोनों हों, या vector) के बारे में सीखना इसलिए ज़रूरी है क्योंकि 'उन्हें इसकी ज़रूरत है'। सच्चाई यह है कि अगर वे स्कूल छोड़ने के बाद सिलाई करना या यूरोप का इतिहास सीखना-पढ़ना चाहें, तो उन्हें सदिशों की कभी ज़रूरत नहीं पड़ेगी। यह माँग करना अव्यावहारिक है कि हाई स्कूल पाठ्यचर्या को सारा नहीं तो अधिकांश, पूरी तरह से बच्चों के जीवन व परिवेश में स्थित कर दिया जाए। परन्तु इसका यह मतलब भी नहीं है कि हम अनिच्छुक बच्चों को उनके पाठों के बीच से घसीटते रहें। न ही इसका मतलब यह है कि हमें अच्छे नम्बर आने या फेल हो जाने के एहसास का सहारा लेकर उन्हें सीखने को प्रोत्साहित करना पड़े। बच्चों को काफी जल्दी, निश्चित रूप से माध्यमिक कक्षाओं की उम्र में, उनके समाज की विशेष प्रकृति और उसकी माँगों के बारे में समझाया जा सकता है। उन्हें बताया जा सकता है कि उन्हें छोटी उम्र में ही ढेरों चीज़ें सीखनी होती हैं, ताकि जब वे बड़े हो जाएँ तो यह तय कर सकें कि वे किस दिशा में आगे बढ़ना चाहेंगे। यह समझ उन्हें वह दे सकती है जिसे हमने पहले सीखने की *आन्तरिक रूप से नियमित बाह्य अभिप्रेरणा* कहा था। यह ठीक उसी तरह की प्रेरणा है जो मुझे विद्यार्थियों की कॉपियाँ जाँचने को प्रेरित करती है। अगर अच्छा प्रदर्शन करने की चिन्ता और भय न हो, और कल्पनाशीलता व उत्साह से पढ़ाया जाए, तो किसी भी चीज़ को सीखना आनन्ददायक हो सकता है। और मानवीय उपक्रम को प्रेरित करने वाले घटकों में एक प्रमुख घटक आनन्द ही है!

स्कूली काम का दूसरा पक्ष है कठिनाई का स्तर! जो काम हद से ज़्यादा आसान या बेहद कठिन हो उसमें बच्चों की रुचि जल्दी ही खत्म हो जाती है। चुनौती के सही स्तर को चुनना एक ऐसी चीज़ है जिससे शिक्षक लगातार संघर्ष करते हैं, खासकर एक ऐसी ठेठ कक्षा में जहाँ बड़ी संख्या

में अलग-अलग स्तरों के विद्यार्थियों के समूह एक समान सामग्री पर काम कर रहे हों। लगता यह है कि किसी भी कक्षा में ऐसे कुछ विद्यार्थी होंगे ही जो इसलिए प्रेरित नहीं होते क्योंकि उनके लिए चुनौती का स्तर या तो बेहद ऊँचा या बेहद नीचा है। इस उलझन के समाधान हैं, पर इसके लिए लचीले नज़रिए और कुछ मेहनत की ज़रूरत पड़ती है।

- कुछ मुद्दों पर काम करते समय विद्यार्थियों को उनके स्तर के अनुसार छोटे समूहों में बाँट दें। उन्हें उनके स्तर के अनुसार काम दें।
- कुछ मुद्दों के लिए विद्यार्थियों को मिश्रित स्तर के छोटे समूहों में बाँटें। ऐसे छोटे प्रोजेक्ट सोचें जिनमें प्रत्येक समूह सदस्य की अलग-अलग ज़िम्मेदारी हो और वे अपने स्तर के हिसाब से इस तरह काम करें कि पूरे काम पर कोई आँच न आए।
- कुछ मुद्दों के लिए ऐसी सामग्री ढूँढ़ें या रचें जिनसे विद्यार्थी स्वतंत्र रूप से काम कर सकें। विस्तार के विषयों को शामिल कर कुछ विद्यार्थियों को दूसरों की तुलना में ज़्यादा चुनौतीपूर्ण काम करने की छूट दें। यह सुनिश्चित करें कि 'केन्द्रीय' अवधारणाओं व प्रक्रियाओं को सभी विद्यार्थियों ने सीख लिया है।
- कुछ मुद्दों पर सामग्री के बारे में छोटी समूह चर्चाएँ आयोजित करें, या पारस्परिक शिक्षण पद्धति काम में लें जिसका वर्णन अध्याय दो में किया गया था। यह इस तथ्य को रेखांकित करता है कि अलग-अलग 'स्तर' के बावजूद विद्यार्थियों का समूह सीखने वालों का एक समुदाय बन सकता है और सार्थक रूप से सीखने के लिए आपको हमेशा समस्तरीय समूह की दरकार नहीं होती।
- कुछ मुद्दों के लिए, बेशक समूची कक्षा को भाषण दें! विद्यार्थियों पर नज़र रखें कि वे कहीं ऊब तो नहीं रहे हैं या भ्रम में तो नहीं पड़ गए। बीच-बीच में अपने प्रवाह को रोकें और कुछ विद्यार्थियों से उनके स्तर के अनुरूप सवाल पूछें। किसी एक विद्यार्थी से कहें कि वह दूसरों के लिए वार्ता का सार-संक्षेप प्रस्तुत करे... एक ही पाठ में सभी को साथ बनाए रखने के कई कल्पनाशील उपाय हैं।

उपरोक्त सभी समाधानों के कुछ नुकसान तब ज़रूर होंगे जब आप केवल

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

एक ही तरीके का उपयोग करेंगे। अतः किसी एक ही तरीके को अपना स्थाई शैक्षणिक तरीका बनाना उचित नहीं होगा। अगर आप विषय और कक्षा की गतिशील परिस्थिति के हिसाब से अलग-अलग समय पर, भिन्न-भिन्न तरीकों को अपनाने का लचीलापन रखें, तो वे एक-दूसरे की कमियों को पूरा कर सकते हैं और इसका लाभ उठा पाएँगे आप।

कक्षा का वातावरण

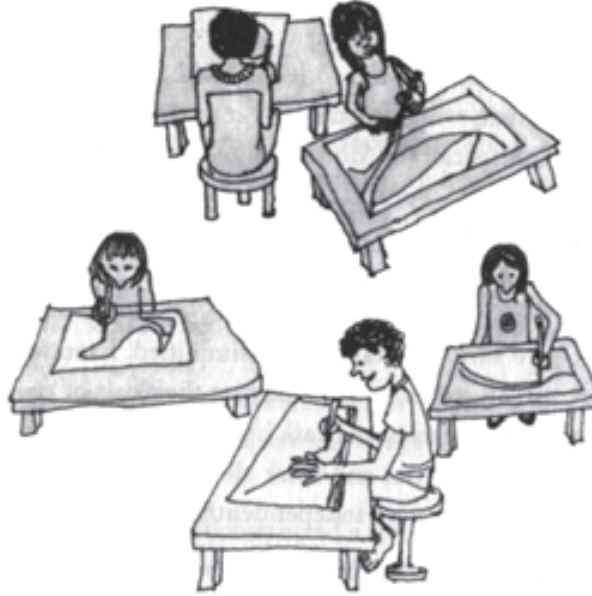
विद्यार्थियों में सीखने के प्रति प्रेरणा को प्रभावित करने वाला एक महत्वपूर्ण घटक है कक्षा में मौजूद **प्रेरणा प्रणाली**, या कक्षा का वातावरण। मनोवैज्ञानिक इन वातावरणों को तीन वर्गों में विभाजित करते हैं – स्पर्धात्मक, सहकारात्मक और व्यक्तिपरक। ये तीनों प्रणालियाँ कक्षा में काम करने की प्रेरणा दे सकती हैं, पर भिन्न-भिन्न कारणों से। विद्यार्थी सीखने के प्रति कैसा नज़रिया अपनाते हैं, इसका फैसला इससे प्रभावित हो सकता है कि उनके सीखने की प्रेरणा का स्रोत कौन-सा था। इन तीन अलग-अलग कक्षा वातावरणों का संक्षिप्त ब्यौरा इस प्रकार है।

किसी **स्पर्धात्मक कक्षा** में विद्यार्थियों का ध्यान अपने सहपाठियों के प्रदर्शन पर लगा रहता है और स्व-बनाम-अन्य की तुलनाएँ काम की प्रेरणा का सबब बनती हैं। यह विद्यार्थियों को क्षमताओं के बारे में सोचने की दिशा में ले जाता है। 'क्या मैं इतना चतुर हूँ कि यह कर पाऊँ? मैंने कैसा किया? उसने कैसा किया? मैं गलती नहीं करना चाहता...।' यहाँ असफल होने को टालना सबसे महत्वपूर्ण बन जाता है जिसका मतलब होता है चुनौतीपूर्ण स्थितियों से बचना। विडम्बना यह है कि कुछ विद्यार्थी स्पर्धात्मक स्थितियों में कोशिश करने से भी बचते हैं, इस डर से कि अगर तमाम कोशिशें करने के बाद भी वे सफल न हो सके तो सब यही मानेंगे कि उनमें क्षमता ही नहीं थी। अतः कोशिश ही न करना, 'सम्मान के साथ असफल होने' का एक तरीका है।

किसी **सहकारात्मक कक्षा** में विद्यार्थियों का ध्यान पूरे समूह के साझे प्रदर्शन पर केन्द्रित रहता है। विद्यार्थी 'चाहिए' के अर्थ में सोचते हैं और नैतिक दायित्व का एक बोध काम करने की प्रेरणा देता है। 'क्या हम पर्याप्त

मेहनत कर रहे हैं? मुझे (या उसे) काम में पर्याप्त योगदान देना चाहिए। मेरे दोस्त चाहते हैं कि मैं खूब मेहनत करूँ।' यहाँ मंशा सबसे महत्वपूर्ण बन जाती है और विद्यार्थी एक-दूसरे का मूल्यांकन क्षमता की बजाय काम करने की इच्छा के हिसाब से करते हैं। इसी तरह विद्यार्थी एक-दूसरे के प्रयासों को प्रोत्साहित करते हैं। आप कोशिश इसलिए करते हैं क्योंकि आपके समूह के साथियों के प्रति यह आपका 'दायित्व' होता है।

व्यक्तिपरक कक्षा में विद्यार्थी एक-दूसरे के काम से पूरी तरह स्वतंत्र होते हैं और उनकी प्रगति का कक्षा के अन्य विद्यार्थियों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। विद्यार्थियों को यह सोचने की दिशा में बढ़ाया जाता है कि उन्हें लक्ष्यों को स्वयं अपने लिए हासिल करना है। 'मैं जानती हूँ कि मुझमें सुधार आ रहा है। अपनी गलतियों को सुधारने का अवसर मुझे दिया जाता है। और मेरे शिक्षक चाहते हैं कि मैं नई-नई चीज़ों को आजमाऊँ।' यहाँ स्वयं-बनाम-पहले-के-स्वयं के बीच तुलनाएँ रेखांकित हो सकती हैं और वे ही काम की प्रेरणा देती हैं। यहाँ कोशिशें सुधार लाने के लिए, और अपनी पहले की उपलब्धियों को बेहतर बनाने के लिए की जाती हैं।



स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

यहाँ कुछ रोचक विषयों को रेखांकित किया जाना चाहिए। जब कोई विद्यार्थी व्यक्तिपरक वातावरण में हो, वह इस प्रश्न पर ध्यान दे सकती है, “मैं यह भला कैसे करूँ? मुझे एक योजना बनानी चाहिए।”³ परन्तु एक स्पर्धात्मक वातावरण में अगर वह बहुत कोशिश करे तो भी, वह शायद ‘सफल’ न हो पाए, क्योंकि वहाँ सफलता की परिभाषा अन्य विद्यार्थियों से बेहतर करना होती है। अतः उसे खुद से पूछना पड़ेगा, “अगर मैं कोशिश करूँ, तो क्या सफल हो जाऊँगी?” इस सवाल का जवाब अन्य विद्यार्थियों की तुलना में उसकी खुद की क्षमताओं के उसके आकलन में छिपा है। यानी, सीखने की प्रेरणा भी उस आकलन पर निर्भर होगी, जो अपव्यय और दुख की बात है! मनोवैज्ञानिक इसे ही ‘प्रयास की दुधारी तलवार’ कहते हैं। प्रयास सफलता की ओर ले जा सकता है, परन्तु अगर वह असफलता की ओर ले जाए तो शर्मिन्दगी होती है और आत्म-प्रतिष्ठा को चोट पहुँचती है। इसलिए एक स्पर्धात्मक वातावरण में ऐसे कठिन कामों से बचा जाता है जो असफलता की ओर ले जा सकते हैं।

एक चेतावनी: ऊपर जिन तीन प्रकार की कक्षाओं का वर्णन दिया गया है वह निश्चित रूप से स्थिति का अति-सरलीकरण है। एक ही कक्षा में सभी विद्यार्थी कक्षा के लक्ष्यों का समान अर्थ नहीं निकालते। शिक्षक उनसे मिल-जुलकर काम करने को कह सकते हैं, फिर भी कुछ विद्यार्थी अकेले काम करना चुनते हैं। कोई अन्य शिक्षक विद्यार्थियों से स्वतंत्र रूप से काम करने की उम्मीद कर सकता है, फिर भी उसके दो-तीन विद्यार्थी एक-दूसरे के साथ सहयोग कर काम करना शुरू कर सकते हैं। और हम सभी ऐसे विद्यार्थियों को भी जानते हैं जो प्रतिस्पर्धात्मक कक्षा में होने के बावजूद उसकी बाध्यताओं को नज़रअन्दाज़ कर बस सामग्री पर महारत हासिल करने की धुन में काम करते हैं।

कक्षा में किस प्रणाली का उपयोग होगा यह स्कूल के शैक्षणिक दर्शन से और अन्ततः सामाजिक मूल्यों से प्रभावित होता है। परन्तु शिक्षिका ही अपनी अपेक्षाओं के माध्यम से अपने विद्यार्थियों को सशक्त प्रेरणात्मक सन्देश देती है। अगले भाग में हम शिक्षकों के उन खास किस्म के आचरणों को देखेंगे जो विद्यार्थियों की प्रेरणा को प्रभावित करते हैं।

3. सम्भवतः सहायकारी कक्षा में वह सोचेगी, ‘हमें एक योजना बनानी चाहिए।’

शिक्षक का व्यवहार और विद्यार्थियों की प्रेरणा

एक शिक्षक के रूप में क्या आप नियंत्रणकर्ता हैं या फिर स्वायत्तता की समर्थक हैं? जानने के लिए पढ़ना जारी रखें।

सारा एक औसत विद्यार्थी है। पिछले दो सप्ताहों से वह उदास-सी लग रही है और कक्षा में भागीदारी नहीं करती। वह अपना गृहकार्य पूरा नहीं कर रही, पर जो थोड़ा-सा काम वह करती है वह सही होता है। उसकी माँ के साथ फोन पर हुई बातचीत से कोई उपयोगी सूचना नहीं मिल पाई है। अगर आप सारा की शिक्षिका या शिक्षक हैं, तो आप क्या करेंगी/करेंगे?

विकल्प 1: उसे गृहकार्य पूरा करने का महत्व समझाएँगे, क्योंकि यह सब उसे अपने ही भले के लिए सीखना होगा।

विकल्प 2: उससे कहेंगे कि उसे पूरा काम अभी के अभी कर डालना ज़रूरी नहीं है, और आप उसकी समस्या का कारण तलाशने में उसकी मदद करने की कोशिश करेंगे।

विकल्प 3: उसे स्कूल के बाद तब तक रोकेंगे जब तक गृहकार्य पूरा नहीं हो जाता।

विकल्प 4: उसे बताएँगे कि गृहकार्य के मामले में अन्य बच्चों की तुलना में वह कहाँ है और उसे दूसरों के स्तर तक बढ़ने को प्रोत्साहित करेंगे।

1980 के दशक में डेसी और उनके सहकर्मियों ने शिक्षक आचरण को जाँचने के लिए एक परीक्षा बनाई जिसमें ऊपर दी गई कहानी जैसी आठ छोटी कहानियाँ थीं। प्रत्येक कहानी के साथ चार विकल्प थे जो शिक्षक आचरण के चार प्रकारों के अनुरूप थे। उपरोक्त कहानी में विकल्प-3 बेहद नियंत्रणकारी आचरण है जिसमें शिक्षक यह तय कर लेता है कि विद्यार्थी के लिए क्या अच्छा है और उससे वह 'करवाता' है। विकल्प-1 संयत नियंत्रण का है: शिक्षक तय करता है कि बेहतर क्या होगा, और कोशिश करता है कि विद्यार्थी उसकी नज़रों से स्थिति को देखे। विकल्प-4 विद्यार्थी की स्वायत्तता का संयत रूप से समर्थन करता है: शिक्षक बच्ची को प्रोत्साहित करता है कि वह अपने सहपाठियों से

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

स्वयं की तुलना करे ताकि उसे अपनी समस्या को सुलझाने की प्रेरणा मिले। विकल्प-2 विद्यार्थी की स्वायत्तता का बहुत समर्थन करता है: शिक्षक विद्यार्थी को अपनी समस्या का समाधान स्वयं निकालने को प्रोत्साहित करता है।

इस प्रश्नावली का कई वर्षों तक उपयोग करके डेसी और अन्य मनोवैज्ञानिकों ने पाया कि स्वायत्तता समर्थक शिक्षकों (जो ऊपर दिए गए विकल्पों में से दूसरे विकल्प को अपनाते हैं) के बच्चे स्कूल में आन्तरिक प्रेरणा से काम करते हुए ज़्यादा दिखाई देते हैं। परन्तु कक्षा में स्वायत्तता का समर्थन करने वाले आचरण कौन-से हैं? जॉनमार्शल रीव नामक मनोवैज्ञानिक द्वारा किए गए एक अध्ययन में एक वयस्क को दस मिनट में कुछ पहेलियों को सुलझाने का काम दिया गया। उसे यह एक ऐसे वयस्क की मदद से दस मिनट में करना था जो पहले से पहेलियों से परिचित था। ऐसी कई 'विद्यार्थी-शिक्षक' जोड़ियों का अध्ययन किया गया और उनके आचरणों को वीडियोटेप पर दर्ज कर लिया गया ताकि बाद में उनका विश्लेषण किया जा सके। इन सभी लोगों ने एक माह पहले डेसी की प्रश्नावली को भरा था। रीव ने पाया कि जिन 'शिक्षकों' ने उक्त प्रश्नावली में स्वायत्तता समर्थन के लिए अधिक अंक पाए थे, और जिन्होंने नियंत्रणकर्ताओं के रूप में अधिक अंक पाए थे, उन्होंने पहेली सुलझाने के दस मिनटों के दौरान *बिलकुल अलग आचरण* दर्शाए। स्वायत्तता समर्थक शिक्षकों ने खास तौर से

- 'विद्यार्थियों' की बात को ज़्यादा सुना,
- पहेली की सामग्री को कम समय तक अपने हाथों में थामे रखा,
- पहेली के समाधान को बता देने से बचे,
- कम और सीमित संकेत या इशारे दिए,
- कम आदेश दिए,
- विद्यार्थी क्या करना चाहता है, इस पर ज़्यादा सवाल पूछे,
- विद्यार्थियों की ओर से आए सवालों पर ज़्यादा ध्यान दिया।

उदाहरण के लिए, नियंत्रणकारी शिक्षकों ने इस तरह की बातें कहीं, 'इसे उलट दो', 'जैसा मैंने दिखाया था, क्या वैसा कर सकते हो?', 'तुम्हें पहले

आधार को बना लेना चाहिए'। इसके विपरीत स्वायत्तता समर्थक शिक्षकों ने ऐसी चीजें कहीं, 'किस नमूने से शुरू करना चाहते हो?', 'कैसे करना है अब तुम्हें समझ आने लगा है', और 'मैं देख पा रहा हूँ कि तुम अब खीझने लगे हो!'



आओ, मैं तुम्हें बताऊँ कि कैसे करते हैं!'

यहाँ एक रोचक नतीजा उभरता है। उपरोक्त कहानी में विकल्प 4 को डेसी ने *संयत स्वायत्तता*

समर्थक विकल्प के रूप में रखने की सोची थी। उनकी आठों कहानियों में एक ऐसा विकल्प ज़रूर था जिसमें शिक्षक विद्यार्थियों को प्रोत्साहित करता है कि वे दूसरों के साथ खुद की तुलना करके 'दूसरे बच्चों के समान आने' की कोशिश करें। परन्तु उनकी प्रश्नावली का उपयोग करने वाले सभी शोधों में इस विकल्प का सह-सम्बन्ध स्वायत्त आचरण की बजाय नियंत्रक आचरण से ज़्यादा पाया गया। अतः डेसी कहते हैं कि हमें इसे दरअसल 'थोड़ा नियंत्रक' आचरण के रूप में देखना चाहिए। मुझे यह बात इस रोचक सम्भावना को सुझाती लगती है कि तुलना का दबाव हमारे व्यवहार को नियंत्रित करने का सूक्ष्म दबाव है (या कई बार इतना सूक्ष्म भी नहीं) – कुछ ऐसा जो हमारी स्वायत्तता की भावना को कम करता है। यह सीधे-सीधे बॉक्स-2 में प्रस्तुत किए गए विचारों को पुष्ट करती है।

हम शिक्षकों को अपने विद्यार्थियों की स्वायत्तता का और ज़्यादा समर्थन करने वाले कैसे बना सकते हैं? डेसी ने उन बाहरी दबावों को देखने की कोशिश की जो शिक्षकों से खास किस्म के आचरण करवाते हैं। उदाहरण के लिए, जब शिक्षकों से कहा जाता है कि यह उनकी ज़िम्मेदारी है कि विद्यार्थी 'मानकों के अनुरूप प्रदर्शन करें' तो अगर वे इसे स्वयं पर एक नियंत्रणकारी माँग के रूप में देखें, तो खुद पर महसूस करने वाले दबाव को वे अपने विद्यार्थियों पर भी डालेंगे। जो बात विद्यार्थियों पर लागू होती

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

है, वही शिक्षकों पर भी लागू होती है। अगर हम चाहते हैं कि आन्तरिक प्रेरणा वाले शिक्षक, जो अपने विद्यार्थियों की स्वायत्तता का समर्थन करते हों, अपना काम अच्छी तरह करें तो उन्हें ऐसा बनाए रखने के लिए हमें उनकी स्वायत्तता का समर्थन भी करना होगा! डेसी के शब्दों में, 'जिस प्रकार बच्चों को आन्तरिक रूप से प्रेरित होने के लिए स्वायत्तता अभिमुख कक्षाओं की, और खुद को सक्षम व्यक्तियों के रूप में देखने की ज़रूरत होती है, ठीक उसी तरह शिक्षकों को भी स्वायत्तता अभिमुख सन्दर्भ की ज़रूरत होती है, जिसके तहत वे अपने काम और व्यवहार के विषय में मिले फीडबैक (प्रतिपुष्टि) का लाभ उठा सकें।' मैं भी इससे सहमत हूँ। एक अच्छा शिक्षक स्व-प्रेरित ही हो सकता है। गुणवत्ता कोई ऐसी चीज़ नहीं है जो बाहर से, या ऊपर से थोपकर लागू करवाई जा सके। एक घटक जो गुणवत्ता में योगदान करता है, वह सीखने और पढ़ाने के बारे में शिक्षकों को मिलने वाली जानकारी है। शिक्षण को स्थाई और वास्तविक रूप से अगर कोई चीज़ सुधार सकती है, तो वह यही सूचनात्मक फीडबैक है। यही वह मुख्य कारण है जिसके चलते मुझे लगा कि इस जैसी किताब की शिक्षकों को ज़रूरत है।

एक और महत्वपूर्ण बात जिस पर शिक्षिका अपनी कक्षा में ज़ोर दे सकती है, वह है **प्रवीणता** अभिमुखीकरण (mastery orientation)। इस नज़रिए का लक्ष्य यह होता है कि हरेक विद्यार्थी सभी चीज़ों को सीखे, बिना इस चिन्ता के कि सीखने में कितना समय लगा है। यह इस महत्वपूर्ण पूर्वमान्यता पर आधारित है कि 'अगर कोशिश करूँ, तो मैं भी कर सकता हूँ', और इसमें विद्यार्थी अपना ध्यान और अपनी सोच 'प्रयत्न या कोशिश' पर केन्द्रित करते हैं। प्रवीणता अभिमुखीकरण का एक ठेठ विकल्प वह है जिसे **प्रदर्शन** अभिमुखीकरण कहा जाता है, जिसमें विद्यार्थी इसलिए काम करते हैं ताकि वे अपने सहपाठियों के साथ बने रहें या उन्हें पछाड़ सकें। यहाँ सफलता को दूसरों की तुलना में खुद के प्रदर्शन से मापा जाता है, और शिक्षक भी सीखने के बदले प्रदर्शन पर ध्यान केन्द्रित रखता है। नतीजतन विद्यार्थी अपना ध्यान और अपनी सोच को एक-दूसरे की **क्षमता** पर केन्द्रित करते हैं।

बॉक्स-2

जन्मे ही तुलना के लिए हैं

जिस किसी ने भी बच्चों के समूह के साथ कुछ वक्त गुज़ारा हो, उसे जल्दी ही यह एहसास हो जाता है कि बच्चे किसी समय विशेष में *किसी भी चीज़ में*, एक-दूसरे के *तुलनात्मक* स्तर के प्रति बेहद सचेत होते हैं। प्रवीणता उन्मुख सीखने के वातावरण भी अपवाद नहीं हैं, इसके बावजूद कि यहाँ शिक्षक सोच-समझकर तुलना को प्रोत्साहित नहीं करता और बच्चों को स्वतंत्र रूप से काम करने देता है। मैंने प्रवीणता का रास्ता अपनाने वाले नन्हें विद्यार्थियों के बीच कई वार्तालाप सुने हैं जो बहुत कुछ स्पष्ट करते हैं :

‘मैं तो 72 पृष्ठ तक पहुँच भी गया। तुम किस पन्ने पर हो – सिर्फ 55?’

‘वह सात साल की है, पर पहला स्तर कर रही है, और मैं तो छह का हूँ, पर स्तर 2 कर रहा हूँ!’

वयस्क और बड़े बच्चे भी शायद बहुत अलग नहीं होते, हालाँकि वे अपनी बात इतनी खुलकर और साफ-साफ नहीं कहते! मुझे लगता है कि तुलना करने की ज़रूरत को ‘खत्म करना’ न तो ज़रूरी है, न सम्भव ही। फिर भी, सामाजिक तुलना वयस्कों और बच्चों में समान रूप से अपनी तरह का तनाव लाती है। और कम से कम इस कारण से वैकल्पिक रास्तों को तलाशना ज़रूरी है।

जब तक हम सभी विद्यार्थियों के लिए एक समान पाठ-सामग्री का उपयोग करते रहेंगे, तुलना अपरिहार्य रहेगी। अगर सभी विद्यार्थी किसी काम में एक साथ बढ़ रहे हैं, तो कुछ विद्यार्थी दूसरों से बेहतर समझ पाएँगे और ज़्यादा जानेंगे। पर अगर हम प्रत्येक विद्यार्थी को स्वयं उसके द्वारा तय की गई रफ्तार से बढ़ने दें, तब भी कुछ विद्यार्थी दूसरों की तुलना में अधिक तेज़ी से बढ़ेंगे। दोनों ही स्थितियों में, विद्यार्थियों और शिक्षकों के दिमाग में तुलनाएँ उठेंगी। अगर यह बात हमें परेशान करती है तो हमारे सामने दो विकल्प उपलब्ध हैं। पहला तो यह कि हमारी सामग्री श्रेणीक्रमबद्ध या एकरेखीय रूप से व्यवस्थित न हो ताकि विद्यार्थी किसी भी क्रम में अपनी गतिविधियों को चुन सकें। दूसरा विकल्प यह है कि प्रत्येक विद्यार्थी के लिए बिलकुल ही भिन्न सामग्री या काम हो। ये दोनों विकल्प अव्यावहारिक सिद्ध हो सकते हैं (सिवाय, शायद भाषा की कक्षा में) – और बनावटी भी लग सकते हैं। तुलना

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

को कठिन बनाने वाली परिस्थितियाँ रचने और कायम रखने के बदले शिक्षक सतत तुलना के तनाव को कम करने के दूसरे तरीके भी अपना सकता है।

अबल तो हम स्वयं भी प्रेरणादायी घटक के रूप में तुलना का उपयोग करने से बच सकते हैं। उदाहरण के लिए, हम बच्चे से यह न कहें 'उसका काम पूरा होने से पहले तुम कर दो', या 'तुम उसके जैसी क्यों नहीं बन सकती?' किसी काम को खत्म करने या किसी खास तरह से आचरण करने के पीछे किसी दूसरे के समान बनने या उससे बेहतर करने के अलावा भी निश्चित रूप से कई अन्य कारण होंगे! फिर, हम तुलनाओं को सामान्य तथ्य के रूप में स्वीकारने में विद्यार्थियों की मदद कर सकते हैं, ताकि तुलनाएँ उनके स्व-मूल्य की भावना को प्रभावित न करें। अर्थात्, अगर कोई विद्यार्थी गणित में अच्छा है तो वह गणित से जूझने वाले विद्यार्थियों से किसी बुनियादी अर्थ में 'बेहतर' या अधिक 'चतुर' नहीं है। विभिन्न विद्यार्थियों को स्कूल में अलग-अलग चीजें आसान लगती हैं। अतः स्कूली वातावरण ऐसा होना चाहिए कि पाठ्यचर्या में कई गतिविधियों की गुंजाइश हो ताकि विभिन्न विद्यार्थियों की प्रतिभाओं/ताकतों को खोज निकाला जा सके। पर स्कूल को इससे ज़्यादा करना चाहिए। स्कूली वातावरण को कुछ सशक्त सन्देश भी देना चाहिए, मसलन कलात्मक क्षमता *उतनी ही मूल्यवान है जितनी गणितीय क्षमता*। ऐसा पाठ्यचर्या से इतर 'अतिरिक्त' या 'सह' गतिविधियों की एक लम्बी सूची जोड़ देने भर से हासिल नहीं होगा। भारत में इस क्षेत्र में हमें बहुत दूर जाना है; हम तो अब तक बच्चों को यह तक सम्प्रेषित नहीं कर पाए हैं कि दरअसल भाषा की क्षमता *उतनी ही मूल्यवान है जितनी गणित की क्षमता*।

और अन्त में, हम प्रतिस्पर्धा को संस्थागत बनाने से बच सकते हैं। इसका ज़ाहिर लाभ तो है ही कि इससे बच्चे तनाव-मुक्त होंगे, पर बात सिर्फ इतनी नहीं है। हमारे आधुनिक समाज की अधिकतर संस्थाएँ प्रतिस्पर्धा को प्रेरणा की बुनियादी शक्ति मानने के आधार पर खड़ी हैं। परन्तु अक्सर सुनाई देने वाला यह तर्क कि हम सब में प्रतिस्पर्धात्मक, आक्रामक प्रवृत्तियाँ होती हैं, कहानी का सिर्फ आधा हिस्सा ही है। हम सब में सहकार और परोपकार की प्रवृत्तियाँ भी होती हैं। शायद हमें सोच-विचारकर यह तय कर लेना चाहिए कि हम समाज में किन प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करेंगे और बढ़ावा देंगे, क्योंकि यही प्रतिस्पर्धात्मक मनोवृत्ति का नतीजा वह अपक्रिया या विघटन (dysfunction) है, जिसे हम अपने इर्द-गिर्द देखते हैं (उदाहरण के लिए गरीबी और असमानता)।

प्रवीणता और प्रदर्शन के बीच अन्तर लगभग उस व्यक्तिपरक-प्रतिस्पर्धात्मक अन्तर के समान्तर है जिसकी चर्चा मैंने कक्षाओं के वातावरण के सन्दर्भ में की थी। प्रवीणता का रास्ता प्रेरणा के स्तर को ऊँचा रख सकता है – क्योंकि तब विद्यार्थी अपनी असफलता को क्षमता की कमी नहीं बल्कि अपने प्रयास की कमी के रूप में देखेंगे, और उनमें आगे भी जुटे रहने की प्रेरणा जागेगी। प्रवीणता के रास्ते से ऐसे विद्यार्थी भी तैयार होते हैं जो सीखने की अलग-अलग और एक से ज़्यादा रणनीतियों का उपयोग करते हैं; जो ‘क्या मैं यह कर सकता हूँ?’ से चलकर ‘यह मैं कैसे कर सकता हूँ?’ की दिशा में बढ़ते हैं।

शिक्षक कक्षा में प्रदर्शन और क्षमता के बदले समझ और प्रयास पर बल देकर प्रवीणता (mastery) लक्ष्यों को महत्वपूर्ण बना सकते हैं। परन्तु व्यावहारिक स्तर पर बात करें तो कई बच्चे खुद भी बेहद प्रदर्शन उन्मुख होते हैं। इससे मेरा आशय यह है कि वे बिना वयस्कों के उकसाए ही खुद ब खुद अपनी तुलना अपने दोस्तों से करते हैं। यही वह पहली बात है जो लोग तब विरोध में कहते हैं, जब स्कूल से प्रतिस्पर्धा ‘हटा देने’ का सुझाव रखा जाता है; *क्या यह स्वाभाविक नहीं है कि बच्चे एक-दूसरे से अपनी तुलना करें और परस्पर प्रतिस्पर्धा करें?* बॉक्स-2 शिक्षा के सन्दर्भ में इस रोचक सवाल पर चर्चा करता है।

क्षमता और प्रयास सम्बन्धी विद्यार्थियों की मान्यताएँ शिक्षकों के व्यवहार से करीबी से जुड़ी हुई हैं। इसलिए हम इस अध्याय को इस महत्वपूर्ण क्षेत्र की चर्चा के साथ समाप्त करते हैं।

विद्यार्थियों की मान्यताएँ और प्रेरणा

कैरल ड्वेक एक मनोवैज्ञानिक हैं जो इस पर छानबीन करती हैं कि बुद्धिमत्ता के बारे में विद्यार्थी कैसे सोचते हैं। उन्होंने पाया है कि यह क्षेत्र विद्यार्थियों की बुद्धिमत्ता को नापने से कहीं ज़्यादा समृद्ध शोध का विषय है। ड्वेक के अनुसार अगर कोई विद्यार्थी यह मानता है कि बुद्धिमत्ता ऐसी चीज़ है जिसकी मात्रा में **वृद्धि** होती है, जो और-और सीखने से बढ़ सकती है, तो वह सीखने के प्रति प्रेरित होगा। इसका वैकल्पिक मत यह है कि

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

बुद्धिमत्ता लगभग एक तयशुदा **तत्व** है। अगर कोई विद्यार्थी इस सोच में विश्वास करता है तो उसमें चुनौतीपूर्ण सामग्री को सीखने की प्रेरणा भी कम होगी।

1970 के दशक में ड्वेक उन बच्चों का अध्ययन कर रही थीं जो चुनौतीपूर्ण स्कूली काम के सामने एक तरह की 'असहायता' प्रदर्शित करते थे। दूसरे बच्चे स्वेच्छा से चुनौतीपूर्ण काम की दिशा में बढ़ते थे, या उसे खुद तलाशते भी थे। इस गुत्थी का जवाब बुद्धिमत्ता के बारे में उनके विश्वासों में छिपा लगता था। ड्वेक ने पाया कि हालाँकि छोटे बच्चे बढ़ने वाली बुद्धिमत्ता में विश्वास करते थे, बड़े होने के साथ उनमें से कुछ उसे एक तयशुदा स्थाई तत्व मानने लगते थे। वह क्या है जो इस बदलाव को उकसाता है? एक घटक तो यही है कि वयस्क प्रयास के बदले क्षमता की तारीफ करने लगते हैं। बच्चे से यह कहना 'यह तो बहुत बढ़िया है, तुम बड़े होशियार हो' तत्काल दो चीज़ें करता है। अव्वल तो यह उसे खुद के बारे में बहुत अच्छा महसूस करवाता है। पर 'अच्छा महसूस करने' की यह स्थिति 'वह होशियार है' की छवि को कायम रखने पर टिकी होती है। ऐसे में असफलता का पहला संकेत पाते ही वह छवि टूट भी सकती है। दूसरे, ऐसा कहने का निहितार्थ यह भी है कि अगर वह अच्छा नहीं करता, तो इसका कारण यह है कि वह होशियार नहीं है। इससे बच्चा भविष्य में उन परिस्थितियों से बचता है जिनमें वह असफल हो सकता हो। यह चुनौतीपूर्ण कार्य के समक्ष कम प्रेरणा में रूपान्तरित होता है।

ड्वेक और उनकी सहकर्मी क्लॉडिया म्युलर ने दस से बारह वर्षीय बच्चों के कई अध्ययन किए, और उनके नतीजों ने इसकी पुष्टि की। विद्यार्थियों को कुछ मध्यम दर्जे के आसान सवाल हल करने को दिए गए; और बाद में उनसे कहा गया कि उन्होंने बहुत अच्छा काम किया है। इसके साथ ही कुछ बच्चों से कहा गया कि, 'तुम इन सवालों में बहुत काबिल होगे', और दूसरे बच्चों से कहा गया कि, 'तुमने इन पर बहुत मेहनत की होगी'। प्रयोग के दूसरे चरण में सभी बच्चों को यह चुनने का मौका दिया गया कि वे आगे किस तरह की समस्याओं पर काम करना चाहते हैं – ऐसे सवाल जो आसान हों, जिनमें वे अच्छे हों, या अधिक कठिन सवाल, जिनसे वे सीख सकें। नतीजों ने

दर्शाया कि जिन विद्यार्थियों की तारीफ उनकी बुद्धिमत्ता के लिए की गई थी उन्होंने दूसरे चरण के लिए आसान सवाल चुने, जबकि जिनकी प्रशंसा कोशिशों के लिए की गई थी, उन्होंने अधिक कठिन सवाल चुने। ड्वेक ने विद्यार्थियों से एक अहम सवाल भी पूछा: उन्हें सवाल हल करने में कितना मज़ा आया और क्या वे कुछ सवाल घर ले जाना चाहते हैं। यहाँ नतीजे बेहद विचित्र रहे। कुछ बच्चों से यह प्रश्न सवालों की पहली कड़ी पूरी होने और तारीफ के फौरन बाद पूछा गया। इन बच्चों पर प्रशंसा के प्रकार के अनुसार कोई अन्तर नज़र नहीं आया। पर कुछ बच्चों ने जब सवालों की दूसरी कड़ी भी पूरी कर ली तब उन्हें कहा गया कि उन्होंने पहली बार जितना अच्छा नहीं किया है, और तब जाकर उनसे सवाल पूछा गया। इन बच्चों की पहले बुद्धिमत्ता के लिए प्रशंसा की गई थी। पर इन्होंने अपने मज़े के स्तर को उन बच्चों की तुलना में कम बताया, जिनकी तारीफ कोशिशों के लिए की गई थी। साथ ही सवाल घर ले जाने में भी उन्होंने कम रुचि दिखाई। लगता यह है कि मज़े और प्रेरणा में यह अन्तर, असफलता अनुभव करने के बाद ही आया।

तो फिर क्या विद्यार्थी की क्षमता के वास्तविक स्तर का इस परिघटना से कोई वास्ता ही नहीं है? ड्वेक के अपने शब्दों में: 'विद्यार्थियों की क्षमताओं या बुद्धिमत्ता और प्रवीणता उन्मुख (mastery oriented) गुणों के विकास में कोई रिश्ता नहीं है। कुछ बेहद प्रतिभाशाली विद्यार्थी भी चुनौतियों से बचते हैं, मेहनत को नापसन्द करते हैं, और कठिनाइयों के सामने मुरझा जाते हैं। और कुछ कम प्रतिभाशाली विद्यार्थी आगे बढ़कर चीज़ों से भिड़ने को तैयार होते हैं, चुनौतियों में पनपते हैं, जब चीज़ें कठिन हो जाएँ तो उनसे डटकर जूझते हैं, और आपकी उम्मीदों से ज़्यादा हासिल कर लेते हैं... (परन्तु) प्रवीणता-उन्मुख-मनोवृत्ति समय के साथ विद्यार्थियों को अधिक सक्षम बनाने में मदद करती है।'

निष्कर्ष

प्रेरणा एक स्वाभाविक मानवीय गुण है जो हम सब में बड़ी मात्रा में होता है। दुर्भाग्य से सुबह से रात तक हमें जो गतिविधियाँ करनी पड़ती हैं, उनमें से

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

हरेक के लिए हम बेहद प्रेरित महसूस नहीं करते। जब मुझे जूठे बरतनों का ढेर दिखता है, तो मेरी प्रतिक्रिया मेरे उस विद्यार्थी से अलग नहीं होती जिसका बस्ता गृहकार्य से भरा हो। तब उस काम के लिए **प्रतिरोध** की भावना ही मन में हावी होती है। कभी-कभी प्रेरणा का मतलब केवल सामने खड़े काम को लेकर प्रतिरोध का न होना ही होता है। विद्यार्थियों की प्रेरणा के स्तर को ऊपर उठाने के रास्ते ढूँढने के बदले हम शिक्षक अपना ध्यान प्रतिरोध के बल पर केन्द्रित कर सकते हैं। शिक्षक और विद्यार्थी साथ मिलकर यह सीख सकते हैं कि अपने अन्दर मौजूद प्रतिरोध का सामना करने के लिए क्या करना है। आखिर यह एक ऐसा बल है जिसका विद्यार्थी आजीवन सामना करेंगे, और स्कूल ही वह सबसे उपयुक्त अवसर दे सकता है जहाँ इसके बारे में सीखा जाए।

जब हम अपने विद्यार्थियों को प्रेरित करने के लिए सज़ा, ईनाम या प्रतिस्पर्धा को चुनते हैं, तो हम प्रतिरोध के मुद्दे को सिरे से दरकिनार कर देते हैं। हमारे देश में हज़ारों-हज़ार बेहद प्रेरित बच्चे हैं, पर उनमें से बहुतों को कभी खुद को समझने या अपनी सहज प्रेरणाओं और इच्छाओं पर सोच-विचार करने को प्रोत्साहित नहीं किया गया है। अगर बाहरी प्रतिस्पर्धा के टेके या सहारे को हम हटा दें तो उनकी प्रेरणा और जोश (drive) पर क्या गुज़रेगी? अगर आप मानते हैं कि शिक्षा का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य यह है कि विद्यार्थी आत्मचिन्तन करें और अपनी भावनाओं और प्रेरणा की स्थिति को बेहतर समझें, तो आप अपनी शाला या कक्षा में प्रतिस्पर्धा को प्रेरित करने वाले एक बल के रूप में पूरी तरह से बाहर करने का निर्णय भी ले सकते हैं। पर आप उस वक्त निराश न हों, जब ऐसा करने के फौरन बाद आपके सभी विद्यार्थी जादुई तरीके से अपनी ओर से बेहतरीन प्रयास करते, उम्दा काम करते, और उपलब्धि के आनन्द से सराबोर होते नज़र न आएँ! प्रदर्शन और क्षमता की बजाय सीखने और प्रयास करने पर बल देना महज़ 'विद्यार्थियों को प्रेरित करने के बेहतर तरीके' के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। बल्कि यह तो नए सवालों, नई चुनौतियों, और बेशक नई कुण्ठाओं के लिए दरवाज़ा खोलता है – और इन सबका बेहिसाब शैक्षणिक मूल्य होता है।

सन्दर्भ और पुस्तक सूची

1. एम्स, सी., और आर. एम्स, 1984। 'सिस्टम्स ऑफ स्टूडेंट एंड टीचर मोटिवेशन: टुवर्ड्स ए क्वालिटेटिव डेफिनिशन।' *जर्नल ऑफ एज्युकेशनल साइकोलॉजी*, खण्ड-76, संख्या-4, 535-56
2. एम्स, सी., और जे. आर्चर, 1988। 'अचीवमेंट गोल्स इन द क्लासरूम: स्टूडेंट्स लर्निंग स्ट्रेटजीज़ एंड मोटिवेशन प्रोसेसेस।' *जर्नल ऑफ एज्युकेशनल साइकोलॉजी*, खण्ड-80, संख्या-3, 260-67
3. एम्स, सी., 1992। 'क्लासरूम: गोल्स, स्ट्रक्चर्ज़ एंड स्टूडेंट मोटिवेशन।' *जर्नल ऑफ एज्युकेशनल साइकोलॉजी*, खण्ड-84, संख्या-3, 261-71
4. कोविंगटन, एम.वी., और सी.एल. ओमेलिच, 1979। 'एफर्ट: द डबल एज्ड स्पोर्ट्स इन अचीवमेंट।' *जर्नल ऑफ एज्युकेशनल साइकोलॉजी*, खण्ड-71, संख्या-2, 169-82
5. डेसी, ई.एल., ए.जे. श्वार्ज, एल. शीनमैन, और आर.एम. रायन, 1981। 'एन इंस्ट्रुमेंट टू असेस एडल्ट्स ओरिएंटेशंस टुवर्ड कंट्रोल वर्सेस ऑटॉनमी विद चिल्ड्रन: रिफ्लेक्शंस ऑन इंट्रिंसिक मोटिवेशन एंड परसीड कॉम्पीटेंस।' *जर्नल ऑफ एज्युकेशनल साइकोलॉजी*, खण्ड-73, संख्या-5, 642-50
6. डेसी, ई.एल., आर. कोएस्टनर, और आर.एम. रायन, 1999। 'अ मेटा-एनलिटिक रिव्यू ऑफ एक्सपेरिमेंट्स एक्ज़ामिनिंग द इफेक्ट्स ऑफ एक्सट्रिंसिक रिवॉर्डज़ ऑन इंट्रिंसिक मोटिवेशन।' *साइकोलॉजिकल बुलेटिन*, खण्ड-125, संख्या-6, 627-68
7. आइज़ेनबर्गर, आर., और जे. कैमेरॉन, 1996। 'डैट्रिमेंटल इफेक्ट्स ऑफ रिवॉर्ड: रिप्लिटी ऑर मिथ?' *अमेरिकन साइकोलॉजिस्ट*, खण्ड-51, संख्या-11, 1153-66
8. गेयरी, डी.सी., 1996। 'द एवॉल्यूशन ऑफ कॉग्निशन एंड द सोशल कंस्ट्रक्शन ऑफ नॉलेज।' *अमेरिकन साइकोलॉजिस्ट*, खण्ड-51, संख्या-3, 265-66
9. ग्राउज़ेत एफ.एम.ई., टी. कैसर, ए. आहुविया, जे.एम.एफ. डॉल्स, वाय. किम, एस. लाउ, आर.एम. रायन, एस. सॉन्डर्स, पी. श्मक, और के.एम. शैल्डन, 2005। 'द स्ट्रक्चर ऑफ गोल कंटेंट्स अक्रॉस 15 कल्चर्स।' *जर्नल ऑफ पर्सनैलिटी एंड सोशल साइकोलॉजी*, खण्ड-89, संख्या-5, 800-16
10. हेंडरलॉन्ग, जे., और एम.आर. लैपर, 2002। 'द इफेक्ट्स ऑफ प्रेज़ ऑन चिल्ड्रंस इंट्रिंसिक मोटिवेशन: अ रिव्यू एंड सिंथेसिस।' *साइकोलॉजिकल बुलेटिन*, खण्ड-128, संख्या-5, 774-95
11. हॉपकिन्स, जी., 2005, 'हारू कैन टीचर्स डेवलप स्टूडेंट्स मोटिवेशन – एंड सकसेस?'

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

- एन इंटरव्यू विद कैरल एस. ड्वेक।' एज्युकेशन वर्ल्ड, स्कूल इश्यूस, 2005
12. म्यूलर, सी.एम., और सी.एस. ड्वेक, 1998। 'प्रेज़ फॉर इंटेलिजेंस कैन अंडरमाइन चिल्ड्रेंस मोटिवेशन एंड परफॉर्मेंस।' *जर्नल ऑफ पर्सनैलिटी एंड सोशल साइकॉलजी*, खण्ड-75, संख्या-1, 33-52
 13. रीव, जे., ई. बोल्ड, और वाय. कार्ई, 1999। 'ऑटोनमी-सपोर्टिव टीचर्स: हारु दे टीच एंड मोटिवेट स्टूडेंट्स।' *जर्नल ऑफ एज्युकेशनल साइकॉलजी*, खण्ड-91, संख्या-3, 537-48
 14. रीव., जे., और एच. यांग, 2006। 'वॉट टीचर्स से एंड डू टू सपोर्ट स्टूडेंट्स ऑटोनमी ड्यूरिंग अ लर्निंग एक्टिविटी।' *जर्नल ऑफ एज्युकेशनल साइकॉलजी*, खण्ड-98, संख्या-1, 209-18
 15. रायन, आर.एम., और ई.एल. डेसी, 2000। 'सेल्फ-डिटर्मिनेशन थियोरी एंड द फेसिलिटेशन ऑफ इंट्रिंसिक मोटिवेशन, सोशल डेवलपमेंट एंड वैल-बीइंग।' *अमेरिकन साइकॉलजिस्ट*, खण्ड-55, संख्या-1, 68-78

अध्याय-9 सीखने का मापन



‘आकलन’, ‘परीक्षण’ और ‘परीक्षाओं’ के साथ इतनी सारी नकारात्मक बातें जुड़ी हैं कि इस विषय पर एक सन्तुलित अध्याय लिखना एक असम्भव कार्य लग सकता है! फिर भी यह नकारा नहीं जा सकता कि आकलन अध्यापन का एक अभिन्न हिस्सा है, चाहे वह औपचारिक हो या अनौपचारिक, एक-एक विद्यार्थी का अलग से किया जाए या बहुत सारे विद्यार्थियों का सामूहिक रूप से। हम अक्सर किसी परीक्षा या जाँच को सीखने की प्रक्रिया के अन्तिम बिन्दु के रूप में देखते हैं। परन्तु आकलन को सीखने की प्रक्रिया के साथ भी बुना जा सकता है, और कक्षा परीक्षाएँ इसका एक अच्छा उदाहरण हैं – जो शिक्षकों द्वारा बनाई जाती हैं, बीच-बीच में होती रहती हैं, कक्षा कार्य से जुड़ी होती हैं, और जो विद्यार्थियों और शिक्षकों को सतत

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

फीडबैक देने के काम आती हैं। इसे **निर्माणात्मक आकलन** (formative assessment) कहते हैं। यह विद्यार्थियों को अपनी ताकतों और कमियों को देखने में मदद करता है, और शिक्षक अपने पढ़ाने की प्रक्रिया को इसके अनुसार ज़्यादा बेहतर बना पाते हैं। दूसरी तरह का आकलन **योगात्मक आकलन** (summative assessment) कहलाता है। यह बाहर से थोपा जाता



है, इसमें बहुत कुछ दाँव पर लगा होता है और इसके ज़रिए विद्यार्थियों का (साथ ही शिक्षकों और स्कूलों का भी) तुलनात्मक मूल्यांकन किया जाता है। यह अध्याय उन मुद्दों की चर्चा करता है जो निर्माणात्मक और योगात्मक, दोनों ही प्रकार के आकलन पर लागू होते हैं।

परीक्षा का इतिहास दिलचस्प रहा है, नागरिक सेवाओं के लिए सामूहिक परीक्षा की प्राचीन चीनी प्रणाली (जिसमें आवेदकों को कविताएँ और दार्शनिक लेख लिखने पड़ते थे); से लेकर यूनानी (सुकरातीय) परीक्षण विधि, जिसमें शिक्षण भी साथ ही बुना होता था; और आज की तमाम परीक्षाओं तक, जिनका हमारे सभी विद्यार्थी सामना करते हैं। परीक्षा हमेशा से शिक्षा का श्राप नहीं रही है। दरअसल परीक्षण में हुई प्रगति का, जैसे कुख्यात 'बहु-विकल्पीय' प्रश्नों का उनके समय में स्वागत किया गया था और उनकी प्रशंसा की गई थी। मूल्यांकन पूरी तरह से विचारहीन या अन्यमनस्क ईजाद नहीं है – परन्तु इसमें भी कोई शंका नहीं है कि आज इसमें कई गड़बड़ियाँ हैं। हमें भारत में मूल्यांकन की समस्याओं को स्वीकारना और उन्हें जाँचना होगा, तभी हम उन्हें दुरुस्त कर सकेंगे। मैं इनमें से कुछ मुद्दों को नीचे केवल सूचीबद्ध कर रही हूँ – वे इतनी जानी-पहचानी हैं कि उनके लिए किसी स्पष्टीकरण की ज़रूरत नहीं है:

- **पढ़ाने के समय का काफी बड़ा हिस्सा** परीक्षाओं की तैयारी करने, परीक्षा लेने, और उनसे उबरने में लगाया जाता है।

- शिक्षकों और विद्यार्थियों दोनों के लिए **प्रेरणा** सीखने की प्रक्रिया से हटकर परिणामों पर केन्द्रित हो गई है।
- पाठ्यचर्याएँ परीक्षाओं के अनुसार आकार लेने लगती हैं (इसे curriculum backwash effect या पाठ्यचर्या उलट धारा प्रभाव कहते हैं) और जब परीक्षाएँ बहुत ज़्यादा ज्ञान आधारित होती हैं, तो पाठ्यचर्या समझने या ज्ञान को उपयोग करने पर कम ध्यान देती है।
- विद्यार्थी परीक्षाओं के बारे में हर वक्त **दुश्चिन्ता** महसूस करते हैं।
- परीक्षाएँ **शिक्षकों** को भी **चिन्ताग्रस्त** बनाती हैं, क्योंकि वे विद्यार्थियों के प्रदर्शन के लिए खुद को ज़िम्मेदार मानते हैं।
- परीक्षाएँ किशोरों में **नकल** को प्रोत्साहित करती हैं। वे यह सोचने लगते हैं कि शिक्षा का मतलब किसी चीज़ को सीखने के बदले अच्छे अंक पाना है।
- 'ऊँचे दाँव' वाली परीक्षाओं के परिणाम **अन्यायपूर्ण** हो सकते हैं और अनगिनत युवाओं के लिए अवसाद लाने वाले।

उपरोक्त सूची के पहले तीन मुद्दे दरअसल परम्परागत परीक्षाओं की संकीर्ण, रटन्त और परिणाम-उन्मुख प्रकृति से उपजते हैं। अगर परीक्षाओं को ज़्यादा गुणात्मक और प्रक्रिया-उन्मुख बना दिया जाए और उनके आधारों को कुछ और व्यापक, तो ये मुद्दे गायब भी हो सकते हैं। सरल शब्दों में कहें, तो *बच्चों को हम जो कुछ सिखाना चाहते हैं और जिसकी परीक्षा ली जाती है, हम जिस तरह सिखाना चाहते हैं और जिस तरह परीक्षा ली जाती है उसमें बेहतर मेल होना ज़रूरी है।* उदाहरण के लिए, अगर शिक्षिका सिन्धु घाटी सभ्यता पर अपने विद्यार्थियों के साथ एक लम्बा और गहन प्रोजेक्ट करती है, जिसमें साक्ष्यों का खुला विश्लेषण हो और आलोचनात्मक चिन्तन पर बल दिया गया हो, तो सम्भव है कि उसके विद्यार्थी ऐसी परीक्षा में अच्छा न करें जो 'तथ्यों' पर आधारित हो और जिसमें 'जोड़ी मिलाओ' और 'सही-गलत' जैसे प्रश्न शामिल हों। इसका अर्थ यह नहीं है कि विद्यार्थियों ने सिन्धु घाटी सभ्यता या इतिहास के बारे में कुछ भी नहीं सीखा है। बल्कि इसके विपरीत शायद उन्हें इतिहास की विधियों और प्राचीन सभ्यताओं का ज़्यादा अच्छा एहसास हुआ होगा जिसे दर्शाने की गुंजाइश उनकी परीक्षा नहीं देती।

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

परन्तु अगर शिक्षिका ऐसी परीक्षा ले सके जिससे प्रोजेक्ट के दौरान विकसित कौशलों की जाँच हो जाए, तो यह मेल सही बैठ सकेगा। ऐसे में 'परीक्षा के लिए पढ़ाना' और पाठ्यचर्या 'उलट धारा' (backwash) समस्याओं के रूप में उभरेंगे भी नहीं।

क्या परीक्षा लेने के ऐसे तरीके भी हैं? कुछ वास्तविक समाधान विकसित हुए हैं, जैसे खुले प्रश्न (open ended questions), निदर्शन (demonstrations), प्रदर्शनियाँ, समय के मामले में लचीली (non-speeded) परीक्षाएँ, सहयोगी (collaborative) परीक्षाएँ, और पोर्टफोलियो। इकट्ठे इन्हें प्रामाणिक आकलन (authentic assessment) तकनीक कहा जाता है। कुछ जगहों पर इनको छोटे पैमाने पर लेकिन व्यवस्थित तरीके से लागू किया गया है। शोध ने दर्शाया है कि कई स्तरों पर प्रामाणिक आकलन बड़े पैमाने पर लागू की जाने वाली परम्परागत परीक्षण पद्धतियों से कहीं बेहतर है। परीक्षाओं से जुड़े भावनात्मक और नैतिक मुद्दों को भी यह सम्बोधित करता है। परन्तु प्रामाणिक आकलन को व्यापक स्तर पर स्वीकारने और उपयोग किए जाने में भारी अड़चनें हैं। विद्यार्थियों की बड़ी संख्याओं के चलते प्रामाणिक आकलन को अपनाने में जितने समय की ज़रूरत होगी, वह हमारी शिक्षा पद्धति देना नहीं चाहती है। परीक्षा पद्धति में पूरा बदलाव लाने में कठिनाई का दूसरा कारण हमारा यह भय है कि आकलन की वैकल्पिक विधियों को अपनाने पर हम वस्तुनिष्ठता (objectivity) को खो देंगे। यह महत्वपूर्ण बिन्दु है। इस पर हम इस अध्याय में आगे चर्चा करेंगे। मौजूदा परीक्षा विधियों की समस्याओं को बेहतर समझने और विकल्पों का मूल्यांकन कर पाने के लिए हमें पहले मापन सिद्धान्त की कुछ बुनियादी चीज़ों को समझना होगा।

मनोवैज्ञानिक परीक्षण का ककहरा

जो कुछ सीखा गया है, आकलन उसका मापन है। ऐसे किसी भी माप में दो प्रमुख गुण होने आवश्यक हैं, **वैधता** (validity) और **विश्वसनीयता** (reliability)। वैधता वह सीमा है, जिस सीमा तक कोई परीक्षा वह मापती है, जिसे मापने की उससे उम्मीद की जाती है। सम्भव है कि आपको यह बात कुछ गोल-गोल घूमती हुई लगे, पर अध्याय के इस भाग के खत्म होने

तक आप इसे बेहतर समझ सकेंगे। विश्वसनीयता वह दायरा है जहाँ तक परीक्षा मापन त्रुटि से मुक्त हो। इसका अर्थ, उदाहरण के लिए, यह है कि बार-बार परीक्षण करने पर भी आपको एक समान नतीजे मिलें। अध्ययन के किसी भी क्षेत्र में मापन में एक स्वीकार्य सीमा तक वैधता और विश्वसनीयता होनी चाहिए। परन्तु आप देख ही सकते हैं कि स्वीकार्य क्या है, यह उस क्षेत्र पर निर्भर होता है। मनोविज्ञान और शिक्षा के क्षेत्र में हम वैधता और विश्वसनीयता के उसी ऊँचे स्तर की उम्मीद नहीं रख सकते, जितनी शायद भौतिकशास्त्र में होती है। आइए देखें कि मापन के ये दो गुण अकादमिक आकलन के सन्दर्भ में कैसे काम करते हैं।

फर्ज़ करें कि मैंने किसी विद्यार्थी को सांख्यिकी की कक्षा में औसत, माध्यिका और बहुलक (mean, median and mode) के बारे में पढ़ाया है। मैंने उसे इनकी गणना करना सिखाया है, और इनके गुण और उपयोग व दुरुपयोग भी समझा दिए हैं। स्वाभाविक है कि मैं यह जानना चाहूँगी कि मेरी विद्यार्थी ने उस पाठ में क्या समझा। नया सीखा गया उस विद्यार्थी के मस्तिष्क में जटिल तरीकों से कूट संकेतों में दर्ज होता है, लाखों स्नायु कोशिकाओं के आपसी अन्तर्सम्बन्धों के नमूनों (पैटर्नों) के रूप में। काश कोई ऐसा तरीका



स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

होता जिससे उसके मस्तिष्क को 'स्कैन' कर हम यह सुनिश्चित कर पाते कि सब कुछ अन्दर दर्ज हो गया है। कल्पना करें कि अगर परीक्षाओं और जाँचों के बदले विद्यार्थियों को हर साल के अन्त में महज़ एक दर्द रहित मस्तिष्क स्कैन भर करवाना पड़ता तो बात कुछ और ही होती। ऐसा माप बेहद विश्वसनीय और वैध भी होता – पर वह अब तक ईजाद नहीं हुआ है।

यह जानने के लिए कि मेरी छात्रा ने क्या सीखा, मुझे उसको एक सन्दर्भ देना होगा, ऐसा कोई काम जिसे करने के लिए उसे वह सब काम में लेना पड़े जो उसने सीखा है। यह एक वर्कशीट, गृहकार्य या कोई अकादमिक परीक्षा भी हो सकती है। उसका प्रदर्शन मुझे उसकी कुशलता (ज्ञान, कौशल स्तर और समझ) के बारे में किसी नतीजे पर पहुँचने में मदद करेगा। इस प्रकार यह काम सीखने के मापन का उपकरण बन जाता है। ठीक उसी तरह जैसे कोई धातु की फुटपट्टी, या वज़न तौलने की मशीन, या रक्तचाप नापने का उपकरण अलग-अलग चीज़ों को नापते हैं। परन्तु धातु की फुटपट्टियाँ अकादमिक परीक्षाओं के विपरीत अविवादास्पद उपकरण होती हैं। धातु की फुटपट्टियों के गुणों पर बहस करते लोग आपको नहीं मिलेंगे, या वे उनको लेकर परेशान होते नहीं दिखेंगे। परीक्षाएँ इसलिए इतनी विवादास्पद हैं और हमें उन पर इतना ध्यान देना पड़ता है क्योंकि इनके साथ परिभाषा, वैधता और विश्वसनीयता की समस्याएँ हैं। हम इन मुद्दों को बारी-बारी देखेंगे।

धातु की फुटपट्टी का उद्देश्य लम्बाई नापना है। लोग लम्बाई की परिभाषा पर सहमत हैं (एक शब्दकोश उसे 'सिरे से सिरे तक की दूरी' कहता है)। उदाहरण के लिए, कोई यह तर्क नहीं देता कि किसी रेखा की लम्बाई वह कोण होनी चाहिए जो वह पृथ्वी की उत्तर-दक्षिण धुरी से बनाती हो। परिभाषा पर इस आम सहमति के कारण धातु की फुटपट्टी लम्बाई नापने का काम बखूबी करती है। ज़ाहिर है कि फुटपट्टी वही नापती है जिसे नापने की अपेक्षा उससे की गई थी – 'सिरे से सिरे तक की दूरी' – और इस कारण यह एक **वैध** उपकरण है। साथ ही धातु की फुटपट्टी से बार-बार नाप लेने पर हमें तकरीबन वही लम्बाई मिलती है, और यह बात इस उपकरण को **विश्वसनीय** बनाती है। बिना वैधता और विश्वसनीयता के यह उपकरण सचमुच बेकार होता। किसी टेढ़ी फुटपट्टी की कल्पना करें

या ऐसी फुटपट्टी की जिसके किनारे लहरदार हों – यह अवैध उपकरण होगा। या किसी अंशांकित (calibrated) रबर बैंड से लम्बाई नापने की कल्पना करें – यह अविश्वसनीय उपकरण होगा।

अब हम अकादमिक परीक्षा के मामले को देखें। इसका उद्देश्य विद्यार्थियों के ज्ञान और उनकी समझ को नापना है। हम फौरन यह देख सकते हैं कि हमारे पास फुटपट्टी जैसा वैध और विश्वसनीय उपकरण नहीं है। किसी इन्सान का कद नापना आसान है, परन्तु किसी अवधारणा की उनकी समझ का स्तर गुप्त व गतिशील होता है, और उसका अनुमान उनके आचरण से लगाना पड़ता है। इसलिए अब तो हमें ज्ञान और समझ की परिभाषा पर सहमति की ज़रूरत है, उसी तरह की सहमति जैसी लम्बाई की परिभाषा पर थी।

एक शिक्षक के रूप में स्वयं से यह पूछना रोचक होगा कि आप ज्ञान और समझ को कैसे परिभाषित करेंगे। बहुत सम्भव है कि आपका जवाब कुछ ऐसा हो: मेरी विद्यार्थी तब समझ गई होती है जब वह *क, ख या ग कर सके*। उत्तर अमूमन मापन प्रक्रिया के सन्दर्भ में होता है; हम कहते हैं कि प्रश्नों की एक ज़खला का सही उत्तर देने की क्षमता ही दरअसल समझ है। लेकिन समस्या प्रश्नों के चयन में होती है। समझ की एक खास परिभाषा से हर कोई सहमत नहीं होगा, और सभी लोग प्रश्नों के एक खास चयन से भी सहमत नहीं होंगे। परिभाषा सम्बन्धी इस बुनियादी समस्या को भूल जाना आसान है, खासकर इस दौर में जब परीक्षाओं में प्रदर्शन ही बुद्धिमत्ता और समझ का पर्याय बन चुका है। अगर शिक्षक एक कदम पीछे हटकर खुद से पूछें, 'क्या यह जाँच या परीक्षा उस चीज़ के सार तक पहुँचती है जो मैं चाहती हूँ कि विद्यार्थी सीखें? विषय के कौन-से ऐसे पक्ष हैं जिन पर मैं चाहती हूँ कि मेरे सभी विद्यार्थी महारत हासिल करें?'



स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

वे क्षमताएँ कौन-सी हैं जो कुशल (competent) विद्यार्थियों और सबसे अच्छे (excellent) विद्यार्थियों के बीच अन्तर को स्पष्ट करेंगी?’ तो यह अभ्यास काफी दृष्टि देने वाला हो सकता है।

आप देख ही सकते हैं कि कोई भी परीक्षा पूर्णतः वैध हो यह असम्भव है, परन्तु अवैधता के भी कई स्तर होते हैं। कुछ परीक्षाएँ इतनी अवैध होती हैं कि वे बेकार साबित हो जाती हैं; कुछ अन्य की वैधता उन्हें काम में लेने के लिए काफी होती है। किसी परीक्षा की वैधता की जाँच करने के अलग-अलग तरीके हैं, पर दुर्भाग्य से प्रत्येक की अपनी-अपनी समस्याएँ भी हैं!

- एक आसान तरीका यह देख लेने का है कि परीक्षा से मिले अंक विद्यार्थी की समझ के बारे में शिक्षक के अनुमान से मेल खाते हैं या नहीं। दूसरे शब्दों में, अगर किसी परीक्षा के नतीजे आपको आश्चर्यचकित कर दें (जिन विद्यार्थियों की आप अच्छी पकड़ मानते थे, उन्हें बहुत कम अंक मिलें या फिर इससे ठीक उल्टा हो) तो आप उस परीक्षा को वैध नहीं मान सकते। इस मानदण्ड के अनुसार कई परीक्षाएँ काफी ठीकठाक लगती हैं। अर्थात् अधिकांश शिक्षकों को लगता है कि परीक्षाएँ तब वैध हैं जब उनके अच्छे विद्यार्थी अच्छा करते हैं और कमजोर विद्यार्थियों का प्रदर्शन खराब होता है। परन्तु इस तर्क में एक सम्भावित घुमावदार खामी है। शिक्षकों के रूप में ‘अच्छे’ या ‘कमजोर’ विद्यार्थियों की हमारी छवियाँ उन कामों के आधार पर बनती हैं जो कक्षा में हम उनके लिए रचते हैं। और ये सारे काम इस तंत्र में होने वाली जाँचों और परीक्षाओं से सशक्त रूप से प्रभावित होते हैं। जब तक कि शिक्षकों के अनुमानों का कोई स्वतंत्र आधार न हो, ये अनुमान परीक्षा प्राप्तांकों के साथ सह-सम्बन्ध से बच नहीं सकते।
- परीक्षाओं की वैधता को जाँचने का एक दूसरा तरीका यह देखना है कि किसी परीक्षा के प्राप्तांक अन्य परीक्षाओं के प्राप्तांकों से अच्छी तरह मेल खाते हैं या नहीं। इस प्रकार की वैधता की समस्या यह है कि अगर सभी परीक्षाएँ एक ही क्षमता की जाँच करती हैं, मसलन कुछ तथ्यों को रट लेने की विद्यार्थियों की क्षमता को ही नापती हैं, तो उनके नतीजे आपस में अच्छी तरह से सह-सम्बद्ध लग सकते हैं, परन्तु इसका अर्थ यह फिर

भी नहीं कि उनमें से कोई भी परीक्षा समझ को जाँच रही हो।

- परीक्षा की वैधता को जाँचने का एक और तरीका यह देखना है कि वह वास्तविक जीवन में व्यक्ति के प्रदर्शन से कितनी सह-सम्बद्ध है। अगर हम यह दावा करते हैं कि किसी विषय विशेष की समझ को विद्यार्थी को उस 'क्षेत्र में' दक्षता की दिशा में ले जाना चाहिए, तो यह सह-सम्बन्ध भी ऊँचे दर्जे का होना चाहिए। एक समस्या यह है कि वास्तविक जीवन की परिस्थितियाँ अकादमिक परीक्षा की परिस्थितियों से नाटकीय रूप से अलग होती हैं। वास्तविक जीवन में लोग मिल-जुलकर काम करते हैं, एक ही मुद्दे या समस्या पर लम्बे समय तक काम करते हैं, उपलब्ध सूचनाओं की मदद लेते हैं, खुली समस्याओं पर काम करते हैं, यानी उनके समाधान पहले से तय नहीं होते। परन्तु परीक्षाएँ ठेठ व्यक्तिपरक व समयबद्ध होती हैं। अमुक्त (closed-ended) प्रश्नों और बन्द किताबों के साथ ली जाती हैं। इसलिए विभिन्न अध्ययनों ने पाया है कि स्कूली प्रदर्शन कॉलेज प्रदर्शन के साथ अच्छा सह-सम्बन्ध दर्शाता है। परन्तु कॉलेज के बाद सह-सम्बन्ध काफी टूटता-सा लगता है। उदाहरण के लिए, भारतीय प्रशासनिक सेवाओं (I.A.S.) की परीक्षाओं में काफी सामान्य ज्ञान की ज़रूरत होती है, परन्तु एक सफल अफसर बनने के लिए व्यवहार-कुशलता, सहज बुद्धि और ईमानदारी की भी ज़रूरत होती है।

अतः जहाँ अकादमिक परीक्षाओं का सवाल उठता है परिभाषा और वैधता दोनों ही पेचीदा मुद्दे हैं। अब विश्वसनीयता की ओर मुड़ते हैं। क्या हम यह कह सकते हैं कि बार-बार लेने से परीक्षा के नतीजे तकरीबन एक से होंगे? एक लचीले रबर बैंड से लम्बाई नापने का मामला याद है? कोई शक नहीं कि हमें ऐसा उपकरण निकम्मा ही लगेगा। ठीक इसी तरह अगर कोई परीक्षा हमें हर बार दोहराए जाने पर समान परिणाम नहीं देती, तो फिर भला वह उपयोगी कैसे हो सकती है?

विश्वसनीयता का मुद्दा दरअसल इससे जुड़ा है कि किसी चीज़ को याद करते समय कुछ इशारे या संकेत मिलने पर हम अपनी दीर्घकालिक याददाश्त में से यादों को किस हद तक प्राप्त (retrieve) कर पाते हैं। हेनरी

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

रोडिगर बार-बार दोहराए जाने वाली परीक्षा के प्रभावों का अध्ययन करने वाले मनोवैज्ञानिक हैं। उन्होंने पाया कि किसी बात को याददाश्त में से ढूँढ निकालना (retrieval) काफी परिवर्तनशील और असंगत होता है। अर्थात् जब किसी विद्यार्थी की एक ही सामग्री पर अलग-अलग समय पर परीक्षा ली जाए तो वह हमेशा एक-सा जवाब नहीं देगा। अक्सर उसे बाद की परीक्षाओं में ऐसी चीज़ें याद आँगी जो पहले ली गई परीक्षाओं में नहीं आई थीं (बावजूद इसके कि उसने बीच में कोई रिवीज़न न किया हो)। लगता है बार-बार परीक्षण से नई स्मृतियाँ पैदा हो जाती हैं! इन नई स्मृतियों को 'पुनःप्राप्त' (recovered) यादें कहते हैं, और रोडिगर के अध्ययन दर्शाते हैं कि पुनःप्राप्त यादें अपवाद नहीं, मानक ही हैं। अक्सर पुनःप्राप्त यादों की वजह से आया प्रदर्शन में सुधार भूलने के कारण आई कमी से ज़्यादा था।

जानी हुई बातों को स्मृति से निकालने में असंगतियों के कारण हम एक ही बार ली गई परीक्षा के परिणामों को बहुत अहमियत नहीं दे सकते (खासकर जब वह अधिकतर याददाश्त पर आधारित परीक्षा हो)। किसी भी परीक्षा के प्राप्तांकों में मापन की कुछ त्रुटि हमेशा रहती है। हालाँकि हम मापन त्रुटि को बिलकुल सही-सही नहीं बता सकते, फिर भी इतना तो निश्चित है कि यह कई प्रतिशत बिन्दुओं में होती है। बेशक यह त्रुटि इतनी तो होती ही है कि प्रतिशत बिन्दुओं के दशमलवों के आधार पर विद्यार्थियों में भेद करना अनुचित होगा। उदाहरण के लिए, अगर किसी विद्यार्थी को 88 प्रतिशत अंक मिलते हैं, तो उसके वास्तविक प्राप्तांक 84 प्रतिशत से 92 प्रतिशत के बीच कहीं भी हो सकते हैं। अतः वह 85 प्रतिशत पाने वाले किसी विद्यार्थी से स्पष्टतः बेहतर नहीं है।

इसलिए, मुझे लगता है कि प्रश्न यह है कि हम किसी परीक्षा को धातु की फुटपट्टी जैसा कैसे बना सकते हैं? और उत्तर यह है कि हम किसी परीक्षा की गुणवत्ता को बेहतर बना सकते हैं, पर वह कभी भी धातु की फुटपट्टी के समान वैध या भरोसेमन्द नहीं हो सकती। इसका मतलब यह हुआ कि हमें परीक्षा के प्राप्तांकों की अपनी व्याख्या को बदलने की ज़रूरत है। फिलहाल हम जिस नादानी से संख्याओं द्वारा कही जाने वाली बात को स्वीकार लेते हैं वह अनुचित है। अगला भाग संक्षेप में इस बात की चर्चा करता है कि परीक्षा के अंकों का उपयोग कैसे किया जाता है।

परीक्षा प्राप्तांकों की व्याख्या

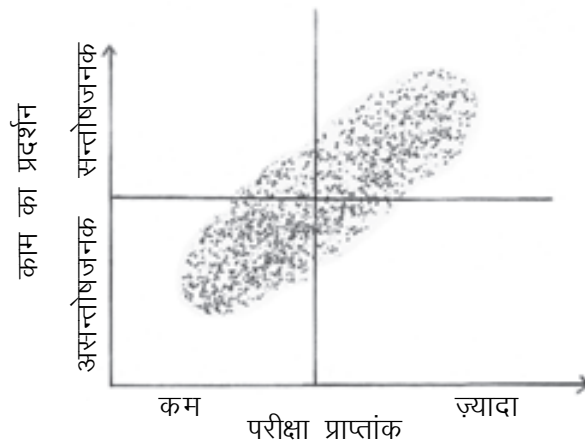
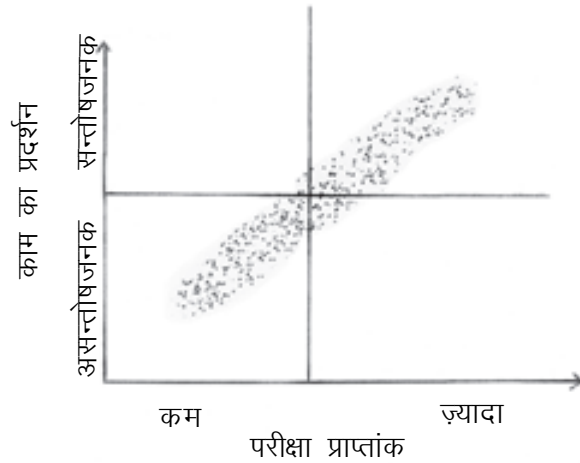
अगर हमारी धातु की फुटपट्टी कुछ (पूरी तरह नहीं) त्रुटिपूर्ण होती तो हम उसके नतीजों की व्याख्या भी सतर्कता के साथ करते। इसी प्रकार जब कोई शिक्षक कक्षा में अपने विद्यार्थियों का जायज़ा निर्माणात्मक आकलन (formative assessment) के आधार पर करता है, तो उसके परिणामों को अन्तिम निष्कर्ष नहीं बल्कि एक कामचलाऊ परिकल्पना (hypothesis) या अनुमान ही माना जाता है। यह अनुमान तब शीघ्र ही बदल या त्याग दिया जाता है जब शिक्षक कुछ और छानबीन करे, और प्रश्न पूछे, या किसी दूसरी तरह से परीक्षा ले। शिक्षक यह जानते हैं कि छोटी कक्षा-परीक्षाओं या उनके द्वारा दिए गए कार्यों के नतीजों के आधार पर दृढ़ निष्कर्षों तक नहीं पहुँचा जा सकता। परन्तु योगात्मक परीक्षाओं (summative examination) के परिणामों को परिकल्पना या अनुमान नहीं माना जाता। हम इन संख्याओं को कुछ ऐसा मानते हैं मानो वे एक बेहद उम्दा तरीके से बनाई गई धातु फुटपट्टी द्वारा दर्शाई गई लम्बाइयों हों! ऐसी परीक्षाओं के परिणाम बहुत देर से आते हैं और इतने मोटे अर्थों में (unspecific) होते हैं कि फीडबैक (feedback) के रूप में भी उपयोगी नहीं होते। इसलिए उनका उपयोग विद्यार्थियों के बारे में निर्णय लेने के लिए किया जाता है (कि भावी अवसरों के रूप में किसे क्या मिलेगा)। साथ ही उनका उपयोग शिक्षकों, स्कूलों और शिक्षा बोर्डों के मूल्यांकन के लिए भी किया जाता है। ये उपयोग ऐसी परीक्षाओं को 'ऊँचे दाँवों' वाली परीक्षाएँ बना डालते हैं।

भारत में परीक्षा प्राप्तांकों का प्रमुख उपयोग बच्चों के विषय में बेहद महत्वपूर्ण निर्णय लेने के लिए किया जाता है। अगर कोई प्रवेश बोर्ड या भावी नियोक्ता यह निर्णय लेने के लिए कि किसे चुनना और किसे अस्वीकार करना है किसी एक संख्या पर निर्भर करता है, तो गलतियाँ हो सकती हैं। नीचे दिए ग्राफ चित्र में परीक्षा प्राप्तांकों के एक नमूने (sample) और किसी नौकरी में कार्य प्रदर्शन की माप का एक परिकल्पना आधारित चित्रण (hypothetical plot) दिया गया है – ऐसा मानते हुए कि सभी आवेदकों को नौकरी दी जानी हो। इन दोनों के बीच का सह-सम्बन्ध काफी सशक्त है: आप देख सकते हैं कि ज़्यादा अंक पाने वाले नौकरी में अच्छा प्रदर्शन करेंगे, और कम अंक पाने वाले अच्छा प्रदर्शन नहीं करेंगे। परन्तु कम अंक पाने वालों का भी एक

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

छोटा समूह है जिनका प्रदर्शन सन्तोषजनक है, और अधिक अंक पाने वालों का एक और छोटा समूह है जिनका कार्य प्रदर्शन सन्तोषजनक नहीं है। अगर केवल उन लोगों को नौकरियाँ दी जाएँ जिनके प्राप्तांक विभेदक रेखा (cut-off) (जिसे ग्राफ में एक खड़ी रेखा के रूप में दर्शाया गया है) से ऊपर हों, तो यह निर्णय दोनों ही छोटे समूहों के लिए गलत होगा। और सम्भव है कि ये समूह दरअसल उतने छोटे न भी हों।

जैसे-जैसे परीक्षा प्राप्तांकों और कार्य-प्रदर्शन के बीच का सम्बन्ध कमज़ोर होता जाता है (और यह मसला परीक्षा की वैधता से जुड़ा है) गलतियों की



संख्या भी बढ़ती जाती है। इसे आप ग्राफ चित्र की दूसरी आकृति में देख सकते हैं। बेशक एकदम श्रेष्ठ व सटीक निर्णय जैसी कोई चीज़ होती ही नहीं, जो उपरोक्त दोनों त्रुटियों से मुक्त हो। परन्तु अगर हम परीक्षा की वैधता को सुधारने के लिए कुछ नहीं कर सकते, तो कम से कम निर्णय लेने के लिए एक से ज़्यादा मापदण्ड तो अपना ही सकते हैं।

परीक्षा प्राप्तांकों का उपयोग शिक्षकों और कार्यक्रमों के मूल्यांकन के लिए भी किया जाता है। उदाहरण के लिए, संयुक्त राज्य अमरीका में शिक्षकों और स्कूलों को प्राप्तांकों के आधार पर ईनाम या सज़ा दी जाती है – शिक्षकों को वेतन वृद्धि मिल सकती है या उन्हें नौकरी से निकाला जा सकता है, और कम औसत अंक वाले स्कूलों पर सरकार द्वारा नियुक्त विशेषज्ञ 'काबिज़' हो सकते हैं। संयुक्त राज्य में किए गए एक रोचक अध्ययन ने शिक्षकों के एक समूह द्वारा उन पर लादे जाने वाले ऊँचे दावों वाले परीक्षण के ज़ोरदार विरोध का दस्तावेज़ीकरण किया था। उनकी नकारात्मक भावनाएँ कुछ तो स्वाभाविक रूप से इसलिए थीं क्योंकि इन परीक्षाओं द्वारा उनका 'परीक्षण' भी हो रहा था और खराब नतीजों के लिए उन्हें जवाबदेह माना जा रहा था। परन्तु इस अध्ययन ने यह भी दर्शाया कि शिक्षक इस तथ्य से भी चिन्तित थे कि परीक्षाएँ अच्छी अध्यापन विधियों और सार्थक रूप से सीखने को जगह नहीं देतीं। इस शोधपत्र की लेखिकाओं, मेरी ए. बार्कस्टेल-लैड और कैरन टॉमसन ने शिक्षकों के कई हिला देने वाले उद्धरण शामिल किए हैं। उनमें से कुछ यहाँ प्रस्तुत हैं:

‘जरा सोचें कि अगर आप परीक्षा लेने और परीक्षा की तैयारी करने में लगने वाले समय का पढ़ाने में उपयोग कर पाते तो कितना कुछ कर सकते थे। बहुत ही ज़्यादा परीक्षाएँ ली जाती हैं’;

‘बच्चों को परीक्षा के लिए तैयार करने के वास्ते असली शिक्षकों की ज़रूरत ही नहीं है। दरअसल मुझे तो यह लगता है कि ऐसा करने के लिए वे कम्प्यूटर प्रोग्राम विकसित कर सकते हैं’;

‘परीक्षा के लिए सीखना सार्थक नहीं है... प्राप्तांक ज़रूर बढ़ते हैं, पर बच्चों को जानकारी कम होती है, और लोगों के रूप में भी वे कमतर होते हैं’; और,

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

‘मेरा खयाल है कि उनकी (परीक्षाओं की) रचना इसलिए की गई क्योंकि सब सोचते हैं कि खराब शिक्षकों की संख्या बहुत अधिक है, और इनसे खराब शिक्षक सुधर सकेंगे। पर ऐसा होता नहीं है। बल्कि सच तो यह है कि परीक्षाएँ खराब शिक्षकों को वही जारी रखने का बहाना मुहैया करा देती हैं जो वे हमेशा से करते आए हैं – कुशलताओं का बहुत सारा अभ्यास और उनका दोहराव (skill and drill)। यह तो खराब अध्यापन का ही लाइसेंस है।’

लोगों और कार्यक्रमों के मूल्यांकन के लिए परीक्षा के उपयोग में जो समस्या है, वह मुख्यतः आकलन की खराब गुणवत्ता से उपजती है। इस अन्तिम भाग में हम अकादमिक परीक्षाओं की वैधता और विश्वसनीयता को बढ़ाने के तरीकों को देखेंगे।

मूल्यांकन को सुधारना

परीक्षण किस चीज़ का किया जाना है, उसकी परिभाषा अगर ज़्यादा समृद्ध हो तो आकलन को लाभ हो सकता है और प्रामाणिक आकलन के लक्ष्यों में एक यह भी है। जहाँ खराब परीक्षाएँ केवल याददाश्त का ही मापन करती हैं, बेहतर परीक्षाएँ याददाश्त, समझ और उपयोग का मापन कर सकती हैं। इससे भी बेहतर परीक्षाएँ कई और महत्वपूर्ण कौशलों का आकलन कर सकती हैं, जैसे:

- खुली समस्याओं (जिनका एक ही हल न हो) का समाधान,
- समस्याओं को गढ़ना,
- पूर्वानुमान लगाना और उन्हें स्पष्ट करना,
- समूह में काम करना,
- नए विचारों के प्रति खुलापन,
- आँकड़ों के साथ काम करना,
- एक से ज़्यादा नज़रियों या दृष्टिकोणों का उपयोग करना,
- असफलता के बावजूद जुटे रहना,

- स्व-आकलन और आत्म-सुधार,
- सूचनाओं की मौखिक प्रस्तुति,
- अव्यवस्था में व्यवस्था लाना।

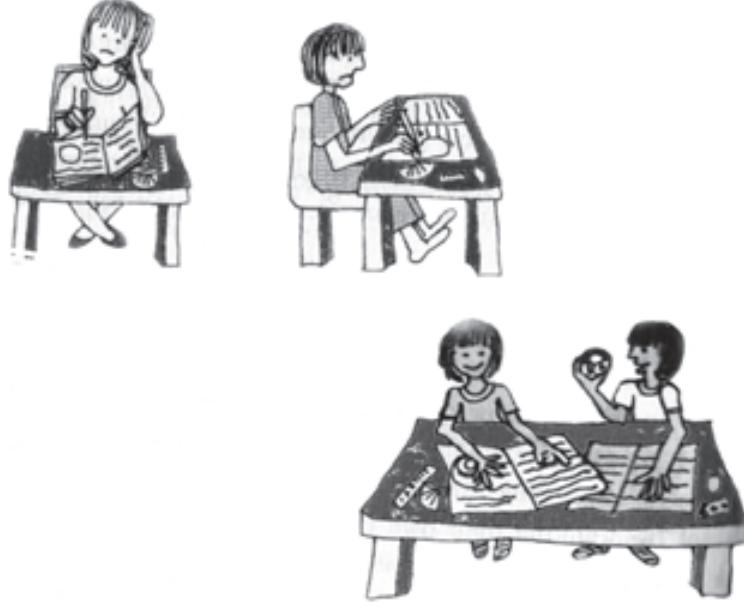
आकलन को ऐसी व्यापक सूची पर आधारित करना दो कारणों से अच्छा है। अब तो ये कौशल ऐसे हैं जिनकी वास्तविक दुनिया में अहमियत है; अतः आकलन में इनको शामिल करना उसे ज़्यादा वैध भी बनाएगा। दूसरे, ऐसे आकलन का शिक्षण और पाठ्यचर्या पर पड़ने वाला 'उलट-धारा' (back wash) प्रभाव उनमें सुधार ही लाएगा। याद करें कि उलट-धारा का मतलब शिक्षकों और पाठ्यचर्या की उस प्रवृत्ति से है जिसके चलते वे खुद को परीक्षाओं की ज़रूरतों के अनुरूप ढाल लेते हैं। अतः बेहतर आकलन बेहतर शिक्षण व्यवहार की दिशा में ले जाएगा – कम से कम परीक्षाओं में सुधार लाने के कई व्यापक प्रयासों के पीछे तो यही आशा रही है।

प्रामाणिक आकलन के एक स्वरूप को **पोर्टफोलियो विधि** कहा जाता है जिस पर काफी शोध किया गया है। मनोवैज्ञानिक स्कॉट पेरिस और उनके सहकर्मी पोर्टफोलियो को कुछ यूँ परिभाषित करते हैं – विद्यार्थियों के कार्यों का एक ऐसा चुना हुआ संकलन जो उनकी दैनिक कक्षा पाठ्यचर्या और अध्यापन का प्रतिनिधित्व करता हो। अमरीका के कई स्कूलों में विद्यार्थियों के पोर्टफोलियो का उपयोग सफलतापूर्वक पूरक और ज़्यादा सार्थक आकलन के रूप में किया गया है। प्रत्येक पोर्टफोलियो किसी विद्यार्थी के कक्षा कार्य, और कक्षा में उसके प्रदर्शन के विविध प्रमाणों का प्रतिनिधित्व करता है। किसी भी अतिरिक्त कार्य की आवश्यकता नहीं पड़ती, सिवाय उपयुक्त उदाहरणों को चुनने के, और यह चयन विद्यार्थियों के साथ मिलकर किया जा सकता है। इस प्रकार विद्यार्थी खुद अपनी आकलनकर्ता बन जाती है। वह खुद से पूछती है, 'क्या यह काम उस कोशिश या कौशल को दर्शाता है, जिसे मैं दूसरों को बताना चाहती हूँ?' पेरिस सुझाते हैं कि पोर्टफोलियो में तीन अलग प्रकार के प्रमाण शामिल किए जाएँ: प्रदर्शन (विद्यार्थी जो कुछ पढ़/लिख/गणना कर सकता है उसके रोज़मर्रा के उदाहरण), प्रक्रिया (रणनीतियों और विधियों का प्रमाण) और बोध (perception) (लिखित आत्मचिन्तन या स्व-मूल्यांकन)।

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

आकलन में एक हाल का नवाचार है **सहयोगी परीक्षण** (collaborative testing)। फिलिप ज़िम्बार्डो पिछले पचास वर्षों से मनोविज्ञान के क्षेत्र में एक जाना-माना नाम हैं। उन्होंने हाल में परीक्षा को लेकर दुश्चिन्ता (anxiety) और उसे कैसे कम किया जाए, इस पर ध्यान देना शुरू किया है। उन्होंने अपनी मनोविज्ञान की कक्षाओं में एक नए विचार को आजमाने का निर्णय लिया। विद्यार्थियों को यह विकल्प दिया गया कि वे अपने सहपाठियों में से अपनी इच्छा से चुने गए किसी एक साथी के साथ मिलकर या अकेले परीक्षा दे सकते हैं! उन्हें बताया गया कि सहयोगी जोड़ी को एक ही पर्चा देना होगा और उन्हें एक ही ग्रेड (समान अंक) दिया जाएगा – कोई भी व्यक्तिगत काम नहीं होगा। एक दिलचस्प विचार! आपको क्या लगता है कि विद्यार्थियों ने इस प्रस्ताव पर कैसी प्रतिक्रिया की होगी? तकरीबन 40 प्रतिशत विद्यार्थियों ने जोड़ियों में परीक्षा देने का विकल्प चुना। जिन विद्यार्थियों ने अकेले परीक्षा देना चुना, उनमें से अधिकांश ने ऐसा इसलिए किया क्योंकि उन्हें डर था कि कहीं उनका साथी कम काम न करे। परन्तु ‘जोड़ों’ में से सिर्फ 20 प्रतिशत ने ही बताया कि उन्होंने पढ़ाई का ‘काम बाँटा’। अधिकतर ने पूरे हिस्सों को या जितना वे अकेले परीक्षा देने के लिए पढ़ते, उतनी पढ़ाई की। परिणामों ने दर्शाया कि जिन विद्यार्थियों ने जोड़ियों में सहयोगी परीक्षा दी उन्हें औसतन कई बिन्दु अधिक अंक मिले, बनिस्बत उनके जिन्होंने अकेले परीक्षा दी। साथ ही उन्हें पाठ्यक्रम में भी ज़्यादा मज़ा आया, उन्होंने अपना ज्ञान अधिक बाँटा, और उन्हें परीक्षा को लेकर चिन्ता भी कम हुई। उन्होंने ज़िम्बार्डो से कहा कि वे अपने पाठ्यक्रम में सहयोगी परीक्षा का अधिक उपयोग पसन्द करेंगे। जैसा ज़िम्बार्डो कहते हैं, हालाँकि अपनी चिन्ताओं को बाँट लेना तनाव को कम करता है, यह प्रयोग इसलिए और भी ज़्यादा मूल्यवान है क्योंकि यह वास्तविक दुनिया की ही तरह साझे काम पर बल देता है। विद्यार्थियों को एक-दूसरे के साथ तालमेल करना पड़ता है, बाँटना, और सहकार करना पड़ता है, और किसी भी कार्यस्थल के लिए ये आज बेहद कीमती कौशल हैं।

तीसरा उदाहरण है **रुबरिक्स** (rubrics) का उपयोग। मान लीजिए किसी विद्यार्थी ने अरब-इज़रायल संघर्ष पर एक लेख लिखा है और उसके शिक्षक



को उसे दस में से अंक देने हैं। उसे जो अंक मिलते हैं वे एक साथ कई मापदण्डों को परिलक्षित करते हैं: स्पष्टता, कितनी तरह के मुद्दे शामिल किए गए हैं, समझ की गहराई, भाषा की नफासत, आदि। इस परिस्थिति के लिए रुबरिक गढ़ने हों तो हमें इन मापदण्डों को सूचीबद्ध करना होगा। तब, प्रत्येक मापदण्ड में विद्यार्थी के प्रदर्शन स्तर को शब्दों में वर्णित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, स्पष्टता के मापदण्ड के विभिन्न स्तर इस प्रकार हो सकते हैं।

1. विभिन्न बिन्दुओं को स्पष्ट नहीं किया गया है, लेख मोटे तौर पर अस्पष्ट (confused) है।
2. कुछ बिन्दु स्पष्ट हैं, शेष अधिकतर अस्पष्ट हैं।
3. कई बिन्दु स्पष्ट हैं, पर कुछ क्षेत्र स्पष्ट नहीं।
4. सभी बिन्दु स्पष्ट हैं, पूरा लेख बहुत स्पष्ट है।

इसी तरह का काम हमें सभी मापदण्डों के लिए करना होगा और तब हमें जो मिलेगा वह एक खाका (matrix) या रुबरिक होगा। कई स्कूली प्रणालियों

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

में रुबरिक का उपयोग उम्दा नतीजों के साथ किया गया है। रुबरिक का सबसे बड़ा फायदा तब मिलता है जब विद्यार्थियों को काम शुरू करने के पहले रुबरिक दिखा दिया जाए। इससे वे मानकों के प्रति सचेत हो जाते हैं और अपनी अच्छी से अच्छी कोशिश करके उन्हें हासिल करने को प्रोत्साहित होते हैं।¹

आकलन के विभिन्न वैकल्पिक तरीकों की सफलता और उनके फायदों को देखकर यह विचार उठता ही है कि उनको बड़े पैमाने पर अपनाया क्यों नहीं गया है। अगर हम इन तरीकों को अपना लें तो हमें क्या खो देने का भय सताता है? उत्तर सम्भवतः यह है: वस्तुनिष्ठता और आसान मात्रात्मक (quantitative) विभाजन रेखाएँ। प्रामाणिक आकलन में गुणवत्ता के कई आयामों के विषय में मानवीय फैसले करने की ज़रूरत पड़ सकती है। जो शिक्षक निबन्ध जाँचते हैं, वे पहले से ही ऐसा करते हैं: वे शैली, स्पष्टता, विस्तार, आदि पर निर्णय करते हैं। निबन्धों को अंक देने की विश्वसनीयता पर किया गया शुरुआती शोध काफी निराशाजनक था। उसने दिखाया कि जब दो अलग-अलग व्यक्ति एक ही लेख पर अंक देते हैं तो उनकी राय बहुत अलग होती है, और जब एक ही व्यक्ति एक ही लेख को अलग-अलग समय पर जाँचता है, तब भी उसके मत में अन्तर होता है। इस तथ्य ने हमें ऐसे आकलन की वस्तुनिष्ठता के प्रति बेहद शंकालु बना दिया है। दूसरी समस्या बिलाशक, यह है कि हमें सरल सार अंकों (summary numbers) की आदत पड़ चुकी है, जिनके आधार पर हम किसी विद्यार्थी की 'लियाकत' पर फैसला करते हैं।

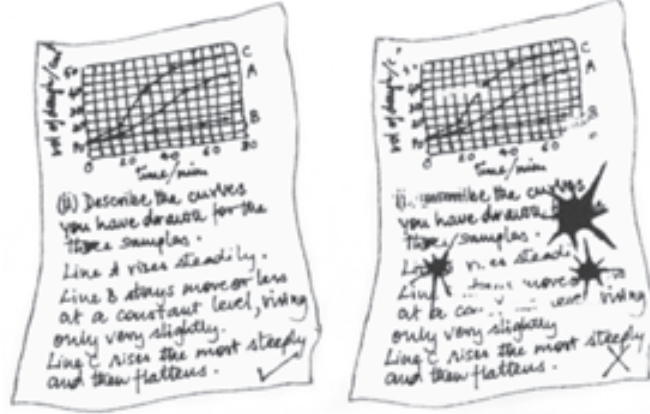
1. 'मवेशियों का वज़न तौलने से वे मोटे नहीं हो जाते!' ये शब्द जाने-माने शिक्षाविद् एल्बर्ट शैंकर द्वारा कहे गए थे। वे संकेत करना चाहते थे कि केवल परीक्षा लेने से बच्चे ज़्यादा चतुर नहीं बन जाते। इस बात को स्वीकारने और उनकी शैली को सराहने के बाद हम इस उपमा को इस प्रकार आगे बढ़ा सकते हैं। अगर जानवर वज़न तौलने की मशीन को पढ़ सकते, मोटा होना चाहते, और यह भी जानते होते कि मोटा कैसे हुआ जा सकता है, तो क्या होता? इसे 'मानकों को अपनाना' कहते हैं, और यह परीक्षाएँ देने वाले विद्यार्थियों पर लागू होता है। अगर विद्यार्थियों को अपने सीखने से सक्रिय रूप से जोड़ा जा सके, अगर उन्हें अच्छे प्रदर्शन के स्तर बता दिए जाएँ, तो वे उन स्तरों को 'अपना' लेंगे। वे आकलन के नतीजों का उपयोग अपने सीखने को सुधारने के लिए करेंगे। और तब मवेशियों का वज़न लेना उन्हें सचमुच मोटा बनाएगा।

क्या इस गतिरोध से निकलने का कोई रास्ता है? हमें गुणात्मक आकलन (qualitative assessment) पर फिर से नज़र दौड़ानी होगी, क्योंकि इसे पूरी तरह खारिज करने से हमारे पास मौजूदा प्रणाली और उसकी समस्याओं के कोई विकल्प ही नहीं रहेंगे। गुणात्मक आकलन की कुछ विशेषताएँ ऐसी हैं जो हमें चिन्तित कर सकती हैं।

- हम जानते हैं कि कुछ मामलों में प्रदर्शन के मापदण्ड काफी पैने होते हैं, इस अर्थ में कि वहाँ सही और गलत स्पष्ट नज़र आते हैं। इसके उदाहरण हमें गणित, भौतिकी, रसायनशास्त्र, और शायद वर्तनी और व्याकरण में मिलते हैं। परन्तु अध्याय के इस भाग के प्रारम्भ में सूचीबद्ध किए गए कई कौशलों के मापदण्ड सम्भवतः 'धुँधले' ही होंगे। उदाहरण के लिए, एक निबन्ध के मामले में 'बिलकुल स्पष्ट' व 'बिलकुल अस्पष्ट' के बीच कई सम्भावित स्थितियाँ हो सकती हैं।
- गुणात्मक मूल्यांकन व्यक्तिनिष्ठ होता है, अतः जाँचते समय तुलना के प्रभाव (किसी एक विद्यार्थी के प्रदर्शन को इसलिए अच्छा मान लेना क्योंकि उससे पहले के विद्यार्थी का प्रदर्शन बेहद कमज़ोर था); प्रभामण्डल प्रभाव (halo effect यानी जब विद्यार्थियों की व्यक्तिगत छवियाँ हमारे आकलन को प्रभावित करती हैं); जाँचने वाले के व्यक्तित्व के प्रभाव (कठोर या उदार स्वभाव); और बाहरी प्रभाव (सफाई या लिखाई) का यह शिकार हो सकता है।
- प्रदर्शन एक साथ कई मापदण्डों का मिला-जुला काम है। इसका मतलब यह हुआ कि आप किसी एक आयाम में दो विद्यार्थियों की तुलना कर ही नहीं सकते।

ऐसा लग सकता है कि इन समस्याओं से बचना नामुमकिन है परन्तु शायद इस एहसास से मदद मिले कि 'व्यक्तिनिष्ठ' का अर्थ आवश्यक रूप से स्वेच्छाचारी या पूर्वाग्रह युक्त नहीं होता, और वस्तुनिष्ठता खुद भी महज़ एक भ्रम हो सकती है। एक बहु-विकल्पीय प्रश्नपत्र बनाने के विभिन्न चरण – प्रश्नों का चयन, उनके विकल्पों के लिए प्रयोग किए गए शब्द और उनके क्रम की जमावट – सभी अपने आप में व्यक्तिनिष्ठ बातें हैं। हालाँकि अन्तिम चरण वस्तुनिष्ठ ही होता है जिसमें कितने उत्तर 'सही' हैं इसका निर्णय

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?



लिया जाता है। गुणात्मक आकलन के मामले में वस्तुनिष्ठता को प्रशिक्षित शिक्षकों के एक समूह की सहमति के रूप में परिभाषित किया जाना चाहिए। यह तब हासिल किया जा सकता है जब (1) आकलन की प्रक्रियाओं को सावधानी से विकसित किया जाए; (2) शिक्षकों को इन प्रक्रियाओं में प्रशिक्षित किया जाए; और (3) शिक्षकों में आपसी विचार-विमर्श की व्यवस्था की जाए ताकि वे सहमति बना सकें। और भी बेहतर हो कि इन मापदण्डों को सार्वजनिक कर दिया जाए और अन्य शिक्षकों, अभिभावकों, कॉलेजों, नियोक्ताओं और स्वयं विद्यार्थियों को उपलब्ध करवा दिया जाए। जब शिक्षक इन प्रक्रियाओं में प्रशिक्षित और उनसे परिचित हो जाएँगे तो गुणात्मक आकलन भी परम्परागत मूल्यांकन से ज़्यादा कठिन नहीं होगा।

एक अन्तिम बिन्दु यह है कि किसी भी इकलौती परीक्षा या परीक्षण घटना को सर्वोच्च महत्व नहीं दिया जाना चाहिए। फैसलों को समय लेकर और कई परीक्षाओं के आधार पर लिया जाना चाहिए। इस तरीके से हम शिक्षकों और विद्यार्थियों की असंगतियों के प्रभाव को कम कर सकेंगे और अन्तिम परिणाम को ज़्यादा विश्वसनीय बना सकेंगे। बहरहाल, यहाँ एक और ज़्यादा गहरा सूत्र भी है: जो इस अध्याय को बड़ी खूबसूरती से समेटता है। **हालाँकि हम अधिकांशतः प्रदर्शन का मापन करते हैं, हम दरअसल जिसका मापन करना चाहते हैं वह दक्षता है।** दक्षता के बेहतर मापन का एकमात्र तरीका है समय के अन्तराल में अलग-अलग सन्दर्भों में विभिन्न कौशलों के प्रदर्शन के नमूनों को देखना।

निष्कर्ष

भारत की राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 में एक भाग आकलन और मूल्यांकन पर है। हमने यहाँ जो मुद्दे उठाए हैं, उनमें से कई को दर्ज करने के अलावा यह दस्तावेज़ सुधार सम्बन्धी कुछ ठोस सुझाव भी देता है। इसके उदाहरण हैं, खुली किताब के साथ परीक्षा, समय सीमाहीन परीक्षा, गणित और अँग्रेज़ी की परीक्षाओं को दक्षता के दो या तीन स्तरों में लेना, शिक्षकों और अन्य पेशेवरों की सहायता से बढ़िया प्रश्नों का एक कोष तैयार करना, और दसवीं और बारहवीं कक्षा के अन्त में ली जाने वाली परीक्षाओं के अलावा सभी बोर्ड परीक्षाओं को समाप्त कर देना। ये सुझाव सुसंगत मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित हैं, जैसा कि इस अध्याय ने दर्शाया है। अगर इन्हें लागू किया जाए तो ये भारत में आकलन की शक्ति को सच में बदल देंगे।

आकलन और मूल्यांकन को बदलने का सबसे बड़ा कारण है विद्यार्थियों द्वारा महसूस किए जाने वाले दबाव का बोझ। सामान्यतः स्कूल कई बच्चों के लिए एक तनावपूर्ण अनुभव हो सकता है। युवा लोगों को विविध प्रकार की चुनौतियों का सामना करना पड़ता है, और अगला अध्याय शिक्षा के सन्दर्भ में भावनात्मक स्वास्थ्य के मुद्दों को देखता है।

सन्दर्भ और पुस्तक सूची

1. बार्कस्टेल-लैड, एम.ए., और के.एफ. थॉमस, 2000। 'व्हॉट्स एट स्टेक इन हाई-स्टेक्स टैस्टिंग: टीचर्स एंड पेरेन्ट्स स्पीक आउट।' *जर्नल ऑफ टीचर एज्युकेशन*, खण्ड-51, संख्या-5, 384-97
2. ब्यॉक, आर.ए., 1999। 'असेसिंग आवर ओन कॉम्पीटेंस: ह्यूरिस्टिक्स एंड इल्यूशंस।' डी. गोफर और ए. कोरिएट (सम्पादित) *अटेंशन एंड परफॉर्मेंस XVII, कॉग्निटिव रेग्युलेशन ऑफ परफॉर्मेंस: इंटरैक्शन ऑफ थियोरी एंड एप्लिकेशन* में शामिल। केम्ब्रिज एम.ए.: एम.आई.टी. प्रेस।
3. चेंग, एल., 1997। 'हाऊ डज़ वॉशबैक इंप्लुएंस टीचिंग? इंप्लिकेशंस फॉर हांगकांग।' *लैंग्वेज एंड एज्युकेशन*, खण्ड-11, संख्या-1, 38-54

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

4. डिएटेल, आर.जे., जे.एल. हर्मन, और आर.ए. नूथ, 1991। 'व्हाट डज़ रिसर्च से अबाउट असेसमेंट?' नॉर्थ सेंट्रल रीजनल एज्युकेशनल लैबोरेटरी, http://www.ncrel.org/sdrs/areas/stw_esys/4assess.htm
5. हॉपकिन्स, जी., 2005। 'हारू कैन टीचर्स डेवलप स्टूडेंट्स' मोटिवेशन एंड सक्सेस? एन इंटरव्यू विद कैरल एस. ड्वेक, *एज्युकेशन वर्ल्ड*, स्कूल इश्यूज़, 2005
6. मून, टी.आर., सी.एम. ब्राइटन, सी.एम. कैलहैन, और ए. रॉबिन्सन, 2005, 'डेवलपमेंट ऑफ ऑथेंटिक असेसमेंट्स फॉर द मिडल स्कूल क्लासरूम।' *द जर्नल ऑफ सेकेंडरी गिफटेड एज्युकेशन*, खण्ड-XVI, संख्या-2/3, 119-33
7. रोडिगर III, एच.एल., और ई.जे. मार्श, 2005। 'द पॉज़िटिव एंड नेगेटिव कॉन्सिक्वेंसेस ऑफ मल्टिपल चॉएस टेस्टिंग।' *जर्नल ऑफ एक्सपेरिमेंटल साइकॉलजी: लर्निंग, मेमरी, एंड कॉग्निशन*, खण्ड-31, संख्या-5, 1155-59
8. शॉनेस्सी, एम.एफ., 2002। 'एन इंटरव्यू विद हेनरी एल. रोडिगर III', *एज्युकेशनल साइकॉलजी रिव्यू*, खण्ड-14, संख्या-4
9. स्टेचर, बी.एम., *कॉन्सिक्वेंसेस ऑफ लार्ज स्केल, हाई-स्टेक्स टेस्टिंग ऑन स्कूल एंड क्लासरूम प्रैक्टिस/ 79-100*
10. ज़िम्बार्डो, पी.जी., एल.डी. बटलर और वी.ए. वॉल्फ, 2003। 'कोऑपरेटिव कॉलेज एक्ज़ामिनेशंस: मोर गेन, लैस पेन व्हेन स्टूडेंट्स शेयर इंफॉरमेशन एंड ग्रेड्स।' *जर्नल ऑफ एक्सपेरिमेंटल एज्युकेशन*, खण्ड-71, संख्या-2

अध्याय-10

भावनाएँ, सीखना और भावनात्मक स्वास्थ्य



दुनिया की सैकड़ों भाषाओं में से जिस भाषा को सीखना शिक्षकों के लिए सबसे ज़रूरी है, वह सम्भवतः 'शरीर की भाषा' (body language) है। शिक्षकों को कुछ संकेतों को पढ़ना आना ही चाहिए, जैसे पथराए हुए भाव, शैतानी भरी नज़रें, फूले हुए मुँह, क्योंकि ये विद्यार्थियों की आन्तरिक भावनाओं के सुराग हैं। अकादमिक सन्दर्भों में विद्यार्थियों को जो महसूस होता है, उन्हें *अकादमिक भावनाएँ* कहते हैं। ये भावनाएँ विद्यार्थियों के विभिन्न प्रकार के परिणामों को प्रभावित करती हैं, जैसे प्रेरणा, संज्ञान, उपलब्धि, शारीरिक स्वास्थ्य और मनोवैज्ञानिक स्वास्थ्य। हम सब जानते हैं

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

कि अगर कोई विद्यार्थी दुखी, चिन्तित या गुस्से में हो तो उसे पाठ का बहुत कम हिस्सा समझ में आएगा। और अगर वह एकाग्रचित्त, उत्सुक और भयमुक्त हो तो वह बेहतर सीखेगी। पर यह तो कहानी की शुरुआत भर है; स्कूली काम और स्कूली प्रदर्शन से सम्बन्धित तमाम तरह की भावनाओं का अनुभव विद्यार्थियों को होता है।

आदर्श तो यही है कि हम हमारे विद्यार्थियों की भावनात्मक स्थिति पर उतना ही ध्यान दें जितना हम उनके अकादमिक शिक्षण पर देते हैं। लेकिन किसी ठेठ स्कूली परिस्थिति में एक शिक्षिका या शिक्षक के लिए अपने प्रत्येक विद्यार्थी की भावनात्मक आवश्यकताओं को सम्बोधित करना बेहद कठिन होता है – विद्यार्थियों की संख्या इतनी अधिक और समय इतना कम जो होता है। चूँकि अकादमिक भावनाओं की ओर ध्यान देने के लिए जो समय व ऊर्जा की ज़रूरत होती है वह हम दे नहीं पाते, शायद इसलिए हम उनको पूरी तरह नज़रअन्दाज़ कर देते हैं। यहाँ तक कि हम सीखने में उनके महत्व तक को नकार सकते हैं, खुद को यह मनवाते हुए कि भावनाएँ ‘अप्रासंगिक’ हैं, और पढ़ाई और परीक्षाओं की तैयारी जैसे ज़रूरी कामों के लिए उन्हें परे धकेला जा सकता है। पर ऐसा करना एक गम्भीर गलती होगी।

एक बात तो यह है कि अगर हम सीखने में भावनाओं की उपस्थिति और उनकी ताकत को नहीं स्वीकारते, तो पढ़ाने में लगाई जाने वाली अपनी कीमती ऊर्जा को ही नाली में बहा देने का जोखिम उठा रहे होते हैं। भावनाएँ प्रेरणा और संज्ञान से बहुत बुनियादी स्तर पर जटिल रूप से गुँथी होती हैं और ये तीनों मिल-जुलकर स्कूली शिक्षण का आधार बनाती हैं। हालाँकि ऐसा लगता है कि अपने वर्णनों में हम उनको अलग कर लेते हैं, वास्तविकता में वे अलग की ही नहीं जा सकतीं। उदाहरण के लिए कोई विद्यार्थी कक्षा में अनमनी-सी, सीखने का विरोध करती हुई, या महज़ आक्रामक हो सकती है। इन तीनों आचरणों के स्रोत *साझे रूप में* उसकी मान्यताओं या दृष्टिकोणों में स्थित होते हैं, और *साथ ही* क्रोध, शर्म और अपराधबोध जैसी नकारात्मक भावनाओं में भी। इसी तरह कक्षा की शैक्षणिक गतिविधियों के प्रति विद्यार्थियों का आकर्षण और जुड़ाव भी इन गतिविधियों के मूल्य या महत्व में विद्यार्थियों

की आस्था में, और साथ ही ऊब, रुचि, प्रेम व आनन्द जैसी भावनाओं में भी साझे रूप में स्थित होता है।

मनोवैज्ञानिक एंटोनियो डेमासियो और मेरी हेलेन इम्मॉरदीनो-यांग ने एक हाल के आलेख में यह बात बेहद सशक्त रूप से रखी है। भावनाओं को काँच के सामान की दुकान में चीज़ों को गड़बड़ा देने वाले एक नन्हे बच्चे के रूप में नहीं, बल्कि उस शेल्फ के रूप में देखना चाहिए जिस पर काँच का सामान रखा हुआ है! हम जब विशुद्ध तार्किक विचार की या संज्ञान को पटरी से उतारने वाली भावनाओं की बात करते हैं तो हम 'या तो यह या-फिर वह' (either-or) के रूप में सोचने लगते हैं। परन्तु जैसा कि यांग और डेमासियो संकेत देते हैं, तर्क करने और सीखने में दरअसल सामाजिक फीडबैक (social feedback) का बोध होना और उसका उपयोग करना ज़रूरी है, जो एक भावनात्मक प्रक्रिया है।

अगर हम विद्यार्थियों की भावनाओं पर ध्यान देने के महत्व को स्वीकार लें, लेकिन ऐसा कर पाने की अपनी क्षमता में सीमित भी हों, तो हमारे सामने क्या कोई हल है? विद्यार्थियों के भावनात्मक स्वास्थ्य की देखभाल का एक दूसरा, ज़्यादा व्यापक नज़रिया, ऐसा स्कूली वातावरण तैयार करना है जो अवैयक्तिक (impersonal) और प्रतिस्पर्धात्मक होने की बजाय, स्नेहपूर्ण और समर्थन देने वाला हो। इस अध्याय के ज़रिए मैं यह बताने की आशा करती हूँ कि परम्परागत रूप से प्रदर्शन और तुलनात्मक मूल्यांकन पर जो बल दिया जाता है, वह विद्यार्थियों में हानिकारक भावनात्मक प्रतिक्रियाएँ जगाता है। मैंने जानबूझकर 'हानिकारक' जैसे गम्भीर शब्द का प्रयोग किया है – कुछ भावनात्मक स्थितियाँ सीखने की प्रक्रिया को, सहपाठियों के साथ सम्बन्धों को, माता-पिता और शिक्षकों के साथ रिश्तों को, और विद्यार्थियों के मनोवैज्ञानिक स्वास्थ्य को हानि पहुँचा सकती हैं। और आप देखेंगे कि यह बात तब भी सच होती है, जब मसला कुछ 'सकारात्मक' भावनाओं, जैसे गर्व और आशा से जुड़ा हो। प्रदर्शन पर दिए जाने वाले शैक्षणिक बल के चलते हम अपने बच्चों के लिए कुछ खास कर नहीं सकते, सिवाय हानिकारक भावनाओं से 'निपटने' में उनकी मदद करने के। और निपटना बेहद असन्तोषजनक समाधान है! दूसरी ओर बच्चों के लिए एक समर्थक वातावरण

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

अकादमिक भावना के मुद्दे को ज़्यादा समग्र रूप से सम्बोधित करता है। बेशक अपने सर्वाधिक व्यापक अर्थ में बच्चों के लिए समर्थक वातावरण बनाने में यह निहित होगा कि हमारे मूल्य आज के सामाजिक, शैक्षिक और पारिवारिक मूल्यों से बिल्कुल भिन्न हों। हालाँकि हम सबको उस स्तर पर भी काम करने की ज़रूरत है, पर अगर हम में से हरेक व्यक्ति छोटे-छोटे प्रयासों के ज़रिए भी अपने विद्यार्थियों के भावनात्मक जगत् से तालमेल बैठा सके, तो हमें इसका भारी प्रतिफल मिलेगा।

आगे का हिस्सा अकादमिक भावनाओं से आपको परिचित करवाएगा और उनमें से दो की गहन छानबीन करेगा। ये हैं आनन्द और दुश्चिन्ता।

अकादमिक भावनाएँ

एक अभ्यास के रूप में आप उन अकादमिक भावनाओं की सूची बना सकते हैं जो आपको लगता है कि विद्यार्थी ठेठ रूप से अनुभव करते हैं। और तब आप उनकी तुलना बॉक्स-1 में दी गई सूची से कर सकते हैं। यह सूची मनोवैज्ञानिक राइन्हार्ड पेकन और उनके सहकर्मियों द्वारा, जर्मनी के स्कूलों से प्राप्त गुणात्मक (qualitative) आँकड़ों के आधार पर संकलित की गई है।¹

इस अध्ययन में विद्यार्थियों से कहा गया था कि वे कक्षा के दौरान, घर में पढ़ाई करते समय, और परीक्षाओं के समय की अपनी भावनाओं का वर्णन करें। इन मौखिक बयानों से मनोवैज्ञानिकों ने वर्गीकरण का एक खाका तैयार किया और उनका स्पष्टीकरण भी दिया, जैसा कि बॉक्स-1 में दर्शाया गया है। दुश्चिन्ता सबसे आम भावना थी (बताई गई सभी तरह की भावनाओं में से 15 प्रतिशत से 25 प्रतिशत)। बहरहाल, अगर हम इन भावनाओं को ज़ाहिर अर्थ में 'सकारात्मक' और 'नकारात्मक' के रूप में वर्गीकृत करें तो, परिणामों ने यह दर्शाया था कि सकारात्मक और नकारात्मक भावनाओं की बारम्बारता लगभग बराबर थी।

1. शोध के किसी नए क्षेत्र की छानबीन के लिए अमूमन यह एक अच्छा तरीका साबित होता है, क्योंकि गुणात्मक, वर्णनात्मक, खुली प्रतिक्रियाएँ तमाम जटिलताओं और सम्भावित परिवर्तनशील घटकों को सामने ला देती हैं।

बॉक्स-1

गतिविधि सम्बन्धी भावनाएँ

आनन्द (उत्तेजना और आराम ही स्थितियों में)	जब गतिविधि को मूल्यवान माना जाए और दोनों सीखने पर नियंत्रण हो।
कुण्ठा	जब गतिविधि को मूल्यवान माना जाए और नियंत्रण कम हो।
ऊब	जब गतिविधि को मूल्यवान न समझा जाए।

परिणाम सम्बन्धी भावनाएँ

भविष्य की ओर देखने से उभरने वाली (प्रत्याशित) भावनाएँ

खुशी की उम्मीद	जब सफलता की आशा हो।
निराशा	जब असफलता की उम्मीद हो।
आशा	जब परिणाम अनिश्चित हो, पर ध्यान सफलता पर केन्द्रित हो।
दुश्चिन्ता	जब परिणाम अनिश्चित हो, पर ध्यान असफलता पर हो।

अतीत पर नज़र डालने से उभरने वाली (संस्मरणात्मक) भावनाएँ

आनन्द	जब सफलता हासिल हो जाए।
दुख	जब सफलता हासिल न हो सके।
हताशा	जब उम्मीद सफलता की हो पर ऐसा हो न सके।
राहत	जब उम्मीद असफलता की हो पर ऐसा न हो।

सामाजिक भावनाएँ

गर्व	जब खुद को सफलता का कारण माना जाए।
शर्म	जब बहुत कोशिश के बावजूद असफलता मिले।
कृतज्ञता	जब सफलता को किसी दूसरे की सहायता (जैसे शिक्षिका) के कारण माना जाए।
क्रोध	जब असफलता का कारण किसी दूसरे व्यक्ति को माना जाए।

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

उपरोक्त तालिका एक रोचक बिन्दु यह भी दर्शाती है कि उपलब्धि-सम्बन्धी भावनाओं की यहाँ भरमार है – अर्थात् ऐसी भावनाओं की जो सफलता या असफलता की प्रत्याशा में या उसके हासिल होने पर अनुभव की जाती हैं। यह इस बात का ठोस सबूत है कि स्कूल सीखने से कहीं अधिक प्रदर्शन का स्थान बन गए हैं। परन्तु तालिका में शामिल गतिविधि-सम्बन्धी भावनाएँ – मज़ा, कुण्ठा और ऊब – बेहद महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि उनका ताल्लुक सीखने में जुटने और जुड़ने से है। जब परिस्थितियाँ



अनुकूल होती हैं तब विद्यार्थियों को एक 'प्रवाह का एहसास' (feeling of flow) होता है, किसी गतिविधि को अपने आपके लिए करने में जुटने का एहसास और बिलकुल सही स्तर की चुनौती का सामना करने का एहसास। डेब्रा मेयर और जुलिएन टर्नर ऐसे मनोवैज्ञानिक हैं जिनकी रुचि उन घटकों को जानने में है जो सीखने के अनुभवों की गुणवत्ता को प्रभावित करते हैं या 'प्रवाह' के एहसास में योगदान देते हैं। इस सूक्ष्म स्थिति का सबसे सरल वर्णन इन मनोवैज्ञानिकों के एक पर्चे में मिलता है। उन्होंने एक बच्ची का एक उद्धरण प्रस्तुत किया है जिसमें वह उस गतिविधि के दौरान अपनी भावनाओं को बताती है जिसमें उसे मज़ा आया था – वह 'खूब सोच रही थी... लग रहा था कि उसे सच में समझ रही हूँ और उससे कुछ पा रही हूँ... वास्तव में उसमें घुसी हुई थी।'

स्वाभाविक ही है कि अकादमिक भावनाओं और सीखने के अनुभव की गुणवत्ता के बीच एक मज़बूत जुड़ाव होता है। इसके बावजूद जब मेयर और टर्नर ने कई वर्षों पहले सीखने के अनुभवों सम्बन्धी छानबीन प्रारम्भ की, तो उन्होंने शुरुआत में भावनाओं पर विचार नहीं किया। उन्होंने कक्षाओं में विद्यार्थियों की मान्यताओं और दृष्टिकोणों को जाँचा: लक्ष्य, जोखिम उठाने का आचरण, अपनी क्षमताओं का बोध, आदि। इस प्रकार के किसी ठेठ

अध्ययन में जो तरीका अख्तियार किया जाता है, उसमें विद्यार्थियों को पूर्व निर्धारित प्रश्नावलियाँ दी जाती हैं, जिसमें बहुविकल्पी उत्तर या फिर तुलनात्मक दर्जा देने के लिए पैमाने (rating scales) होते हैं। ऐसी विधियाँ मनोवैज्ञानिकों को आसानी से विश्लेषित होने वाले आँकड़े संकलित करने का मौका देती हैं। परन्तु ऐसा केवल उसी विस्तार (range) में ही किया जा सकता है जिसकी पहले से अपेक्षा कर ली गई हो। सौभाग्य से मेयर और टर्नर ने एक अलग तरीका अपनाया। उन्होंने ऐसे खुले प्रश्न भी पूछे जिनके उत्तर विद्यार्थी अपने शब्दों में दे सकते थे (उनके आँकड़ों का एक बड़ा हिस्सा गुणात्मक और वर्णनात्मक था)। यों उन्होंने पाया कि उनके द्वारा जमा किए गए आँकड़ों में विद्यार्थियों ने तटस्थ मान्यताओं और दृष्टिकोणों के बदले सीखने के विभिन्न पक्षों के बारे में *महसूस की गई* भावनाएँ दर्ज की थीं। ऐसा लगता है कि सीखने के अनुभव की गुणवत्ता व्यक्ति के अन्तः में महसूस की गई भय, गर्व, क्रोध, अचरज, प्रेम, उल्लास और मज़े की भावनाओं द्वारा निर्धारित होती है। 'प्रवाह' वाले अनुभवों का इनमें से कुछ भावनाओं की उपस्थिति और कुछ की अनुपस्थिति से गहरा सह-सम्बन्ध मिला।

मूलतः सीखने का मज़ा सबसे ज़्यादा तब आता है जब व्यक्ति के कौशल स्तर और गतिविधि के चुनौती स्तर में सन्तुलन हो। इसका निहितार्थ यह है कि **क्षमता के सभी स्तरों के** विद्यार्थियों को सीखने में मज़ा आ सकता है। सम्भव है कि यह बात आपको बेहद मामूली-सी सच्चाई लगे, पर यह सचमुच बहुत महत्वपूर्ण है। ज़रा पिछले तमाम वर्षों के उन विद्यार्थियों को याद करें जिनके बारे में आप सोचते रहे थे कि उन्हें सीखने में सच में मज़ा आता था – सम्भावना यह है कि वे सब ऊँची क्षमता स्तर वाले विद्यार्थी थे। शिक्षकों के रूप में हमें ऐसे कल्पनाशील तरीकों को तलाशने की ज़रूरत है जो ज़्यादा विद्यार्थियों को क्षमता व चुनौती का 'सही मेल' उपलब्ध करवाएँ। आठवें अध्याय में मैंने कक्षा में सीखने को विद्यार्थियों के लिए एकदम सही पैमाने पर चुनौतीपूर्ण बनाने सम्बन्धी कई सुझाव शामिल किए थे। ये सब आपकी कक्षा में अधिक विद्यार्थियों को 'प्रवाह के एहसास' को अनुभव करने का मौका देंगे।

आप सोच सकते हैं कि सीखने में 'मज़े' जैसी किसी चीज़ के ठोस फायदे भला क्या हो सकते हैं। क्या इस बात का कोई मनोवैज्ञानिक प्रमाण है कि

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

कोई विद्यार्थी अपना पाठ तब बेहतर सीखेगा जब उसे पाठ में मज़ा आया हो और सीखते समय वह खुश रहा हो? यह प्रश्न महत्वपूर्ण है, खासकर इसलिए क्योंकि आजकल स्कूल और शिक्षक सीखने में विद्यार्थियों के आनन्द को बढ़ाने के प्रयास कर रहे हैं। कोई विद्यार्थी बारह सालों तक सीखने के आनन्द के अनुभव से गुज़र सकता है और कोई दूसरा नीरस परिश्रम से। पर अन्तिम विश्लेषण में यह पता नहीं चलता कि क्या पहले विद्यार्थी ने दूसरे से अधिक या बेहतर सीखा है। सच तो यह है कि कुछ शिक्षाविद् यहाँ तक भी तर्क प्रस्तुत कर सकते हैं कि नीरसता की जगह आनन्द लाकर हम सीखने का ही बलिदान कर देते हैं। खैर, इस तर्क का जवाब तो आसानी से दिया जा सकता है। हम चाहते हैं कि बच्चे स्कूल में खुश रहें क्योंकि अच्छा **भावनात्मक स्वास्थ्य अपने आप में एक ध्येय है**, इसलिए नहीं कि यह खुशी वार्षिक परीक्षा में अधिक अंकों की ओर ले जाएगी। फिर भी, कक्षा में जो मज़ा है वह सीखने की प्रक्रिया से आना चाहिए, इसलिए नहीं कि पाठ या शिक्षक मनोरंजक थे या बहुत सरल थे।

हम मूल प्रश्न पर लौटते हैं, सीखने पर आनन्द का जो प्रभाव पड़ता है, उस विषय पर प्रत्यक्ष रूप से प्रासंगिक कोई शोध नहीं है। परन्तु काफी सारा सम्बन्धित प्रमाण अवश्य है जिसका सार-संक्षेप इस बढ़िया वाक्य में समेटा जा सकता है: आनन्ददायक स्थितियाँ रचनात्मक चिन्तन को प्रोत्साहित करती हैं। विविध प्रकार के अध्ययनों में – जिनमें कुछ प्रयोगशालाओं में किए गए थे, तो कुछ वास्तविक स्थितियों में – वयस्कों या बच्चों से सामाजिक या संज्ञानात्मक कार्य करवाए गए थे। इन शोधों ने यह दिखाया कि मन की थोड़ी-सी भी सकारात्मक स्थितियाँ संज्ञानात्मक विस्तरण (cognitive elaboration) और लचीलेपन को बढ़ा देती हैं। ऐसे में अधिक विचार उपजते हैं, सामान्य और असामान्य, दोनों ही प्रकार के। यह लचीलापन बेहतर समस्या समाधान क्षमता की ओर ले जाता है, खास तौर से उन कामों में जिनमें रचनात्मक, असामान्य अनुक्रिया (response) की आवश्यकता हो। कई मनोवैज्ञानिकों ने इस **सकारात्मक अनुभूति** नामक क्षेत्र में काफी काम किया है। इन्हीं में से दो हैं एलिस आइसेन और बारबरा फ्रेड्रिकसन। वे खुशी, कृतज्ञता, मज़ा, रुचि, जिज्ञासा आदि भावनाओं के लाभों का वर्णन करती हैं। आइसेन का कार्य तात्कालिक लाभों जैसे बेहतर रूप से समस्या

समाधान करने या अधिक समाज-अभिमुख आचरण करने को प्रदर्शित करता है। फ्रेड्रिकसन का काम महज़ कुछ पलों तक की सकारात्मक अनुभूति के दीर्घकालिक फायदों से सम्बन्धित है। उनके अपने शब्दों में 'सकारात्मक भावनाएँ न केवल लोगों को तत्काल अच्छा महसूस करवाती हैं, बल्कि उनके असर के कारण सोच-विचार का दायरा और खुलने से वे यह सम्भावना भी बढ़ाती हैं कि लोग भविष्य में भी अच्छा महसूस करेंगे।' वे इस स्थिति की तुलना अवसादपूर्ण मनोभावों के 'अधोमुखी सिलसिले' (downward spiral) से करती हैं, जो संकीर्ण विचारों और आचरणों की ओर ले जाते हैं और व्यक्ति को और ज़्यादा अवसादग्रस्त (depressed) बनाते हैं। फ्रेड्रिकसन का **दायरा बढ़ाओ-और-निर्माण करो** (broaden-and-build) सिद्धान्त यह स्पष्ट करता है कि जब हमारा मिज़ाज (mood) बढ़िया हो, हमें अधिक विचार आते हैं, हम ज़्यादा खोजबीन करते हैं और ज़्यादा मिलनसार होते हैं। इस तरह का विस्तारण लम्बे समय तक काम करने वाले संसाधन निर्मित करता है (बौद्धिक, शारीरिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक) जो भविष्य में भी हमारी मदद करते हैं।²

इससे जुड़ा एक प्रश्न यह भी है कि क्या किसी पाठ में आने वाला मज़ा पाठ की स्मृति को भी बेहतर बनाता है। इसके प्रमाण उतने स्पष्ट नहीं हैं। भावना और याददाश्त के बीच के रिश्ते का अच्छा दस्तावेज़ीकरण मौजूद है, परन्तु इस प्रकार के शोध ने अधिकतर *नकारात्मक* भावनाओं और *प्रासंगिक*

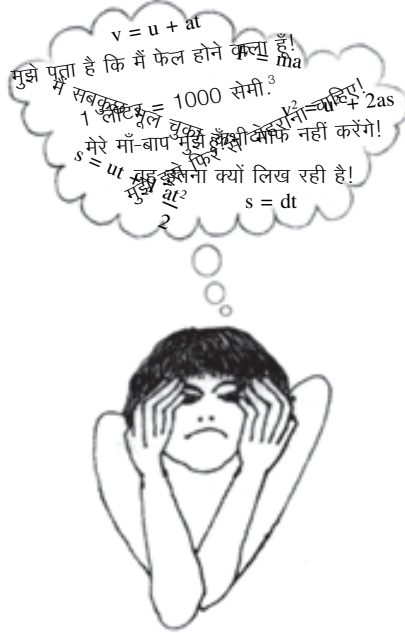
2. खुशी भरी स्थितियों के प्रभाव पर काफी मात्रा में मस्तिष्क-आधारित शोध भी हुए हैं। हल्के सकारात्मक भाव के जवाब में मस्तिष्क के कुछ भाग **डोपामाइन** नामक एक रसायन अधिक मात्रा में निकलते हैं। डोपामाइन मस्तिष्क के कई अन्य स्थानों पर भी असर करता है, जिससे हमें विचारों को नए और उपयोगी तरीकों से जोड़ने में मदद मिलती है। उदाहरण के लिए, सिंग्युलेट कॉर्टेक्स एक ऐसा स्थान है जिसका वर्णन अध्याय एक में किया गया था। मस्तिष्क का यह छोटा-सा हिस्सा 'कार्यकारी ध्यान' (executive attention) के लिए ज़िम्मेदार है। इस स्थान पर डोपामाइन का बढ़ा हुआ स्तर सम्भवतः मस्तिष्क को कई सारे संज्ञानात्मक परिप्रेक्ष्यों की होड़ में से किसी एक को चुनने में, या फिर एक से दूसरे में पलटने में मदद करता है। डोपामाइन पूर्व-अग्रपालीय वल्क्युट (prefrontal cortex), हिप्पोकैम्पस और एमीग्डाला पर भी असर करता है। ये सभी स्मृति के अलग-अलग कामों के लिए ज़िम्मेदार हैं।

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

(व्यक्तिगत, आत्मकथात्मक) स्मृति पर ज़ोर दिया है। हम सब अपने निजी अनुभव से जानते हैं कि तीव्र भावनात्मक घटनाएँ हमें दूसरी घटनाओं की बनिस्बत ज़्यादा लम्बे समय तक और ज़्यादा जीवन्तता के साथ याद रहती हैं। ऐसा मुख्यतः हिप्पोकैम्पस और उसके निकट स्थित एमीग्डाला के कार्यों से होता है, जो मिलकर भावनात्मक उद्दीपकों पर दिए जाने वाले ध्यान के स्तर को बढ़ाते हैं। मस्तिष्क के ये दोनों भाग याददाश्त को पुख्ता करने की प्रक्रिया को भी प्रभावित करते हैं – वे तुलनात्मक रूप से नाजुक शुरुआती यादों को नववल्कुट (neocortex) में ‘जमाते’ हैं (अध्याय एक और तीन में इन में से कुछ प्रक्रियाओं का वर्णन किया गया है)। परन्तु जैसा मैंने कहा, ये निष्कर्ष ज़्यादातर उन उद्दीपकों के लिए थे जो हमारे अन्दर भय, जुगुप्सा या दुश्चिन्ता पैदा करते हों।

तो इस तरह हम सीखने पर नकारात्मक भावनाओं के प्रभाव पर आते हैं। यहाँ हम अकादमिक दुश्चिन्ता को देख सकते हैं, जिसकी मौजूदगी की बात दुनिया भर के विद्यार्थियों में आम बताई गई है। पिछले कई दशकों के दौरान परीक्षाओं से जुड़ी दुश्चिन्ता सम्बन्धी जो शोध हुआ है उसने समान रूप से दर्शाया है कि यह भावना कितनी विनाशकारी हो सकती है – परीक्षा में प्रदर्शन और सामान्य हित, दोनों के ही लिए। परीक्षा सम्बन्धी दुश्चिन्ता कार्यकारी याददाश्त के कीमती संसाधनों को घटाती है। इसके कारण ऐसे जटिल कार्यों के प्रदर्शन को क्षति पहुँचती है जिनके लिए अधिक संसाधनों की आवश्यकता पड़ती है। समस्या मूलतः यह है कि दिमाग में ऐसे विचार घुसपैठ करते हैं जो मौजूदा काम के सन्दर्भ में अप्रासंगिक और अनुत्पादक हों। इन विचारों का दायरा तो सीमित होता है, पर वे परीक्षा प्रश्न-पत्र का उत्तर देने की प्रक्रिया को पूरी तरह गड़बड़ देते हैं। परीक्षा को लेकर चिन्तित विद्यार्थी अपने कमज़ोर प्रदर्शन, दूसरे कैसा कर रहे होंगे के गुन्ताड़े, और उसके खुद के प्रदर्शन का शिक्षक कैसा आकलन करेंगे की फिक्र आदि को लेकर उलझा होता है। इन तमाम संज्ञानात्मक घुसपैठों के कारण, आश्चर्य नहीं कि वह परीक्षा में अच्छा प्रदर्शन नहीं कर पाता।

प्रारम्भिक शोध से पता चला कि परीक्षण सम्बन्धी दुश्चिन्ता की चपेट में आने की सम्भावना कुछ विद्यार्थियों में ज़्यादा होती है। और इससे भी अधिक



महत्वपूर्ण बात – कि परीक्षण-हीन (non-test) स्थितियों में वे बाकी के बेफिक्र विद्यार्थियों के समान ही अच्छा प्रदर्शन करते हैं। इस क्षेत्र में सबसे ज़्यादा काम करने वाले मनोवैज्ञानिक इरविन सारासन हैं। परीक्षण सम्बन्धी दुश्चिन्ता पर सारासन का शोध 1950 के दशक से 1980 के दशक तक चला। अपने एक अध्ययन में उन्होंने विद्यार्थियों में परीक्षण दुश्चिन्ता को कम करने की कोशिश में दो में से एक तरीका अपनाया: आश्वासन ('फिक्र न करो, तुम अच्छा करोगे') और सामने आए काम पर ध्यान केन्द्रित करने की याद दिलाना ('सवालों पर सारा ध्यान दो, मन को

भटकने मत दो')। सारासन ने पाया कि दूसरे की तुलना में पहला तरीका परीक्षण प्रदर्शन को सुधारने में कम मददगार रहा – यानी विद्यार्थियों को ध्यान केन्द्रित करने में मदद करने की तुलना में तसल्ली देना कम कारगर था। अगर हमारी मान्यता यह है कि परीक्षण सम्बन्धी दुश्चिन्ता तनाव-दबाव का मामला नहीं, बल्कि संज्ञानात्मक रुकावट या खलल परिघटना (cognitive distraction phenomenon) है, तो उनके निष्कर्ष सही लगते हैं।

परन्तु दुर्भाग्य से हमारे विद्यार्थियों के जीवन का एक बड़ा हिस्सा तनाव और दबाव का होता है। भारत में विद्यार्थी बहुत छोटी उम्र से ही, घड़ी-घड़ी और नियमित रूप से कक्षा परीक्षणों और दूसरे इम्तहानों का सामना करते हैं। साथ ही उन पर लगभग हमेशा यह दबाव भी रहता है कि वे किन्हीं मनमाने मानकों के अनुरूप प्रदर्शन करें। भारतीय मनोचिकित्सकों ने इस परिघटना का दस्तावेज़ीकरण किया है (जो मुख्यतः एक मध्यम वर्गीय परिघटना है)। उन्होंने गौर किया है कि स्कूल में फेल होने के डर से मानसिक स्वास्थ्य के मुद्दों में, और आत्महत्याओं तक में काफी बढ़ोतरी हुई है। पर मानसिक रूप से स्वस्थ विद्यार्थियों के रोज़मर्रा के अनुभवों पर भी सोच-विचार ज़रूरी है।

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

एक हाल का शोध हमें चण्डीगढ़ के शहरी, मध्यमवर्गीय, आठवीं कक्षा के विद्यार्थियों के दैनिक जीवन और भावनाओं की झलक देता है। इस शोध में एक रोचक तकनीक का उपयोग किया गया है जिसे अनुभव प्रतिदर्श (experience sampling) कहते हैं। सुमन वर्मा, दीपाली शर्मा और रीड लार्सन ने सौ विद्यार्थियों को एक-एक अलार्म घड़ी दी। यह हफ्ते भर तक दिन में कभी भी अनिश्चित बार टनटनाती। जब भी घड़ी बजती, हर विद्यार्थी को कई बातें दर्ज करनी होतीं। इसमें यह शामिल था कि वह कहाँ है, क्या कर रही/रहा है, क्या उसे यह लग रहा है कि काश वह कहीं और होती/होता, और उसे भावनाओं के कुछ आधारों पर कैसा लग रहा है (उदाहरण: खुश-दुखी, प्रफुल्ल-खीझ से भरा, इत्यादि)। इस अध्ययन के परिणाम रोचक हैं। विद्यार्थी अपना लगभग एक तिहाई समय स्कूली काम करते बिताते हैं (जिसमें कक्षा का समय, गृहकार्य, ट्यूशन शामिल थे), तकरीबन एक तिहाई से थोड़ा ज़्यादा समय आराम करते हैं (इसमें टेलीविज़न, संगीत, बातचीत और खेलकूद, ठीक इसी क्रम में शामिल हैं) और एक तिहाई से कुछ कम समय अपने रख-रखाव की (maintenance) गतिविधियों पर (मुख्यतः खाने में) बिताते पाए गए। परन्तु इन तीनों समयों में उनकी भावनात्मक स्थितियों में स्पष्ट अन्तर पाया गया। विद्यार्थियों ने बताया कि स्कूली कार्य सम्बन्धी गतिविधियों में वे स्वयं को कम खुश, कम सुकून में और कम उत्तेजित पाते हैं और ज़्यादा अकेला, निराश और चिन्तित महसूस करते हैं। उदाहरण के लिए, उन्होंने बताया कि 'बेहद ऊब हो रही है, मुझे पढ़ना, पढ़ना और पढ़ना है', 'थका हुआ हूँ, स्कूल में बहुत काम करता रहा था', 'चिढ़ हो रही है, टेस्ट के कारण मुझे जल्दी जगा दिया', और 'चिन्तित हूँ, गणित परीक्षा के लिए मेरी तैयारी नहीं थी।' विद्यार्थियों ने यह भी बताया कि वे अपने काम पर सबसे ज़्यादा ध्यान तब लगा पाते हैं जब वे खुश हों, जब उन्हें लगे कि उन्होंने खुद इस गतिविधि को चुना है, और जब उन्हें कहीं और होने की इच्छा न सताती हो।

शोधकर्ताओं का निष्कर्ष यह था कि गृहकार्य न करने पर सज़ा मिलने का डर स्कूली विद्यार्थियों में तनाव का प्रमुख ज़रिया है, और यह भी कि 'स्कूली शिक्षा को सीखने और सकारात्मक भावनात्मक अनुभवों के बीच एक सन्तुलन बैठाने की आवश्यकता है।'

तनाव!

एक बच्चा लम्बी घास से घिरे एक रास्ते पर चलते हुए स्कूल की ओर जा रहा है। अचानक, बिना किसी चेतावनी के एक बाघ उसके सामने कूदता है। वह गुर्राता और होंठ चटकारता, उसके सामने खड़ा है। लड़का तत्काल जड़ हो जाता है, उसे यह पता तक नहीं चलता कि बिजली की गति से उसका शरीर इस खतरे से जूझने या फिर उससे भागने की तैयारी कर चुका है। खतरे का पता चलते ही, उसी पल एक अन्तःस्त्रावी हार्मोन भारी मात्रा में उसकी खून की नलिकाओं में रिसने लगता है। इसे एड्रेनलिन कहते हैं। इसका असर यह होता है कि उसका खून अधिक ऑक्सीजन वाला बन जाता है और उन मांसपेशियों को उपलब्ध होता है जो इस खतरनाक बाघ से उसकी रक्षा में मदद करेंगी। साथ ही उस पल खून का बहाव पाचन जैसे अनावश्यक तंत्रों से हटाकर दूसरी ओर कर दिया जाता है। मस्तिष्क में चौकस रहने और ध्यान को अधिक केन्द्रित (focused) रखने के तंत्रिकीय-जाल (neural networks) सक्रिय हो जाते हैं।

इसी के साथ बच्चे के शरीर में तुलनात्मक रूप से धीमी एक और प्रतिक्रिया भी शुरू होती है: कोर्टिसॉल नामक एक हॉर्मोन खून की नलिकाओं में प्रवाहित होता है जो वसा और मांसपेशियों के भण्डारों से ऊर्जा को छुड़ाकर उपयोग के लिए उपलब्ध कराता है। यह ऊर्जा पहली प्रतिक्रिया में खप गई अत्यधिक ऊर्जा की जगह लेने के लिए होती है। यों इस दूसरी प्रतिक्रिया को



स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

हम खतरा गुज़र जाने के बाद शरीर को सामान्य होने में मदद करने वाली प्रक्रिया के रूप में देख सकते हैं। इस बीच, खून में कोर्टिसॉल के बढ़े स्तर को मस्तिष्क में वे ग्राही (receptors) भाँप लेते हैं जो कोर्टिसॉल के प्रति खास तौर से संवेदनशील हों – और ये ग्राही हमारे पुराने मित्र, हिप्पोकैम्पस में घनी आबादी में होते हैं। यह महज़ संयोग नहीं है। हिप्पोकैम्पस स्मृतियों को कूट रूप में दर्ज करने के लिए ज़िम्मेदार है। इसलिए अब वह बाघ से सामना होने की इस घटना की सशक्त यादों को दर्ज करने को प्रोत्साहित होता है, ताकि वह बच्चा अगली बार इस रास्ते से बचे। अन्त में, जब खून में कोर्टिसॉल का स्तर एक निश्चित मात्रा तक पहुँच जाता है तो दिमाग इसके उत्पादन को 'बन्द' कर देता है, ठीक एक थर्मोस्टेट (thermostat) की तरह, और तब सब कुछ सामान्य की ओर लौट आता है। तनाव की स्थिति के लिए यह ठेठ मानव प्रतिक्रिया बेहद खूबसूरती से बनाई गई है!

पर, यह बात भी है कि आज केवल कुछ ही विद्यार्थी स्कूल के रास्ते में बाघ का सामना करने वाले होंगे। बल्कि हो सकता है कि इसकी बजाय वह लड़का शायद किसी परीक्षा के लिए जा रहा हो। या शायद, उसने पिछली शाम अपना गृहकार्य पूरा नहीं किया हो और वह फटकार सुनने और सज़ा पाने की ओर बढ़ रहा हो। वैसे तो ये स्थितियाँ जीवन के लिए कोई खतरा पेश नहीं करतीं। पर ये उस बच्चे में तनाव की प्रतिक्रिया जगा सकती हैं। ऐसे में उसके खून में कोर्टिसॉल की मात्रा बढ़ जाएगी और ऐसा आगे जो होने वाला है, उसकी प्रत्याशा में होगा। सच तो यह है कि आज विद्यार्थियों के जीवन ऐसे ही निम्न-स्तरीय दबावों की ज़ुखला से भरे होते हैं। ये खून में बार-बार कोर्टिसॉल की मात्रा में छोटी-छोटी उछाल लाते हैं। इनका कुल प्रभाव यह होता है कि मस्तिष्क अपने 'थर्मोस्टेट' की सेटिंग को बढ़ा देता है, और खून में और-और ज़्यादा मात्रा में कोर्टिसॉल को प्रवाहित होने की अनुमति दे देता है। एक लम्बे समय में कोर्टिसॉल का लगातार बढ़े हुए रहना उच्च-रक्तचाप, नासूर (अल्सर), हृदय रोग और अन्य रोगों की दिशा में ले जाता है।

तनाव शरीर या मस्तिष्क के लिए अच्छा नहीं होता, और न ही अकादमिक उपलब्धि के लिए।⁸ तनाव की स्थितियों से स्मृति को होने वाले लाभ के बारे

में जो बात पहले कही गई थी, उसको लेकर कुछ भ्रम यहाँ पैदा हो सकता है। मैंने कहा था कि कोर्टिसॉल का बढ़ा हुआ स्तर हिप्पोकैम्पस को सशक्त यादें दर्ज करने को उकसाता है। और चूँकि हमारे स्कूलों में याददाश्त को सबसे ज़्यादा महत्व दिया जाता है, तो क्या ऐसे में तनाव वास्तव में बच्चों के लिए 'अच्छा' हो सकता है? नहीं, हज़ार बार नहीं। अव्वल तो इस प्रक्रिया से जो स्मृति सबसे ज़्यादा प्रभावित होती है, वह एक प्रकार की स्थानिक स्मृति (spatial memory) है (सम्भवतः इसलिए क्योंकि खतरा *कहाँ स्थित है* यह जानना बेहद महत्वपूर्ण होता है)। और ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि इससे गणित या इतिहास जैसे स्कूली विषयों की बेहतर याददाश्त में मदद मिलती हो। दूसरे, ऐसा भी कोई सबूत नहीं है कि किसी तनावपूर्ण घटना से पहले महसूस किया जाने वाला तनाव या दबाव याददाश्त को कोई लाभ पहुँचाएगा। कोर्टिसॉल का बढ़ा हुआ स्तर बेहतर याददाश्त की ओर ले जाता है जिससे भविष्य में ऐसी ही परिस्थिति का सामना होने पर आप खतरे से खुद का बचाव कर सकें। परन्तु जहाँ घटना की *प्रत्याशा* ही तनाव का कारण हो, कोर्टिसॉल खास मदद नहीं करता। आप भविष्य को बेहतर याद कैसे रख सकते हैं?! तीसरी और सबसे महत्वपूर्ण बात, विकास करते मस्तिष्क पर किए गए शोध ने हाल में यह दर्शाया है कि दबाव और उसके चलते कोर्टिसॉल का बढ़ा हुआ स्तर दरअसल **हिप्पोकैम्पस की कुछ बेहद महत्वपूर्ण तंत्रिकाओं को नष्ट कर देता है**। इस तरह दीर्घकालिक अर्थ में याददाश्त और सीखने की क्षमता को नुकसान पहुँचता है।

विद्यार्थियों में तनाव व दुश्चिन्ता का स्रोत केवल अकादमिक स्थितियाँ ही नहीं होतीं। उनके लिए सामाजिक दबाव भी उतना ही दर्दनाक होता है,

3. हमें अकादमिक प्रदर्शन पर तनाव के असर और **उत्तेजना** (arousal) के बारे में एक असें से ज्ञात तथ्य के बीच भ्रमित नहीं होना चाहिए। यानी वह मशहूर 'प्रतिलोम यू' (inverted U) सम्बन्ध जिसे मनोविज्ञान के सभी प्रारम्भिक विद्यार्थी सीखते हैं। इसके अनुसार भावनाओं में आई थोड़ी उत्तेजना से उन कामों में प्रदर्शन सुधर जाता है जिनका बहुत बार अभ्यास किया गया हो या जो बहुत अच्छे से सीख लिए गए हों, परन्तु यह जटिल कार्यों में, जो व्यक्ति की क्षमता की सीमाओं पर हों, प्रदर्शन को कम करती है। इसके निहितार्थ स्पष्ट हैं: तनाव का उभार सबसे मामूली बातों की परीक्षाओं में ही प्रदर्शन को सुधार सकता है, बाकी किसी क्षेत्र में नहीं।

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

मसलन अपने साथियों द्वारा नकारा जाना, या अपने माता-पिता के बीच लड़ाई-झगड़ा। ऐसे कई घटक हैं जो एक खुशनुमा, स्वस्थ बचपन को पटरी से उतारने का जोखिम पैदा कर सकते हैं। इन्हें हम नीचे दिए गए वर्गों में बाँट सकते हैं:

- मनो-जैविक और संज्ञानात्मक घटक, जैसे अति-क्रियाशीलता (hyperactivity), लापरवाही, सामाजिक अन्तरक्रिया को समझ पाने में कठिनाई, और साथ ही सीखने में बाधाएँ।
- पारिवारिक परेशानियाँ जिनका सम्बन्ध कठोर अनुशासन या समस्याग्रस्त रिश्तों से हो।
- परिवेशीय घटक, जैसे खतरनाक मुहल्ले और असामाजिक मित्र-मण्डली।
- साथियों के साथ समस्यात्मक सम्बन्ध, जैसे धौंस जमाना या सहना, अस्वीकार करना या किया जाना।
- स्कूली तौर-तरीके या प्रक्रियाएँ, जैसे प्रतिस्पर्धात्मक कक्षा वातावरण, शारीरिक दण्ड, लगातार किया जाने वाला तुलनात्मक मूल्यांकन।



बचपन या किशोरावस्था में दिखाई देने वाली गम्भीर भावनात्मक समस्याएँ अमूमन इनमें से जोखिम के एक से अधिक घटकों के एक साथ होने की वजह से उभरती हैं। आप कल्पना कर सकते हैं कि जिन स्थितियों में जोखिम का केवल एक घटक मौजूद हो, वहाँ दूसरी सकारात्मक प्रक्रियाएँ विद्यार्थी की परेशानियों को दूर करने में उसकी मदद कर सकती हैं। उदाहरण के लिए, वाचन वैकल्य (dyslexia) वाले विद्यार्थी को एक मददगार परिवार और स्कूल उसकी परेशानियों से निपटने में मदद कर सकता है। या कोई बच्ची जिसकी मज़बूत दोस्तियाँ हों और जो स्कूल में अकादमिक माँगों का सामना अच्छी तरह कर रही हो, वह इन सबकी मदद से अपने माता-पिता के तलाक के कठिन दौर से निपट सकती है।

परन्तु जिन बच्चों को जोखिम के कई घटकों का सामना करना पड़ता है, उनके लिए नतीजा स्थाई भावनात्मक या आचरण सम्बन्धी समस्याओं का रूप ले सकता है। बच्चों को अवसाद व दुश्चिन्ता की समस्याएँ हो सकती हैं, साथ ही आचरण सम्बन्धी समस्याएँ भी, जिनके लिए शिक्षक या माता-पिता को पेशेवर की मदद लेनी पड़े। बच्चों के भावनात्मक असन्तुलन के मूल कारण को समझना हमें सबसे अच्छे समाधानों को तलाशने के मौके देता है। साथ ही इससे हम यह अनुमान भी लगा पाते हैं कि क्या-क्या गड़बड़ी हो सकती है और उसकी रोकथाम कैसे की जा सकती है।

गरीब परिवारों से आने वाले विद्यार्थी एक ऐसा समूह हैं जो हमेशा ही कई स्तरों पर जोखिम का सामना करते हैं। मसलन कम आय वाले परिवारों के बच्चों को घर पर उतना संज्ञानात्मक प्रोत्साहन नहीं मिलता जितना मध्यम या उच्च आय वाले परिवारों के बच्चों को मिलता है। यह उनकी संज्ञानात्मक और विकासात्मक वृद्धि को प्रभावित करता है। तुर्की, चीन, वियतनाम, ब्राज़ील, जमायका और दक्षिण अफ्रीका के गरीब परिवारों के बीच किए गए अध्ययनों ने दर्शाया है कि जब माँओं को अपने बच्चों के साथ ज़्यादा प्रभावी रूप से बतियाने और खेलने को प्रशिक्षित किया गया तो बच्चे की मौखिक क्षमता, बुद्धि-लब्धि और स्कूल प्रदर्शन में उल्लेखनीय सुधार देखा गया।

बॉक्स-2

धनवान बच्चे

मनोवैज्ञानिक मीहाय चीकसेंतमीहाय का अमरीकी किशोरों के बारे में एक विचित्र वक्तव्य मैं यहाँ उद्धृत करना चाहूँगी: 'किशोरों की प्रसन्नता की सूचनाएँ... उनके समुदाय की सामाजिक श्रेणी से एकदम उलट सम्बन्ध दर्शाती हैं। सबसे कमज़ोर सामाजिक-आर्थिक तबके के बच्चे अमूमन सबसे ज़्यादा खुशी की सूचना देते हैं, और उच्च और मध्यम वर्ग के बच्चे अमूमन सबसे कम प्रसन्नता के होने की बात कहते हैं।' इसका हम क्या अर्थ निकालें? हम यह बात तो कई बार सुनते हैं कि पैसा हमें खुशी नहीं दे सकता, पर हम उसके उलटे प्रभाव की उम्मीद भी नहीं करते! बेशक, यह भी हो सकता है कि सम्पन्न बच्चे खुद को खुश बच्चों के रूप में प्रस्तुत करने से बचते हों। परन्तु अमरीका में स्थित मनोवैज्ञानिक सुनिया लूथर का काम खास तौर से इन बच्चों में भावनात्मक तनाव के कई स्रोतों की ओर संकेत करता है। इनको मैं संक्षेप में आपके लिए पेश करूँगी। पर उसके पहले हम एक बार फिर यह याद कर लें कि यह शोध पश्चिम में किया गया है, और सम्भव है कि भारतीय सन्दर्भ में इसका उपयोग सीमित हो। व्यक्तिगत स्तर पर मुझे उनके निष्कर्ष भारतीय शहरी मध्यम और उच्च वर्ग के युवक-युवतियों सम्बन्धी मेरे अपने अवलोकनों से काफी मेल खाते लगते हैं।

लूथर ने अमीर किशोरों में दुश्चिन्ता, अवसाद और नशीले पदार्थों के सेवन का स्तर हमेशा ज़्यादा पाया। बदकिस्मती से, ऐसे सम्पन्न परिवार अपने बच्चों में भावनात्मक अशान्ति के छोटे संकेतों को आसानी से नहीं स्वीकारते। हालाँकि जब गड़बड़ी ज़ाहिर और गम्भीर हो जाए तब वे बेहतरीन मानसिक स्वास्थ्य सेवाओं का उपयोग करते हैं। सम्भव है कि इस मानसिकता के पीछे निजता (privacy) के मुद्दे हों, या फिर शायद अमीर लोगों को यह स्वीकारना कठिन लगता हो कि चीज़ें गड़बड़ा सकती हैं, और वे इसके बदले, जैसा लूथर कहती हैं, 'सब कुछ-ठीक-है की आड़ बनाए रखना चाहते हैं।' ऐसा लगता है कि इन बच्चों की भावनात्मक परेशानियों के दो स्रोत हैं – उपलब्धि का दबाव और वयस्कों से कटाव। इन बच्चों से उनके माता-पिता की अपेक्षाएँ बेहद ऊँची होती हैं और अक्सर स्कूल के बाहर की कई गतिविधियों में भी उनका दाखिला करवाया जाता है। यह 'अति-व्यस्तता' (overscheduling) नामक प्रवृत्ति स्कूल में सबसे अच्छा प्रदर्शन करने के दबाव में और भी इजाफा करती है।

भारतीय बच्चों को टेनिस की कक्षा से तबले की कक्षा में कूदते देखना असामान्य नहीं है। पर जो हमारे सन्दर्भ में अनूठा है, वह है ट्यूशन का वीभत्स पागलपन।

मोटा पैसा कमाने वाले इन वर्गों के ज़्यादातर बच्चे अपनी शामें समानान्तर कक्षाओं में बिताते हैं – वह सब दोबारा सीखते हुए जो उन्हें स्कूल में पहले ही सिखाया जाना चाहिए था। इधर उनके माता-पिता अक्सर सफल कैरियरों में ऊँचे पदों पर होते हैं, जो उन्हें इतना व्यस्त रखते हैं कि वे बच्चों के साथ समय नहीं बिता पाते। यह सोचने का लालच तो है ही कि अपने बच्चे के साथ आन्तरिक भावनात्मक जुड़ाव सीधे-सीधे साथ बिताए समय पर निर्भर नहीं होता। परन्तु शोध ने पर्याप्त संकेत दिए हैं कि इस प्रकार का समय नितान्त आवश्यक है।

लूथर को अपने उच्च वर्गीय अमरीकी किशोरों के नमूने (samples) में साथियों के बीच व्यवहार के मानदण्डों (peer norms) की रोचक ज़ुखला भी मिली। उन्होंने पाया कि लड़कों की लोकप्रियता आक्रामक होने और नशीले पदार्थों के उपयोग पर टिकी रहती है जबकि लड़कियों की शारीरिक आकर्षण पर। आश्चर्य नहीं कि ये मानक भावनात्मक और शारीरिक स्वास्थ्य के लिए परेशानी का सबब थे। ये निष्कर्ष भारतीय शहरी कुलीनों पर लागू हो भी सकते हैं और नहीं भी (शायद भारतीय किशोरों को पढ़ाई से फुर्सत ही न मिलती हो), परन्तु भारतीय सन्दर्भों में इन मुद्दों का अध्ययन करना रोचक होगा।

अन्तिम बात, समस्या **प्रसन्नता के भौतिक स्रोतों पर** बहुत ज़्यादा जोर देने की भी हो सकती है। पिछले कई वर्षों से ‘सकारात्मक मनोविज्ञान’ की ओर बढ़ने की एक प्रवृत्ति देखी जा रही है, यानी प्रसन्नता और सन्तुष्टि जैसे घटकों पर ध्यान दिया जाने लगा है। अध्ययन यह बताते हैं कि हालाँकि इन्सान खुशी के बाहरी स्रोतों के पीछे भागते हैं, पर इन स्रोतों के ज़रिए वे उसे हासिल नहीं कर पाते। लूथर कहती हैं, ‘...आज के आर्थिक रूप से सम्पन्न बच्चे... बिरले ही बौद्धिक चुनौतियों या मानवता को योगदान का जीवन के ध्येयों के रूप में नाम लेते हैं।’ वे बताती हैं कि मुख्यधारा का मीडिया लगातार ज़्यादा ताकत, ज़्यादा पैसा, ज़्यादा शारीरिक आकर्षण के मूल्यों को धकेलता है, जो अन्ततः सम्पन्नता में पले बच्चों में तनाव बढ़ाता है। इन तरुणों के भावनात्मक स्वास्थ्य का सामान्य समाज पर व्यापक असर होगा, क्योंकि सम्भावना यही है कि वयस्कों के रूप में ये अपने कार्यक्षेत्रों में प्रभावशाली लोग बनेंगे। अवसाद और दुश्चिन्ता उनकी उत्पादकता को तो कम करेगी ही, पर इससे भी ज़्यादा सूक्ष्म स्तर पर, मनोवैज्ञानिक शोध दर्शाता है कि दुखी लोग परोपकारी या दानी होने की बजाय बटोरने या जमा करने वाले ज़्यादा होते हैं।

अन्य बच्चों की तुलना में गरीब बच्चे रोज़मर्रा की ज़िन्दगी की तनावपूर्ण घटनाओं और दैनिक समस्याओं का सामना भी ज़्यादा करते हैं। इसलिए यह

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

अपेक्षा भी ज़्यादा रहती है कि उन्हें भावनात्मक समस्याएँ भी होंगी। किसी बढ़ते बच्चे के लिए भावनात्मक रूप से अस्वस्थ वातावरण वह है जो उसकी सुरक्षा को खतरा पहुँचाए, हिंसक या प्रताड़ित करने वाला हो, अस्थिर और अनिश्चित हो। और गरीबी ऐसे कई खतरों को बच्चे के जीवन में खींच लाती है। भले ही उनके जीवन पूरी तरह से ध्वस्त या बेकार (disfunctional) न हों, तब भी, शोध यह बताता है कि गरीब बच्चों को उनके जीवन में उपस्थित वयस्कों से ज़्यादा मारपीट मिलती है, और उनके शिक्षक ज़्यादा आदेशात्मक होते हैं और उनसे ऐसे सवाल भी कम पूछते हैं जो उत्तर देने को प्रोत्साहित करें।

यह तो आप आसानी से समझ जाएँगे कि गरीबी में पलने वाले बच्चों को भावनात्मक समस्याओं से जूझना पड़ता है। पर शायद आपको यह जानकर अचरज हो कि सम्पन्न परिवारों के बच्चे भी अपने तरह के भावनात्मक तनाव झेलते हैं। इस शोध का वर्णन बॉक्स-2 में आपको मिलेगा। अगले भाग में हम देखेंगे कि भावनात्मक स्वास्थ्य या भावनात्मक परिपक्वता क्या होती है और अपने विद्यार्थियों में इसे पनपने देने के लिए शिक्षक क्या कर सकते हैं।

भावनात्मक परिपक्वता विकसित करना

भावनात्मकता के दो महत्वपूर्ण पक्ष, जिनका मनोवैज्ञानिक अध्ययन करते हैं, **भावनात्मक उत्तेजना का उभरना** (emotional arousal) और उसे **नियमित करने की क्षमता** (capacity for regulation) हैं। उत्तेजना को भावनात्मक अनुभव की तीव्रता के रूप में परिभाषित किया जा सकता है और नियमन को इस तीव्रता के नियंत्रण और चेहरे और शरीर के हावभाव व अन्य प्रतिक्रियाओं की अवधि के रूप में। ये दो घटक बच्चों में नज़र आने वाले कई महत्वपूर्ण और विविध परिणामों से सम्बन्धित होते हैं, जैसे सामाजिक समन्वय (social adjustment) और अकादमिक प्रदर्शन। यहाँ तक कि इनके मनोचिकित्सकीय (psychopathological) नतीजे भी हो सकते हैं, जैसे अवसाद या एकाग्रता की कमी के साथ अत्यधिक क्रियाशीलता का रोग (Attention Deficit Hyperactivity Disorder)। ज़ाहिर है, दुख और क्रोध जैसी नकारात्मक भावनाओं के मामले में उनका उभार और नियमन, दोनों ही ज़्यादा महत्वपूर्ण

होते हैं। और जिन बच्चों में तेज़ भावनात्मक उत्तेजना की प्रवृत्ति होती है, उनमें नियमन ज़्यादा महत्वपूर्ण होता है।

भावनात्मक उत्तेजना और नियमन को आप कैसे नापेंगे, खासकर बच्चों में? यह प्रश्न बेहद रोचक है क्योंकि एक ओर तो यह उन कठिनाइयों का वर्णन करता है जो मनोवैज्ञानिक मापन में आती हैं। दूसरी ओर यह उन मनोवैज्ञानिकों की मेधा की झलक भी देता है जो ऐसी चीज़ मापने को कृतसंकल्प हैं जिसे मापा ही नहीं जा सके। सबसे आम तरीका है बच्चों से सवाल पूछना और उनके जवाबों को वास्तविक स्थिति के काफी करीब का सन्निकटन (approximation) मान लेना। स्व-प्रतिवेदन विधियाँ (जो उन्हें कहा जाता है) कई अलग-अलग तरह की होती हैं। उदाहरण के लिए पी.ए.एन.ए.एस.सी. (Positive And Negative Affect Scale for Children या बच्चों के लिए सकारात्मक व नकारात्मक अनुभूतियों का पैमाना) दस से चौदह वर्षीय बच्चों को जीवन्त, मायूस, साहसी और उदास जैसे विशेषण देता है और उनसे पूछा जाता है कि पिछले कुछ दिनों या सप्ताहों में उन्हें किस सीमा तक ऐसा महसूस होता रहा है। सी.एस.सी.आर.एस. (Child Self-Control Rating Scale या बाल आत्म-नियंत्रण मूल्यांकन पैमाना) उनसे कहता है कि वे यह बताएँ कि वे किस हद तक अपने वादे निभाते हैं, उत्तेजित होने पर शान्त हो जाते हैं, और जवाब देने के पहले सोचते हैं। एच.आई.एफ. (How I Feel या मैं कैसा महसूस कर रही/रहा हूँ) पैमाना बच्चों से बीते तीन महीनों के बारे में ऐसे कथनों का आकलन करने को कहता है जैसे, मैं अक्सर खुशी महसूस करती थी, मैं अधिकतर समय डरा हुआ था, जब मुझे दुख हुआ तो मेरी भावनाएँ बड़ी ताकतवर थीं, और जब मुझे गुस्सा आया तो मैं खुद को नियंत्रित कर पाया या गुस्से को कम कर पाया। पल-पल की भावनात्मक स्थितियों के लिए ई.एस.एफ. (Experience Sampling Form या अनुभव प्रतिदर्श प्रपत्र) है जिसका वर्णन पहले वर्मा और उनके सहकर्मियों के काम के सिलसिले में किया जा चुका है। ज़ाहिर है कि ऐसे स्व-प्रतिवेदनों के नतीजों का उपयोग सावधानी के साथ किया जाना चाहिए। बल्कि बेहतर तो यह होगा कि उनका उपयोग बच्चों की भावनात्मकता के अन्य मापों के साथ किया जाए। नीचे दिया जा रहा अध्ययन इसका एक सरल-सा उदाहरण है कि यह कैसे किया जा सकता है।

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

नैन्सी आइज़ेनबर्ग (जिनके नैतिक विकास सम्बन्धी काम के बारे में आप अध्याय छह में पढ़ चुके हैं) ने जैफ्री लीव और स्त्री उन्तारी पिडाडा के साथ इंडोनेशिया के बच्चों के समूह की भावनात्मकता का अध्ययन किया था। इन मनोवैज्ञानिकों ने बच्चों की भावना की तीव्रता, नियंत्रण की क्षमता और सामाजिक कामकाज का आकलन करने के लिए शिक्षकों से अपने विद्यार्थियों, माता-पिता से अपने बच्चों, और विद्यार्थियों से एक-दूसरे का मूल्यांकन करने को कहा। माता-पिता और शिक्षकों के लिए कुछ इस तरह के कथन दिए गए थे, 'मेरा बच्चा आसपास की चीज़ों पर बेहद भावनात्मक प्रतिक्रिया करता/करती है', 'इस बच्ची से अगर कहा जाए तो वह कोई नई गतिविधि शुरू करने के पहले रुक सकती है', 'अगर मन न भरा हो तो खेलने से रोकने पर यह बच्ची नाराज़ हो जाती है', 'नए लोगों से मेरा बच्चा शर्माता है', और 'इस बच्चे को अपने से कम भाग्यशाली लोगों पर अक्सर दया आती है।' विद्यार्थियों से कहा गया कि वे अपने सहपाठियों में से ऐसे चार बच्चों के नाम लिखें जिनकी नाराज़ होने की सम्भावना सबसे ज़्यादा है, चार जो उन्हें सबसे अधिक पसन्द आते हैं, और चार जिन्हें वे सबसे कम पसन्द करते हैं। 'शीर्ष चार' स्थानों का सभी साथियों के मूल्यांकन के अनुसार औसत (weighted average) निकालकर प्रत्येक विद्यार्थी के लिए एक अंक निकाला गया। मनोवैज्ञानिकों की जिज्ञासा यह जानने की थी कि क्या किसी अलग संस्कृति में भी भावनाओं की तीव्रता और उनके नियमन का सामाजिक दर्जे और साथियों द्वारा स्वीकृति से सम्बन्ध है क्योंकि पश्चिमी संस्कृतियों के विद्यार्थियों में यह बात कई बार दर्शाई गई थी। उत्तर 'हाँ' था। इंडोनेशिया के बच्चों के समूह के इस नमूने (sample) में भी अनियमित (unregulated) बच्चे सामाजिक रूप से अस्वीकार किए जा रहे थे। क्रोध जैसी नकारात्मक भावना को बार-बार और तीखे रूप में अभिव्यक्त करने पर बच्चों को उनके सहपाठियों ने अस्वीकार किया। दूसरी ओर उनमें दुख या दुश्चिन्ता जैसी नकारात्मक भावनाओं को आत्मसात कर लेने पर शर्मिन्दगी बढ़ी और उनकी अपने साथियों से एक फर्क किस्म की दूरी बन गई।

चूँकि भावनाओं के उभार और नियमन का सार्वभौमिक महत्व है, आप यह जानना चाहेंगे कि इन क्षेत्रों में बच्चों की मदद के लिए कोई वयस्क क्या कर

सकता है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार हम अपने विद्यार्थियों को खास तौर से नकारात्मक भावनाओं के नियमन के बारे में चार बातें बता सकते हैं। ये हैं:

- भावना से प्रत्यक्ष रूप से निपटो, जैसे, मन शान्त करने की तकनीकें अपनाना या दवा लेना।
- किसी ऐसे क्षेत्र में अपनी आधारभूत क्षमता को सुधारो जो सकारात्मक भावनाएँ जगाए।
- जैसा महसूस कर रहे हो उसके स्पष्टीकरणों को आलोचनात्मक रूप से जाँचो।
- अगर कोई परिस्थिति आपकी मानसिक शान्ति पर नाजायज़ माँगें कर रही हो, तो उस परिस्थिति को बदलो।

उपरोक्त विकल्पों में से पहले और दूसरे सीधे-सादे विकल्प हैं, पर विकल्प तीन व चार शैक्षिक दृष्टि से रोचक हैं। पहले हम विकल्प तीन को देखते हैं जो विद्यार्थी से कहता है कि वह अपनी भावना के खुद के स्पष्टीकरण को जाँचे।

अपने व्यक्तित्व और क्षमताओं के बारे में विद्यार्थी की निजी मान्यताएँ उसके भावनात्मक स्थायित्व में योगदान करने वाली एक महत्वपूर्ण घटक हैं। सभी विद्यार्थी अपने स्कूली जीवन में पढ़ाई-लिखाई, खेलकूद, व्यक्तिगत सम्बन्धों और सामाजिक सफलता के क्षेत्रों में असफलता और रुकावटों का अनुभव करते हैं। किसी नकारात्मक अनुभव के समक्ष, जैसे किसी परीक्षा में खराब प्रदर्शन करने, किसी साथी द्वारा नकारे जाने, या किसी शिक्षक द्वारा सज़ा पाने पर – वे उससे उबरते कैसे हैं और दोबारा अपने लक्ष्यों की राह पर चलना शुरू कैसे करते हैं? इसकी कुंजी शायद उस अर्थ में छिपी है जो असफलता या रुकावट को दिया जाता है। जब असफलता मिलती है, तो निहितार्थ यह होता है कि बदलाव की ज़रूरत है, चाहे वह अगली बार ज़्यादा मेहनत करने का हो या अलग तरीका या रणनीति अपनाने का। अगर विद्यार्थी यह मानती है कि ऐसा बदलाव सम्भव है, तो वह बदलाव लाने में अपनी पूरी ऊर्जा लगा देगी और 'फिर से एक कोशिश करेगी।' परन्तु अगर वह यह मान ले कि उसकी क्षमताएँ और/या व्यक्तित्व निश्चित हैं, तो वह सुरक्षात्मक प्रतिक्रिया करेगी। असफलता ने

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

उसे उसकी सीमाओं के बारे में जो 'ज्ञान' दिया है, वह उससे निपटने की कोशिश करेगी। यानी रुकावट को एक ओर बदलाव की चुनौती के रूप में देखा जा सकता है तो दूसरी ओर उसे घोर विपत्ति भी माना जा सकता है जिसमें सारी ऊर्जा खप जाए। यही तय करता है कि विद्यार्थी की प्रतिक्रिया निष्क्रिय, सुरक्षात्मक, या सक्रिय होगी। यही निर्धारित करेगा कि वह अपना समय खुद को साबित करने में लगाएगी, या आतुरता से सीखने की चुनौतियों को तलाशेगी। और इसलिए इसी से उसके स्कूली जीवन की भावनात्मक गुणवत्ता भी तय होती है।

हमें यह देखने में अपने विद्यार्थियों की मदद करनी होगी कि **प्रदर्शन सीखने का साधन है, न कि सीखना प्रदर्शन का साधन।** ज़ाहिर ही है कि शिक्षकों के रूप में हम गलतियों या खराब प्रदर्शन पर क्या प्रतिक्रिया करते हैं, उससे बहुत फर्क पड़ता है। सम्भव है कि हम खुद ही प्रदर्शन को (चाहे वह गृहकार्य, परीक्षाएँ, सौंपे गए काम या प्रस्तुतियाँ हों) अन्तिम ध्येय मानने के दोषी हों। हो सकता है हम ही प्रदर्शन को सुधार करने के अनमोल मार्गदर्शक की बजाय विद्यार्थी के मूल्य का संकेत मानते हों। यहाँ तक तो हमें अचम्भित नहीं होना चाहिए जब हमारे विद्यार्थी भी प्रदर्शन और नाकामयाबी को वही मानें जो हम मानते हैं।

अब हम भावना नियमन सम्बन्धी चौथे सुझाव की ओर मुड़ते हैं – भावनात्मक तनाव पैदा करने वाली परिस्थिति को बदलना। किसी परेशानहाल विद्यार्थी को यह सुझाना बेशक अनुचित लगता है कि वह खुद 'अपनी परिस्थिति को बदले'। परन्तु स्कूल और शिक्षक अपने विद्यार्थियों के लिए जिन वातावरणों को बनाते हैं, उसमें वे बदलाव ला सकते हैं। रॉबर्ट रोएसर नामक मनोवैज्ञानिक ने स्वस्थ शैक्षणिक वातावरणों के विषय में बहुत कुछ लिखा है। वे कक्षाओं और स्कूल स्तर के चार सुधारों को सुझाते हैं: *पाठ्यचर्या, दक्षता, समुदाय और देखभाल*।

- पाठ्यचर्या विविध प्रकार की पृष्ठभूमियों के विद्यार्थियों के लिए माकूल हो, और उसमें सहकार से सीखना और क्रमबद्ध व हासिल हो सकने वाले लक्ष्य शामिल हों।
- शिक्षकों का लक्ष्य यह हो कि प्रत्येक विद्यार्थी गलतियों को सफलता और

असफलता के रूप में देखने की बजाय सीखने के ही हिस्से के रूप में स्वीकार करे और दक्षता के किसी निश्चित स्तर को हासिल करे।

- विद्यार्थियों को स्कूल समुदाय की निर्णय प्रक्रिया में भागीदारी के अवसर मिलें, ताकि वे स्कूल की कद्र करें और उससे 'बँधा हुआ' महसूस करें।
- विद्यार्थियों को एक-दूसरे से और साथ ही वयस्कों से घनिष्ठ सम्बन्ध बनाने के अवसर मिलें। ऐसा सम्भवतः स्कूल में सीखने के छोटे-छोटे समूह बनाकर किया जा सकता है।

पेकन ने भी ठीक ऐसे ही सकारात्मक तरीकों की एक सूची बनाई है जिनकी मदद से स्कूल और शिक्षक विद्यार्थियों के भावनात्मक स्थायित्व में योगदान कर सकते हैं। उन्होंने दक्षता और नियंत्रण के क्षेत्रों पर और विस्तार से काम किया है। हमें अपने विद्यार्थियों को ऐसे काम सौंपने चाहिए जो उनसे कुछ ऊँचे स्तर की माँग करते हों, पर जो फिर भी उनकी क्षमता के दायरे में हों। ये काम केवल संज्ञानात्मक और प्रेरणात्मक कारणों से न सौंपे जाएँ। इनके भावनात्मक लाभ भी होते हैं, जैसे, एक कठिन काम को खत्म करने पर अच्छा महसूस करना। दूसरे शब्दों में खुद को लायक मानना भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना दक्ष होने की इच्छा रखना और दक्ष होना। नियंत्रण का भाव तब पैदा होता है जब स्व-निर्देशित तरीके से काम करने की अनुमति हो, चाहे काम समूह में किया जाए या व्यक्तिगत स्तर पर। व्यक्तिगत स्थिति में विद्यार्थी को यह ज़िम्मेदारी दी जा सकती है कि वह स्वयं यह योजना बनाए कि उसे सामग्री का उपयोग किस प्रकार करना है। वह अपनी गति स्वयं तय कर सकती है और यह सुनिश्चित करती है कि सामग्री पर दखल बनाने के लिए उसे जिस तरह के फीडबैक की दरकार हो वह उसे मिले। सामूहिक परिस्थिति में विद्यार्थियों के समूह को यह निर्णय लेने की साझी ज़िम्मेदारी सौंपी जा सकती है कि वे काम को कैसे बाँटेंगे, किसे कौन-सा काम सौंपा जाएगा और सदस्यों की जवाबदेही कैसे बनेगी।



स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

यहाँ शिक्षक की भूमिका आसपास मौजूद रह कर यह सुनिश्चित करने की होती है कि प्रत्येक विद्यार्थी के लिए सीखने के लक्ष्य हासिल हो पा रहे हैं। परन्तु सामूहिक नियंत्रण स्पष्टतः विद्यार्थियों को सौंपना ज़रूरी है। पेकन कहते हैं कि इस प्रकार का सहकारी सामूहिक काम इसलिए भी कीमती है क्योंकि यह दूसरों की मदद करने और मददगार बनने की हमारी सामाजिक ज़रूरतों को पूरा करता है।

यह अध्याय तब तक अधूरा रहेगा जब तक हम मनोवैज्ञानिक शोध से पैदा हुए एक और परिवर्तनशील घटक का ज़िक्र नहीं करते। इस घटक ने आम लोगों की कल्पना को भावनात्मक उत्तेजना और नियमन से भी ज़्यादा चिंगारी दी है। खुशी और भावनात्मक स्वास्थ्य को अक्सर **आत्म-प्रतिष्ठा** की ऊँची मात्रा से जोड़ा जाता है। इस परिवर्तनशील घटक का इतिहास बेहद रोचक है। जैसा अक्सर पहले भी हो चुका है, इस परिवर्तनशील घटक के साथ भी वही हुआ। लोकप्रिय मनोविज्ञान ने इसकी ऐसी छवि प्रस्तुत की जो आकर्षक और अतिसरल थी; जो शिक्षकों के लिए सरल उत्तर उपलब्ध करवाती और सरल विधियों की दिशा में ले जाती थी: बच्चों को खुद के बारे में अच्छा महसूस करवाओ और वे बेहतर काम करने लगेंगे। इस अध्याय का अन्तिम भाग आत्म-प्रतिष्ठा की कहानी कहता है, और उन प्रश्नों को रखता है जो मनोवैज्ञानिक इसके विषय में उठा रहे हैं। मुझे यह भी जोड़ देना चाहिए कि इस अवधारणा में शहरी भारतीय शैक्षणिक हलकों में दैनंदिन लोकप्रिय बनने की सम्भावना है, इसलिए इसके अर्थ और मूल्य की आलोचनात्मक समझ हमारे लिए भी बहुत आवश्यक है।

आत्म-प्रतिष्ठा

1970 के दशक की शुरुआत से पन्द्रह हज़ार से भी अधिक ऐसे लेख पत्रिकाओं में लिखे जा चुके हैं जो आत्म-प्रतिष्ठा (self esteem) पर या इस विषय में हैं कि कोई व्यक्ति स्वयं अपना मूल्यांकन कैसे करता है। तीन दशकों के दौरान इस विषय पर तैयार की गई ढेर सारी सामग्री में लोकप्रिय मनोविज्ञान का सन्देश यह था कि यह परिवर्तनशील घटक बेहद महत्वपूर्ण है क्योंकि इसके कई सकारात्मक नतीजे मिल सकते हैं, जैसे, भविष्य को लेकर आशावान होना, शराब का उपयोग घटना, आक्रामकता में कमी, काम

में सफलता, शारीरिक स्वास्थ्य और दीर्घायु होना। शिक्षाविदों के लिए दावा यह किया गया था कि ज़्यादा आत्म-प्रतिष्ठा बेहतर स्कूली प्रदर्शन की दिशा में ले जाएगी। स्वाभाविक ही था कि शिक्षकों और माता-पिता को तत्काल सलाह दी गई कि वे आलोचना से बचें और तारीफ करें, तारीफ और ज़्यादा तारीफ... और दसियों हज़ार शिक्षकों ने (मुख्यतः पश्चिम में) इस मशविरे पर गम्भीरता से अमल किया।

आत्म-प्रतिष्ठा के बारे में यह समझना सबसे ज़रूरी है कि इस अवधारणा में **सटीकता की कोई ज़रूरत या माँग नहीं** है। यानी कई सकारात्मक गुणों और उपलब्धियों वाले किसी व्यक्ति की भी आत्म-प्रतिष्ठा कम हो सकती है, जबकि कोई दूसरा खास तौर से कुशल या प्रतिभावान न होते हुए भी ऊँचे दर्जे की आत्म-प्रतिष्ठा वाला हो सकता है। बेशक ऐसे भी लोग हैं जिनकी आत्म-प्रतिष्ठा एक वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन से सचमुच मेल खाती हो। यों देखें तो आत्म-प्रतिष्ठा खुद के बारे में सच्चाई नहीं बल्कि एक बोध होती है। इस आन्दोलन का दावा यह था कि आत्म-प्रतिष्ठा, जो मूलतः एक बोध है, का विद्यार्थियों के प्रदर्शन पर उल्लेखनीय प्रभाव हो सकता है, जो उनकी क्षमताओं और कौशलों की वास्तविकता से बिलकुल अलग हो। और अगर इस आन्दोलन को पन्द्रह हज़ार से ज़्यादा अध्ययनों का समर्थन मिला तो उसे सही भी होना चाहिए, है ना?

गलत! सच यह था कि इन तमाम वर्षों में कई अध्ययन आत्म-प्रतिष्ठा और परिणामों के बीच कोई भी सशक्त सम्बन्ध दर्शाने में नाकामयाब रहे थे। ये नकारात्मक निष्कर्ष मनोवैज्ञानिकों और जन-सामान्य के उत्साह तले दब गए। ये लोग पूरी शिद्दत से यह मानते थे कि आत्म-प्रतिष्ठा विश्वभर के लोगों में लाभदायक व्यवहार लाएगी और यों एक बेहतर समाज की ओर ले जाएगी। आत्म-प्रतिष्ठा आन्दोलन के अग्रणी नेताओं में से एक थे मनोवैज्ञानिक रॉय बाउमीस्टर। इस विषय पर किसी भी अन्य व्यक्ति से ज़्यादा पढ़े इन्हीं के प्रकाशित हुए थे। 2003 में उन्हें कहा गया कि वे इस विषय क्षेत्र का एक वस्तुनिष्ठ सर्वेक्षण करें। वे और उनके सहकर्मी पूरी नेकनीयत से काम में जुट गए। परन्तु वे यह देखकर हताशा से घिर गए कि सर्वेक्षण के पन्द्रह हज़ार दस्तावेज़ों में से बड़ी संख्या में वैज्ञानिक त्रुटि थी। बचे हुए सही

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

दस्तावेजों से यह सन्देश मिल रहा था कि आत्म-प्रतिष्ठा दरअसल उपलब्धि को या अन्य कई परिणामों में किसी को भी नहीं बढ़ाती है। कहा जाता है कि बाउमीस्टर ने इसे अपने कैरियर की सबसे बड़ी निराशा माना। वे अब इस विषय पर शोध कर रहे हैं कि कैसे आत्म-प्रतिष्ठा को तूल देना *कमतर* प्रदर्शन और यहाँ तक कि कुछ परिस्थितियों में नाकामयाबी की दिशा में ले जा सकता है। इस भ्रम का एक कारण यह था कि आत्म-प्रतिष्ठा पर किए गए अधिकांश अध्ययन **सह-सम्बन्धी** (co-relational) थे और इस प्रकार प्राप्त आँकड़ों से **कार्य-कारण सम्बन्ध** (causation) का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। अर्थात्, सम्भव है कि स्कूल या नौकरी में अच्छे प्रदर्शन का नतीजा उच्च आत्म-प्रतिष्ठा हो, या शायद कोई तीसरा ही परिवर्तनशील घटक हो, जैसे सामाजिक वर्ग, जो आत्म-प्रतिष्ठा और प्रदर्शन दोनों का साझा कारणात्मक (causal) घटक हो। भ्रम का एक दूसरा स्रोत यह भी हो सकता है कि अधिकांश शोध आत्म-प्रतिष्ठा और कामयाबी दोनों के स्व-प्रतिवेदनों (self reports) पर आधारित थे। इनमें से पहला, यानी आत्म-प्रतिष्ठा के लिए उसकी परिभाषा की वजह से ही स्व-प्रतिवेदन ज़रूरी होता है। परन्तु दूसरे के लिए, यानी कामयाबी के लिए, ज़्यादा वस्तुनिष्ठ माप की ज़रूरत होती है। वर्ना नतीजों का हमारा माप उस दिशा में पूर्वाग्रहग्रसित होगा जिस ओर व्यक्ति की आत्म-प्रतिष्ठा झुकी हो! दूसरे शब्दों में, उच्च आत्म-प्रतिष्ठा वाले लोग अक्सर अपनी उपलब्धियों को कुछ बढ़ा-चढ़ाकर ही देखते हैं, और स्वाभाविक ही है कि इससे आँकड़ें गड़बड़ा जाते हैं।

यहाँ मैं बाउमीस्टर को उद्धृत करने का लालच नहीं रोक पा रही हूँ:

अतः मुझे काफी व्यक्तिगत निराशा के साथ यह प्रस्तुत करना पड़ रहा है कि आत्म-प्रतिष्ठा आन्दोलन के उत्साही दावे कल्पना से लेकर अनर्गल बकवास के बीच रखे जा सकते हैं। आत्म-प्रतिष्ठा के प्रभाव छोटे हैं, सीमित हैं, और सभी अच्छे भी नहीं हैं। बेशक, यहाँ-वहाँ कुछ लोग इसलिए भी खराब स्थिति में होते हैं क्योंकि उनकी आत्म-प्रतिष्ठा बेहद कम थी। पर कुछ दूसरे लोग इसलिए भी खराब स्थिति में पहुँचते हैं क्योंकि उनकी आत्म-प्रतिष्ठा बेहद ऊँची थी। और अधिकतर समय आत्म-प्रतिष्ठा से कोई खास फर्क भी नहीं पड़ता...। उदाहरण के लिए, मुझे लगता है कि दुनिया एक बेहतर जगह होती

अगर हम एक-दूसरे से कुछ बेहतर बर्ताव कर पाते। परन्तु ऐसा करना कठिन है: हम सबको बदलाव के लिए खुद को अनुशासित करना पड़ेगा। इसके विपरीत आत्म-प्रतिष्ठा का रास्ता, अपने क्रियाकलापों को बदलने के कठिन काम के बदले, हमें यह सोचने देता है कि हम दरअसल हैं ही अच्छे। इस तरह से दुनिया बेहतर नहीं बन सकती।

आप कह सकते हैं कि आज आत्म-प्रतिष्ठा का बुलबुला फूट चुका है। शोध बताते हैं कि जैसे-जैसे आत्म-प्रतिष्ठा आन्दोलन और अमरीका में लोगों के आत्म-प्रतिष्ठा का स्तर बढ़ा है, उसके साथ ही अवसाद, दुश्चिन्ता और आत्महत्या की घटनाएँ भी बढ़ी हैं। बेशक यहाँ कोई कार्य-कारण जुड़ाव नहीं बनाए जा सकते हैं, परन्तु यह सह-सम्बन्ध चौंकाने वाला है और आपको इस ओर ध्यान देने पर मजबूर करता है। आत्मविश्वास को बढ़ाने में महत्वपूर्ण भावनात्मक मुद्दे जुड़े हैं, और हमें इन्हें सावधानी से कुरेदकर निकालना होगा। आत्म-प्रतिष्ठा के विभिन्न पक्षों पर ज़्यादा वस्तुनिष्ठता से ध्यान देने से मनोवैज्ञानिक को इसकी कई मुख्य समस्याओं को पहचानने में मदद मिली है। ये नीचे संक्षेप में प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

- आत्म-प्रतिष्ठा आन्दोलन विद्यार्थियों को 'स्वयं के बारे में अच्छा महसूस करवाने' पर ज़ोर देता है। पर, उन वास्तविक कौशलों और दक्षताओं पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जाता जिन पर वे अपने आत्म-प्रतिष्ठा को आधारित कर सकें।
- अपने आप में उच्च आत्म-प्रतिष्ठा और **आत्म-प्रतिष्ठा की तलाश** के बीच फर्क करना होगा। विद्यार्थी की आत्म-प्रतिष्ठा को बढ़ावा देना उसकी दुश्चिन्ता को अस्थायी रूप से कम करता है। परन्तु जब विद्यार्थी अपनी आत्म-प्रतिष्ठा की सुरक्षा करने, उसे कायम रखने और उसे और बढ़ाने का बीड़ा उठा ले, तो यह



स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

दुश्चिन्ता को बढ़ाता है। यह इन्सानों के विषय में एक सामान्य स्वयंसिद्ध बात है; हम सब अपनी मानसिक शान्ति की कीमत पर आत्म-प्रतिष्ठा का पीछा करते हैं!

- हालाँकि आत्म-प्रतिष्ठा की सफल तलाश दुश्चिन्ता को और अन्य नकारात्मक भावनाओं को घटाती है, परन्तु कई कक्षाओं में आत्म-प्रतिष्ठा एक ऐसा विरल संसाधन भी बन सकती है जो केवल दूसरों की कीमत पर ही हासिल की जा सके। अतः आत्म-प्रतिष्ठा की असफल तलाश कई विद्यार्थियों को उदासी, क्रोध और शर्म की दिशा में ले जाती है।
- चूँकि नाकामयाबी से आत्म-प्रतिष्ठा कम होती है, इसलिए जिन विद्यार्थियों की आत्म-प्रतिष्ठा अकादमिक प्रदर्शन के भरोसे टिकी हो, वे सफल होने का भारी दबाव महसूस करते हैं। और यह दबाव सीखने की आन्तरिक प्रेरणा को कम करता है।
- अगर आत्म-प्रतिष्ठा विद्यार्थी का लक्ष्य बन जाए तो वह नकारात्मक घटनाओं का अति-सामान्यीकरण करके अपने समूचे वजूद को इससे ढक जाने देगा। यह उसे अवसाद की दिशा में ले जा सकता है।

मनोवैज्ञानिक जेनिफर क्रॉकर ने एक पारिभाषिक जुमला ईजाद किया था 'आत्म-प्रतिष्ठा की महँगी तलाश।' आत्म-प्रतिष्ठा के बारे में मौजूद तमाम निन्दनीय बिन्दुओं में से इसकी छानबीन करना सम्भवतः सबसे ज़्यादा रोचक होगा। क्रॉकर और उनके सहकर्मियों ने समूचे आत्म-प्रतिष्ठा आन्दोलन की एक गहन और सूक्ष्म समझ में भारी योगदान दिया है। ऐसा उन्होंने इस बात पर ध्यान केन्द्रित करके किया कि अगर आत्म-प्रतिष्ठा जीवन का ध्येय हो तो उसके क्या प्रभाव होंगे। क्रॉकर कहती हैं कि आत्म-प्रतिष्ठा या आत्म-मूल्य व्यक्तिगत हित की अनिवार्य ज़रूरत नहीं है, जबकि दक्षता, जुड़ाव और स्वायत्तता ऐसी ज़रूरतें हैं। इसके बावजूद आत्म-प्रतिष्ठा अक्सर कई लोगों के लिए जीवन का ध्येय बन जाती है, और यह अनचाहे और अवांछनीय परिणामों की दिशा में ले जा सकती है। उदाहरण के लिए, लगता है कि ऐसे लक्ष्य का इस पर असर पड़ेगा कि दूसरों के साथ हमारे सम्बन्धों की गुणवत्ता क्या है और ये सम्बन्ध परस्पर सहयोगी बन सकते हैं या नहीं। शोध ने दर्शाया है कि जिन लोगों का लक्ष्य आत्म-प्रतिष्ठा होता है उनमें खुद पर आँच

आने पर दूसरों को दोषी ठहराने की प्रवृत्ति होती है। दूसरों पर दोषारोपण आत्म-प्रतिष्ठा की रक्षा तो करता है, पर आपसी रिश्तों के लिए यह अच्छा नहीं होता। एक और निष्कर्ष यह सुझाता है कि जिन लोगों की आत्म-प्रतिष्ठा पहले से ही ऊँची हो, वे इसका पीछा प्रभुत्व और दक्षता के ज़रिए करते हैं जबकि निम्न आत्म-प्रतिष्ठा वाले इसका पीछा दूसरों द्वारा स्वीकारे जाने के माध्यम से करते हैं।

सम्भव है कि ये सभी बिन्दु आपको अध्याय आठ में प्रशंसा वाले भाग की याद दिलाएँ। बेशक इन दोनों विचारों में घनिष्ठ जुड़ाव है, और यहीं से शिक्षक की भूमिका भी शुरू होती है। जब वयस्क किसी विद्यार्थी के काम की बजाय उसके व्यक्तित्व और क्षमता की प्रशंसा करता है (यह जताते हुए कि ये दोनों ही स्थिर या स्थाई हैं) तो वह स्वयं से पूछने लगती है: क्या मैं चतुर हूँ? मैं विजेता हूँ या हारने वाली? इसकी बजाय अगर विद्यार्थियों को (बाउमीस्टर के शब्दों में) 'अपनी वास्तविक प्रतिभाओं और उपलब्धियों की एक संयत, सटीक कद्रदानी मिले' तो वे स्वयं से पूछ सकती हैं: मैं क्या बनना चाहती हूँ? मैं क्या सीखना चाहती हूँ? अपने कौन से पक्ष को मैं विकसित करना चाहती हूँ? यह चर्चा भी चन्द पन्नों पहले की उस चर्चा के समान है कि विद्यार्थी असफलता या रुकावट पर किस प्रकार की प्रतिक्रिया करते हैं। वहाँ भी हमने देखा था कि कुछ मान्यताएँ विद्यार्थियों को अपने प्रदर्शन को स्थाई क्षमता पर मिला फीडबैक मानने की ओर ले जाती हैं। वे अपने प्रदर्शन को अगली बार सुधार लाने के संकेतों वाले फीडबैक के रूप में नहीं देख पाते। आत्म-प्रतिष्ठा से इसका सम्बन्ध भी ज़ाहिर-सी बात है।

निष्कर्ष

इस अध्याय में मूल मुद्दा विद्यार्थियों का भावनात्मक स्वास्थ्य और परिपक्वता रहा है। हमने कई तरह की अवधारणाओं को देखा, जैसे, प्रवाह और आनन्द, दुश्चिन्ता और तनाव, भावनात्मक नियमन और आत्म-प्रतिष्ठा। एक और 'एहसास' है, अगर हम उसे यह कहें तो, जिसकी चर्चा मनोवैज्ञानिक साहित्य में पहली बार हाल ही में उभरी है। वह है **सन्तुष्टि**। आन्तरिक सन्तुष्टि का विचार, प्रसन्नता या खुशी के बारे में हम जिस तरह सोचने के आदी हैं, उससे एक बारीक फर्क लिए है। बौद्ध धर्म जैसी प्राचीन आध्यात्मिक

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

और दार्शनिक परम्पराएँ कहती हैं कि सन्तुष्टि स्व (self) की अपनी धारणा को मज़बूत बनाने से नहीं आती। विरोधाभास शायद यह है कि स्व की सशक्त अवधारणा दरअसल कमज़ोर होती है, क्योंकि वह हमेशा खतरे में रहती है, उसे लगातार सुरक्षा की दरकार है, और इसलिए वह हमेशा बाहरी परिस्थितियों के रहम पर निर्भर होती है। कुछ मनोवैज्ञानिक, जिनमें रोएसर भी शामिल हैं, इन दार्शनिक विचारों को सफलतापूर्वक मनोवैज्ञानिक शोध की मुख्यधारा में ला रहे हैं।

क्रॉकर, डेसी व कई अन्य मनोवैज्ञानिक मानते हैं कि भावनात्मक तन्दुरुस्ती के स्रोत तीन मुख्य क्षेत्रों में बसे होते हैं: दक्षता, जुड़ाव और स्वायत्तता। रोचक यह है कि ये तीनों खुद भी स्व के सशक्त भाव पर टिके होते हैं – स्व जो इस या उस में अच्छा हो, जिसका दूसरों से जुड़ाव हो, और जिसका अपने जीवन पर नियंत्रण हो। क्या यह बात ‘वास्तविक’ सन्तुष्टि के उस विचार के विरुद्ध है जिसका वर्णन दार्शनिक शताब्दियों से करते रहे हैं? क्रॉकर के अनुसार मामला शायद ऐसा ही है। वे कहती हैं, ‘...ऐसे लक्ष्य (दक्षता, जुड़ाव या स्वायत्तता पाने के) ध्यान को स्व से परे नहीं हटाते, बल्कि स्व के लिए कुछ पाने पर केन्द्रित होते हैं। और इसलिए लोगों को अपने भय और दुश्चिन्ताओं के बावजूद आगे बढ़ने को प्रेरित करने की बजाय वे भय और दुश्चिन्ताओं को जगा सकते हैं।’

इस गहरे स्वार्थ का भावनात्मक नतीजा तब ज़ाहिर होता है जब हम खुद को और अपने विद्यार्थियों को करीब से देखते हैं। एक बार फिर क्रॉकर के शब्दों में, ‘...लोग, उन्हें क्या बनना है या महत्व और मूल्य पाने के लिए क्या करना है से जुड़ी अपनी मान्यताओं को सन्तुष्टि करने की कोशिश के ज़रिए आत्म-प्रतिष्ठा का अनुसरण करते हैं; लोग कामयाब हों तो इस तलाश के अस्थाई भावनात्मक फायदे होते हैं, पर असफल होने पर इसकी उन्हें भारी कीमत चुकानी पड़ती है।’ क्रॉकर और उनके सहकर्मियों ने जो विकल्प रखा है वह अधिक समावेशी लक्ष्य अपनाने का है। ऐसे लक्ष्य जो अपनी ज़रूरतों के साथ दूसरों की आवश्यकताओं को भी शामिल करें। यह विचार मौजूदा शैक्षणिक तौर-तरीकों के ठीक उलट है जो व्यक्तिगत लाभ पर ही सबसे ज़्यादा बल देते हैं।

दार्शनिक और शिक्षाविद् स्वर्गीय जे. कृष्णमूर्ति ने अपनी रचना *कमेंटरीज ऑन लिविंग* (प्रथम जूखला) में लिखा था:

खुद के बारे में आपका कोई अनुमान होगा, है ना?

हम खुद को विभिन्न स्तरों पर रखते हैं, और लगातार उन ऊँचाइयों से गिरते हैं। इस गिरने से ही हमें शर्म आती है। स्वाभिमान ही हमारी शर्म का, हमारे गिरने का कारण है। हमें इस आत्म-प्रतिष्ठा को समझना होगा, गिरने को नहीं। अगर आपने खुद को किसी ऊँचाई पर बैठाया ही न हो, तो फिर गिर कैसे सकेंगे? ...आपने खुद को स्वाभिमान, मानवीय प्रतिष्ठा, आदर्श आदि-इत्यादि नामक पीठिका पर बैठाया ही क्यों है? अगर आप यह समझ लें तो अपने अतीत पर आपको कोई शर्म नहीं आएगी; वह पूरी तरह जा चुकी होगी। आप वही होंगे जो आप बिना उस पीठिका के हैं। अगर पीठिका न हो, वह ऊँचाई न हो जो आपको नीचे या ऊँचे देखने पर बाध्य करती है, तो आप वह हैं जिससे आप हमेशा बचते आए थे। जो दरअसल है, जो आप हैं, उससे बचना ही भ्रम और प्रतिरोध, शर्म और विद्वेष पैदा करता है। आपको मुझे या किसी दूसरे को यह बताने की ज़रूरत नहीं है कि आप क्या हैं, पर जो आप हैं उसके प्रति सचेत रहें। वह जो कुछ है, प्रिय या अप्रिय, उसका औचित्य प्रस्तुत किए बिना या उसका विरोध किए बिना उसके साथ जिएँ।

हम जो कुछ भी करते हैं उसके मूल में यह पूर्वानुमान दबा होता है कि हम में से प्रत्येक एक पृथक, स्थाई और वास्तविक स्व है। यह मान्यता इतनी स्वाभाविक है कि इस पर प्रश्न उठाने को अमूर्त दर्शन का विषय माना जाता है, जिसे कक्षा में किसी शिक्षक और विद्यार्थी के बीच वार्तालाप में निश्चित ही जगह नहीं दी जा सकती। इसके बावजूद, हाल के वर्षों में मनोवैज्ञानिक स्व की वास्तविकता पर सवाल उठाने लगे हैं। मस्तिष्क और जीव विज्ञान की दृष्टि से शरीर में ऐसा कोई निश्चित स्थान नहीं है जहाँ स्व बसता हो। मौजूदा सिद्धान्त अक्सर स्व को एक भ्रम मानते हैं जो पल-पल चलने वाली तंत्रिकीय प्रक्रियाओं से गढ़ा जाता है।

भावनात्मक स्वास्थ्य के लिए इन नई खोजों के सम्भावित निहितार्थों के बारे

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

में और जानना बेहद रोचक होगा। इस अध्याय के अन्त में दिए गए सन्दर्भों में मैंने इस क्षेत्र के कई स्रोतों को शामिल किया है। और भी बेहतर हो कि हम इन प्रायोगिक विचारों को अपने विद्यार्थियों के साथ खुली चर्चा में साझा करें, खासकर बड़े विद्यार्थियों के साथ। किशोरावस्था ऐसे समय के रूप में मशहूर है जिसमें किशोर-किशोरियाँ अपनी 'अस्मिता' या 'पहचान' को स्थापित करने की कोशिश करते हैं। यह वह समय भी हो ही सकता है जब वे इस दिलचस्प सुझाव से भी जूझें कि असली भावनात्मक सुरक्षा कोई पहचान न होने से ही आती है! किताब का अन्तिम अध्याय किशोरों और उन चुनौतियों के बारे में है जो वे प्रस्तुत करते हैं। इन चुनौतियों में एक, जो किसी भी स्तर में कोई छोटी चुनौती नहीं है, यह है कि उनके जीवन में उपस्थित वयस्कों के रूप में हमें उनसे इन्सानी वजूद के बारे में सबसे गहरे और बुनियादी प्रश्नों पर बातचीत करने के इस रोमांचक अवसर को स्वीकारना चाहिए।

सन्दर्भ और पुस्तक सूची

1. एशबी, एफ.जी., ए.एम. आइसेन, और ए.यू. तुर्केन, 1999। 'अ न्यूरोसाइकोलॉजिकल थियरी ऑफ पॉज़िटिव अफेक्ट एंड इट्स इंप्लुएंस ऑन कॉग्निशन।' *साइकोलॉजिकल रिव्यू*, खण्ड-106, संख्या-3, 529-50
2. बुकानेन, टी.डब्ल्यू., 2007। 'रिट्रीवल ऑफ इमोशनल मेमरीज़।' *साइकोलॉजिकल बुलेटिन*, खण्ड-133, संख्या-5, 761-79
3. चीकसेंतमीहाय, एम. (1999)। 'इफ वी आर सो रिच, व्हाय आरंट वी हैप्पी?' *अमेरिकन साइकॉलजिस्ट*, खण्ड-54, संख्या-10, 821-827
4. आइज़ेनबर्ग, एन., जे. लिउ, और एस.यू. पिडाडा, 2004। 'द लॉन्गिट्यूडिनल रिलेशंस ऑफ रेग्युलेशन एंड इमोशनैलिटी टू क्वालिटी ऑफ इंडोनेशियन चिल्ड्रेंस सोशोइमोशनल फंक्शनिंग।' *डेवलपमेंटल साइकॉलजी*, खण्ड-40, संख्या-5, 790-804
5. फार्मर, टी. डब्ल्यू., और ई.एम.ज़ेड. फार्मर, 2001। 'डेवलपमेंटल साइंस, सिस्टम्स ऑफ केयर एंड प्रिवेंशन ऑफ इमोशनल एंड बिहेवियरल प्रॉब्लम्स इन यूथ।' *अमेरिकन जर्नल ऑफ ऑर्थोसाइकिएट्री*, खण्ड-71, संख्या-2, 171-81

6. इम्मॉरदीनो-यांग, एम.एच., और ए. डमासियो, 2007। 'वी फील, देयरफोर वी लर्न: द रेलेवेंस ऑफ अफेक्टिव एंड सोशल न्यूरोसाइंस टू एज्युकेशन।' *माइंड, ब्रेन एंड एज्युकेशन*, खण्ड-1, संख्या-1, 3-10
7. कृष्णमूर्ति, जे., 1956। *कमेंटरीज ऑन लिविंग: फर्स्ट सिरीज़*, कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया, मद्रास।
8. लूथर, एस.एस., और एल.जे. लैटेनड्रेसे, 2005। 'चिल्ड्रन ऑफ द एफ्ल्यूएंट: चैलेंजेज़ टू वेल्-बीइंग', *अमेरिकन साइकोलॉजिकल सोसाइटी*, खण्ड-14, संख्या-1, 49-53
9. लूथर, एस.एस., 2006। 'ओवर-शिड्यूलिंग वर्सेस अदर स्ट्रेसर्स: चैलेंजेज़ ऑफ हाई सोशोइकोनॉमिक स्टेटस फैमिलीज़।' *सोशल पॉलिसी रिपोर्ट*, खण्ड-XX, संख्या-IV, 16-17
10. मीयर, डी.के., और जे.सी. टर्नर, 2002। 'डिस्कवरींग इमोशन इन क्लासरूम मोटिवेशन रिसर्च', *एज्युकेशनल साइकोलॉजिस्ट*, 37(2), 107-14
11. मोल्डेन, डी.सी., और सी.एस. ड्वेक, 2006। 'फाइंडिंग 'मीनिंग' इन साइकोलॉजी: अ ले थियोरीज़ अप्रोच टू सेल्फ रेग्युलेशन, सोशल परसेप्शन एंड सोशल डेवलपमेंट', *अमेरिकन साइकोलॉजिस्ट*, खण्ड-61, संख्या-3, 192-203
12. नेल्सन, सी.ए., और एल.जे. कार्वर, 1998। 'द इफेक्ट्स ऑफ स्ट्रेस एंड ट्रॉमा ऑन ब्रेन एंड मेमरी।' *डेवलपमेंट एंड साइकोपैथॉलजी*, 10, 793-809
13. फैल्स, ई.ए., 2004। 'ह्यूमन इमोशन एंड मेमरी: इंटरेक्शंस ऑफ द एमिग्डला एंड हिप्पोकैम्पल कॉम्प्लेक्स।' *करेंट ओपिनियन इन न्यूरोबायोलॉजी*, 14, 198-202
14. रोएसर, आर.डब्ल्यू., जे.एस. एक्कलेस, और ए.जे. सैमेरॉफ, 1998। 'अकैडमिक एंड इमोशनल फंक्शनिंग इन अर्ली अडोलेसेंस।' *डेवलपमेंट एंड साइकोपैथॉलजी*, 10, 321-52
15. रोएसर, आर.डब्ल्यू., सी. मिजले, और टी.सी. अर्बन, 1996। 'परसेप्शंस ऑफ द स्कूल साइकोलॉजिकल एंवायरमेंट एंड अर्ली अडोलेसेंट्स साइकोलॉजिकल एंड बिहेवियरल फंक्शनिंग इन स्कूल: द मीडिएटिंग रोल ऑफ गोल्स एंड बिलौगिंग।' *जर्नल ऑफ एज्युकेशनल साइकोलॉजी*, खण्ड-88, संख्या-3, 408-22
16. वॉल्डेन, टी.ए., वी.एस. हैरिस, और टी.एफ. कैट्रॉन, 2003। 'हाउ आई फील: अ सेल्फ रिपोर्ट मैज़र ऑफ इमोशनल अराउज़ल एंड रेग्युलेशन फॉर चिल्ड्रन।' *साइकोलॉजिकल असैसमेंट*, खण्ड-15, संख्या-3, 399-412

अध्याय-11

किशोरावस्था, एक जैव-मनो-सामाजिक परिवर्तन



दुनिया के कई समाजों में यौनिक परिपक्वता हासिल करने और एक 'वयस्क' बनने के बीच कई सालों का फासला होता है। इस फासले का मुख्य कारण यह प्रतीत होता है कि वास्तव में आत्मनिर्भर होने के लिए पहले किशोरों को कई जटिल कौशलों में महारत हासिल कर लेनी होती है। औद्योगिक समाजों में यह तब तक पूरा नहीं हो जाता जब तक वे अठारह साल के या उससे भी बड़े न हो जाएँ। इस अवधि को किशोरावस्था कहा जाता है। मनोवैज्ञानिक इस पर एकमत नहीं हैं कि यह एक सामाजिक संरचना (social construct) है या विकास का एक वास्तविक चरण। कुछ का मानना है कि यह **औद्योगिकृत समाज का एक शिल्प-तथ्य**

(artefact) है, परन्तु अन्यों का मानना है कि किसी भी समाज में बचपन और वयस्क अवस्था के बीच समायोजन (adjustment) की एक अवधि अवश्य होती है। नई सामाजिक भूमिकाओं के साथ तालमेल बिठाना शरीर में हो रहे जैविक बदलावों के कारण और जटिल बन जाता है, और यह कल्पना करना हमारा भोलापन ही होगा कि कोई तरुण बिना तनावों के आसानी से इन चुनौतियों से गुजर सकता है। इस नज़रिए से किशोरावस्था और उसकी तमाम विशेषताएँ एक तुलनात्मक रूप से **सार्वभौमिक परिघटना** हैं।

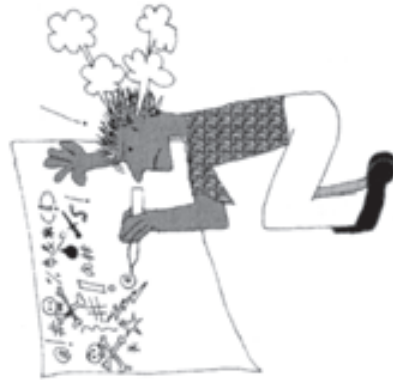
पश्चिम की मनोविज्ञान की पाठ्यपुस्तकें पढ़ने वाले भारतीय विद्यार्थी अक्सर यह टिप्पणी करते हैं कि इन किताबों में दिए किशोरावस्था के वर्णन से वे बहुत कम जुड़ाव महसूस कर पाते हैं। ऐसा शायद, जिस प्रकार अध्याय लिखे गए हैं, उसके कारण होता है – इन अध्यायों के पाठक मुख्यतः पश्चिम के होते हैं और वे भारतीय सन्दर्भों के लिए नहीं लिखे गए होते। किशोरावस्था पर अच्छे स्तर के पर्याप्त मनोवैज्ञानिक शोध हैं जो हम पर भी लागू किए जा सकते हैं। बेशक, आदर्श तो यही है कि हमें भारतीय किशोरों पर अपना शोध करना चाहिए। परन्तु भारतीय सन्दर्भ में किशोरावस्था पर सिद्धान्त गढ़ने के लिए हमें व्यापक और पर्याप्त शोध आधार की ज़रूरत होगी, जिस स्थिति से फिलहाल हम काफी दूर हैं। अतः इस अध्याय में मैं मुख्यधारा के मनोविज्ञान की झलक आपके समक्ष प्रस्तुत करूँगी, जिसमें से हमारे लिए कुछ उपयोगी और रोचक सबक भी उभरेंगे।

मनोवैज्ञानिक शोध न सिर्फ किशोरावस्था की पश्चिमी अवधारणा के प्रति पूर्वाग्रहयुक्त है बल्कि वह इस विकासात्मक चरण की नकारात्मक अवधारणा की दिशा में भी पूर्वाग्रहयुक्त है। 1950 के दशक से ही मनोवैज्ञानिकों ने किशोरों में वयस्कों के साथ टकराव, आपराधिक प्रवृत्तियाँ, तुनकमिज़ाजी, और जोखिम उठाने के आचरण का अध्ययन किया और उन पर ध्यान केन्द्रित किया। इसके कारण किशोरावस्था का *तूफान-और-तनाव* मॉडल पुष्ट हुआ है। इसके एक बड़े हिस्से की जड़ें सिगमंड फ्रॉयड से जुड़ी हैं जिनका किशोरावस्था की अशान्ति के बारे में अपना ही रंगीन स्पष्टीकरण था। कहा जाता है कि उनकी बेटी एना फ्रॉयड यहाँ तक मानती थीं कि 'किशोरावस्था में सामान्य होना, अपने आप में ही असामान्य है'! 1990 के

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

दशक के आसपास कई मनोवैज्ञानिकों ने इस 'रूढ़ छवि' को फिर से जाँचना शुरू किया। रोचक यह है कि कई आम लोगों में भी किशोरावस्था की यह काफी नकारात्मक-सी छवि व्याप्त है। और इस कारण अपने शोध परिणामों की वैधता के बारे में निश्चित होना भी कठिन हो जाता है। इस आयु वर्ग की मुश्किलातों के बारे में जो बात दर्ज की जाती है उसमें कितना हिस्सा 'भूमिका को अदा करने' के कारण है? विकास का अध्ययन करने के हमारे तरीके ऐसी समस्याओं से सुरक्षित नहीं हैं।

किशोरों के मस्तिष्कों का आभास पाने के केवल कुछ ही तरीके हैं। आप उनसे सीधे बातचीत कर सकते हैं और उनसे सवाल पूछ सकते हैं। इसे आत्म-प्रतिवेदन (self report) विधि कहते हैं। बदकिस्मती से किशोरों की एक बड़ी खासियत है निजता (privacy) की उनकी सख्त ज़रूरत। इसलिए यह तरीका एक सटीक छवि नहीं भी दे सकता है। आप उनके करीबी लोगों (माता-पिता, दोस्तों, शिक्षकों) से बात कर सकते हैं। परन्तु सम्भव है कि वे किशोरावस्था की तूफान-और-तनाव वाली रूढ़ छवि से पूर्वग्रहग्रस्त हों। सो यह तरीका भी सटीक नतीजे देगा ऐसा ज़रूरी नहीं। या फिर आप किशोरों का अवलोकन कर सकते हैं, उनके विभिन्न आचरणों की बारम्बारता (frequency) पर गौर कर सकते हैं, और इससे यह अनुमान लगाने की कोशिश कर सकते हैं कि उनके दिमाग में क्या कुछ चल रहा होगा। मनोवैज्ञानिकों ने यह सब किया है और इसके साथ कुछ हद तक कुर्सी पर बैठे-बैठे किशोरों की सामान्य छवियों पर आधारित दार्शनिक सिद्धान्त भी गढ़े हैं। इन सभी विधियों की एक समस्या यह है कि वे सच में पल-प्रति-पल होने वाले उन भावनात्मक उतार-चढ़ावों या मिज़ाज में आए बदलावों को देख नहीं पातीं, जो तेज़ी से बदलने वाली हॉर्मोन गतिविधि के फलस्वरूप अपेक्षित है। इस समस्या को मनोवैज्ञानिक मीहाय चीकसेंटमीहाय और रीड लार्सन ने



आगे बताए गए कल्पनाशील तरीके से हल किया। किशोरों को छोटे बीपर दिए गए जो तकरीबन हर दो घण्टे पर बजते थे। बीपर के बजने पर उन्हें एक प्रपत्र भरना पड़ता था जो उनसे उनकी मौजूदा गतिविधि, दिमागी स्थिति, विचारों व भावनाओं का हाल पूछता था। इस विधि ने तेज़ी से बदलने वाले तात्कालिक संवेदनों और भावनाओं की उस दुनिया को उजागर किया जिसमें किशोर रहा करते हैं। इसने यह भी दिखाया कि किशोर जिस तरह के टकरावों का अनुभव करते हैं उनमें से अधिकांश छोटे और मामूली नज़र आने वाले मसले होते हैं, हालाँकि उनकी भावनाओं की तीव्रता बेहद सशक्त होती है। हो सकता है कि यह बात भी टकराव का एक महत्वपूर्ण स्रोत हो कि जो चीज़ें किशोरों को महत्वपूर्ण लगती हैं वही वयस्कों को 'मामूली' लगती हैं।

किशोरावस्था के प्रति सांस्कृतिक व लोकप्रिय पूर्वाग्रहों और विभिन्न शोध विधियों की कठिनाइयों के बारे में सजग रहकर हम इस क्षेत्र में हुए अध्ययनों के परिणामों का मूल्यांकन करने में और सक्षम बनेंगे।

बदलाव ही बदलाव

किशोर मनोविज्ञान के काफी विशाल छाते के नीचे तमाम ऐसे विषय आते हैं जो परस्पर आच्छादित (overlapping) हैं। इन सबका सम्बन्ध बदलाव से है, जो जीवन के इस चरण का मूल मंत्र प्रतीत होता है। बेशक, समूचा बचपन ही बड़े पैमाने पर वृद्धि और बदलाव का दौर होता है, और हम वयस्क भी यह महसूस करना चाहेंगे कि हम भी बदल रहे हैं, जड़ अशमीभूत नहीं हो चुके हैं! इसके बावजूद बदलावों की दर और अनियमितता खास तौर से किशोरावस्था को विकास का एक अनूठा चरण बनाती हैं। नीचे दी गई सूची को ज़रा देखें। किशोरावस्था की विशेषताएँ हैं:

- शरीर में हॉर्मोन व अन्य रासायनिक बदलाव;
- अचानक होने वाले और दूसरों को भी स्पष्ट नज़र आने वाले शारीरिक बदलाव जो यौनिक परिपक्वता का संकेत देते हैं;
- भावनात्मक परिवर्तन, जैसे बढ़ी हुई उत्तेजना, दुश्चिन्ता, उल्लास, अवसाद का बढ़ जाना;

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

- नए आचरण (टकराव, आक्रामकता, जोखिम उठाना, रोमांच की तलाश);
- नए मनोवैज्ञानिक मुद्दे, जैसे अपनी अस्मिता की तलाश, सत्ता के प्रति विद्रोह, रूमानी रुचियाँ, बढ़ता संकोच, हमउम्र साथियों पर बढ़ी हुई निर्भरता;
- सामाजिक बदलाव, जैसे अधिक स्वायत्तता और आज़ादी की इच्छा करना और उसे पाना;
- संज्ञानात्मक बदलाव, ऐसे गुणात्मक या संख्यात्मक बदलाव जो काफी उच्चतर स्तर पर सीखने और समझने को सम्भव बनाते हैं।

हॉर्मोन सम्बन्धी और शारीरिक परिवर्तन और इनके कारण शुरू होने वाली यौनिक हलचल काफी बलशाली प्रक्रियाएँ होती हैं। ये किशोरावस्था के सार्वभौमिक संकेतक हैं और हम अपेक्षा कर सकते हैं कि काफी बड़ी हद तक इनके भावनात्मक और आचरण सम्बन्धी प्रभाव दुनिया भर की सभी संस्कृतियों में समान होंगे। किशोरावस्था के दौरान हॉर्मोन अपना असर दो तरह से दिखाते हैं – औसत सान्द्रता में बढ़त के साथ उसके आवर्ती (चक्रीय) पैटर्न में अनियमितता के माध्यम से। इन प्रभावों की एक बेहद सधी हुई समीक्षा 1992 में जैकलीन एक्ले और उनके सहकर्मियों ने प्रकाशित की। मनोवैज्ञानिक एक्ले ने किशोरावस्था के कई पहलुओं का अध्ययन किया है, बिना उस 'नकारात्मक' पूर्वाग्रह के जिसका मैं पहले जिक्र कर चुकी हूँ। 1992 के उनके पर्चे का सारांश इस वाक्य से शुरू होता है, '...किशोरावस्था अनिवार्य रूप से मुसीबत का ऐलान नहीं करती'। इसके बावजूद किशोरावस्था के जिन पहलुओं का अमूमन अध्ययन किया जाता है, उसका अन्दाज़ आपको दिलाने के लिए उस पर्चे के उप-शीर्षक पेश हैं: 'मनोदशा (mood) में उतार-चढ़ाव और मनोदशा की तीव्रता', 'अवसाद', 'ऊर्जा का स्तर', 'बेचैनी व एकाग्रता', 'चिड़चिड़ापन', 'आवेग', 'दुश्चिन्ता', 'आक्रामकता और आचरण सम्बन्धी समस्याएँ', 'संकोचशीलता'! पर्चा उन समस्त उपलब्ध प्रमाणों को जाँचता है जो हॉर्मोन को इन परिघटनाओं की जड़ बताते हैं। एक वाक्य में कहें तो, हॉर्मोन प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों तरह से काम करते हैं, और, उनके प्रभाव के कई सम्भावित रास्ते होते हैं। आगामी दो पैरा इन निष्कर्षों को संक्षेप में रखेंगे।

किसी किशोर या किशोरी के शरीर में आए बदलाव कुछ खास तरह के आचरण की छूट देते हैं, जैसे लड़कों में ताकत की वृद्धि, जो वे चाहते हैं उसे पाने में आक्रामकता का उपयोग करने की दिशा में उन्हें ले जाती है। हॉर्मोनों के बदलाव (टेस्टोस्टेरॉन और ईस्ट्रोजन दोनों के स्तरों में) इन्द्रियों को ज़्यादा जीवन्त व सचेत बनाते हैं, और यह 'सब कुछ बढ़िया है' के भाव को पैदा कर सकता है (लगभग मदमस्त-सा भाव)। दूसरी ओर, पीड़ादायी उद्दीपन के प्रति अधिक संवेदनशीलता चिड़चिड़ाहट और क्रोध में बदल सकती है। हॉर्मोनों का बढ़ना उद्दीपन के प्रति ज़्यादा तात्कालिक और तेज़ प्रतिक्रिया की ओर भी ले जा सकता है, जो विभिन्न परिस्थितियों में अचानक गुस्से से झल्लाने या आसानी से हँसने के रूप में हो सकती है। शरीर में होने वाली मूल चयापचयी क्रियाओं की दर (basal metabolic rate) में उतार-चढ़ाव या स्वचालित प्रतिक्रिया (autonomic reactivity) कभी हमें ऊर्जावान महसूस करा सकती है, तो कभी सुस्त। और अन्ततः, हॉर्मोन किशोरों पर सचमुच एक चक्राकार तरीके से भी असर कर सकते हैं: अगर वे खुद और उनके आसपास के लोग यह विश्वास करते हैं कि हॉर्मोन तूफान-और-तनाव का कारण हैं, तो यह विश्वास खुद को सच साबित करने वाली भविष्यवाणी भी बन सकता है। इसलिए कई मामलों में मिज़ाज और आचरण में आए छोटे-मोटे परिवर्तनों पर भी 'किशोरावस्था हॉर्मोनों' का ठप्पा लग जाता है।'

एक ओर यह सब चलता रहता है, पर साथ ही गैर-हॉर्मोन घटक जैसे स्कूल और परिवार का वातावरण और किशोर-किशोरियों का अपना-अपना स्वभाव भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। अध्ययनों ने दर्शाया है कि अगर टेस्टोस्टेरॉन का स्तर ऊँचा हो तो कुण्ठाओं के प्रति सहनशीलता घट जाती है, जिसका मतलब यह है कि *उकसाए जाने पर* व्यक्ति का आचरण ज़्यादा आक्रामक हो सकता है। दूसरे शब्दों में, कोई ऐसा लड़का जिसका टेस्टोस्टेरॉन स्तर ऊँचा हो, लेकिन जिसे बिरले ही या कभी नहीं उकसाया जाए, शायद कभी आक्रामकता दिखाए ही नहीं। अर्थात् हॉर्मोन के प्रभाव का ऐसे वातावरण से

1. हॉर्मोन में होने वाले उतार-चढ़ाव किशोरों में मनोरोगों की मानसिक अभिवृत्ति के प्रति या पर्यावरण में मौजूद दबावों जैसे प्रतिस्पर्धात्मक अकादमिक परीक्षाओं के प्रति संवेदनशीलता को बढ़ा सकते हैं। यह अवसाद की दिशा में ले जा सकता है, और कुछ चरम मामलों में आत्महत्या की ओर भी।

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

बीचबचाव हो जाता है जो किसी किस्म का खतरा प्रस्तुत न करता हो। इसी प्रकार हॉर्मोनों के बदलाव अवसाद को भी प्रभावित करते हैं। पर यह प्रभाव उन किशोरों पर ज्यादा होता है जो मनोवैज्ञानिक रूप से अधिक संवेदनशील हों, या जो तनावपूर्ण वातावरण में हों।

एक स्थिर, समग्र पहचान की तलाश किशोरावस्था का चिरकालिक लक्षण रही है। इसकी जड़ सम्भवतः यह है कि उनको यह एहसास होता है कि वे विभिन्न सन्दर्भों में बहुत अलग-अलग तरह से आचरण करते हैं ('यह भला मैंने क्यों किया, मैं तो ऐसा नहीं हूँ', या 'मुझे जो ठीक लगता है वो मैं क्यों न करूँ? मैं जो हूँ सो हूँ', पर फिर 'मैं दरअसल क्या हूँ, कैसी हूँ?')। मशहूर मनोवैज्ञानिक एरिक एरिकसन के अनुसार किशोरावस्था का सबसे महत्वपूर्ण कार्य है पहचान या अस्मिता का बनना। अस्मिता या पहचान एक से ज्यादा स्व के एहसास के बावजूद उस स्व की निरन्तरता और एकरूपता का भाव है। साथ ही अस्मिता स्वयं के बारे में कुछ मान्यताओं का समूह भी है, जिसमें यह शामिल रहता है कि हम किन अर्थों में दूसरों के समान हैं और किन में दूसरों से भिन्न हैं। अस्मिता निर्माण की प्रक्रिया का जो वर्णन एरिकसन पेश करते हैं उससे ऐसा लगता है कि यह एक प्रभावशाली और पेचीदा काम है। किसी भी किशोर के लिए इसमें विश्लेषण के चार स्तर शामिल होते हैं:

- दूसरों के बारे में उसके आकलन;
- उसके बारे में दूसरों के आकलन;
- दूसरों के आकलनों के बारे में उसके आकलन; और
- उन सामाजिक व सांस्कृतिक मानकों का ज्ञान जिनके आधार पर वह आकलन कर सके!

इसे स्पष्ट करने के लिए हम एक उदाहरण को देखते हैं। मान लें कि कोई तेरह वर्षीय विद्यार्थी अपनी सहपाठी को गृहकार्य के बारे में बोले गए झूठ में पकड़े जाते देखती है। उसके दिमाग में कई विचार दौड़ जाने की सम्भावना है, जैसे, 'गृहकार्य को लेकर झूठ बोलकर इसने बड़ी बेवकूफी की', 'वह बेवकूफ है जो पकड़ी गई', 'अगर मैं सच बोल दूँ तो क्या मेरे दोस्त सोचेंगे



कि मैं कुछ ज़्यादा ही 'अच्छी लड़की' हूँ?' और 'अगर टीचर को पता चले कि मैंने पिछली परीक्षा में नकल की थी तो क्या वे मुझे बुरी लड़की मानेंगे?' दूसरा उदाहरण: अगर कोई चौदह वर्षीय लड़का किसी नए विद्यार्थी के प्रति दोस्ताना बर्ताव करता है तो हो सकता है कि वह यह सोचे कि 'क्या मैं एक दोस्ताना व्यक्ति हूँ? क्या मैं तब ज़्यादा टंच (cool) लगूँगा जब मैं इस नए विद्यार्थी से बदतमीज़ी करूँ? अगर मेरे दोस्तों को यह पसन्द नहीं आता कि मैं इस लड़के से अच्छा बर्ताव कर रहा हूँ, तो शायद यह समस्या मेरी नहीं उनकी है!'

किसी किशोर या किशोरी के स्व की भावना उसके वातावरण में मौजूद मूल्यों

और प्रचलनों से ज़बरदस्त तरीके से प्रभावित होती है, और यहाँ स्कूल एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। क्या आपका स्कूल विद्यार्थियों में अपनत्व और सुरक्षा का भाव जगाता है, मदद के साथ अपने आसपास के पर्यावरण की खुद ब खुद छानबीन करने का मौका देता है, केन्द्रीय गतिविधियों में भागीदारी के अवसर देता है? या कि वह अकेलेपन के एहसास को प्रोत्साहित करता है, विद्यार्थी को दूसरे विद्यार्थी के और विद्यार्थी को शिक्षक के विरुद्ध खड़ा करता है, छानबीन के प्रयासों को रोक देता है और भागीदारी को हतोत्साहित करता है? कैसा स्कूली वातावरण विद्यार्थियों को स्व का सकारात्मक निरूपण पाने में मदद करता है, इसका अनुमान तो आपने लगा ही लिया होगा। अगले भाग में स्कूली पर्यावरण और उसके प्रभावों पर और लम्बी चर्चा दी जा रही है।

किशोरावस्था का एक और ठेठ संघर्ष है स्वायत्तता और स्वतंत्रता की बढ़ती ज़रूरत। यह वयस्कों के साथ टकराव की सम्भावना को बहुत बढ़ा देती है।

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

छोटे बच्चे कई तरह की परिस्थितियों में वयस्कों की सत्ता स्वीकार लेते हैं। इनमें व्यक्तिगत साफ-सफाई और छवि से लेकर कैसे और किसके साथ समय बिताएँ आदि शामिल हैं। किशोरों के लिए इनमें से कई परिस्थितियाँ, नैतिक या प्रथागत क्षेत्र से हटकर **व्यक्तिगत** क्षेत्र में जा रही होती हैं (उक्त तीनों क्षेत्रों के वर्णन के लिए देखें अध्याय छह)। आखिर, अन्ततः कोई वयस्क भी तो अपने अधिकांश कामों और फैसलों को खुद के सिवाय किसी दूसरे का मसला नहीं मानता, सिवाय शायद उन कामों के जो कानून तोड़ने वाले हों। लगभग हर मसले पर वयस्कों के प्रति जवाबदेह होने से हटकर ज़्यादातर मसलों में खुद के प्रति जवाबदेह होना एक क्रमिक प्रक्रिया ही हो सकती है। और किशोरावस्था इसी संक्रमण का दौर है।

यहाँ तक आकर लगता है कि काश भारतीय किशोरों पर भी कुछ आँकड़े होते, हालाँकि हमें विभिन्न वर्गों, धार्मिक समूहों और शहरी-ग्रामीण परिवेशों के किशोरों पर अलग-अलग आँकड़ों की भी ज़रूरत पड़ती। एक बहु-सांस्कृतिक अध्ययन में, जो ज़्यादा आसानी से भारतीय सन्दर्भ पर लागू किया जा सकता है, एंड्रयू फुलिग्नि ने चार अलग सांस्कृतिक पृष्ठभूमियों वाले अमरीकी किशोरों से पूछा कि अगर उनके माता-पिता कई प्रकार की स्थितियों में नियम बनाएँ तो वह 'ठीक' होगा (OK) या ठीक नहीं होगा (Not OK)। ये चार समूह फिलिपींस, चीन, मैक्सिको और यूरोप से आए प्रवासियों के बच्चों के थे। स्थितियों में शनिवार को देर से सोना, फोन पर बातचीत करना, घरेलू काम करना, अपनी गतिविधियों की जानकारी माता-पिता को देना, कैसे कपड़े पहनना, किन दोस्तों के साथ समय बिताना, और अपने कमरे को साफ करना शामिल था। फुलिग्नि ने इन जातीय समूहों का चयन इस उम्मीद से किया था कि जिन संस्कृतियों में माता-पिता की सत्ता को मूल्यवान माना जाता है और जो वैयक्तिकता को बेशकीमती नहीं मानतीं, उनके बच्चे यूरोपीय बच्चों से एकदम अलग प्रतिक्रिया करेंगे। परन्तु उन्हें इन समूहों में आश्चर्यजनक रूप से कम अन्तर नज़र आया। साथ ही उन्हें चारों समूहों में समान विकासात्मक पैटर्न नज़र आया – उम्र बढ़ने के साथ कई परिस्थितियों को ज़्यादा से ज़्यादा 'व्यक्तिगत' माना जाने लगता है। दूसरे शब्दों में, ज़्यादा से ज़्यादा मुद्दों पर माता-पिता द्वारा और-और नियम बनाना

बच्चों को 'ठीक नहीं' (Not OK) लगने लगता है। वे अपने निष्कर्षों को एक वाक्य में यों समेटते हैं: 'जिन समूहों में परम्परागत रूप से व्यक्तिगत स्वायत्तता से ज़्यादा माता-पिता की सत्ता पर बल दिया जाता है, उनमें भी बच्चे किशोरावस्था के दौरान माता-पिता की सत्ता के क्षेत्र को सीमित करना चाहते हैं।'

अन्त में हम उन संज्ञानात्मक बदलावों पर आते हैं जो किशोरावस्था को परिभाषित करते हैं। हालाँकि पियाजे के विकास के सिद्धान्त ने यह सुझाया था कि किशोरावस्था में अमूर्तीकरण की क्षमताओं में एक ऊँची छल्ला नज़र आती है, पर कई दशकों के शोध से ये संकेत मिलते हैं कि इस समय किशोर कई तरह के ज़्यादा बुनियादी कौशलों में क्रमिक सुधार की दिशा में बढ़ते हैं। बाल विकास पर केन्द्रित अध्याय चार से शायद आपको याद होगा कि आज कई मनोवैज्ञानिक संज्ञानात्मक विकास की एक ज़्यादा निरन्तर और धीरे-धीरे बढ़ने वाली छवि के पक्ष में तर्क देते हैं। कामकाजी याददाश्त, प्रोसेसिंग की गति, दीर्घकालिक ज्ञान की मात्रा और उसकी व्यवस्था और अधिसंज्ञान (metacognition) में इस दौर में सुधार देखा जा सकता है और किशोरावस्था के दौरान लोग इनमें बेहतर से बेहतर होते जाते हैं। पियाजे के एक जाने-माने प्रयोग में बच्चों को कुछ बीकरों में रसायन और एक टेस्टर (tester) दिए गए थे। टेस्टर रसायनों के एक खास सम्मिश्रण में डुबोने से पीला हो जाता था। बच्चों का काम था कि वे रसायनों को मिलाकर प्रयोग करें और उस खास सम्मिश्रण को ढूँढ निकालें। इस प्रयोग से पियाजे ने यह पाया कि बारह वर्ष की आयु के पहले बच्चे अव्यवस्थित व मनमाने तरीके से प्रयोग करते हैं जिसमें वे कुछ सम्मिश्रणों को छोड़ देते हैं तो कुछ को दोहराते हैं, और इसलिए वे उस सही मिश्रण तक नहीं पहुँच पाते जिसमें किन्हीं दो रसायनों की उपस्थिति और एक की अनुपस्थिति ज़रूरी है। परन्तु तकरीबन बारह साल की आयु के बाद बच्चे व्यवस्थित योजनाएँ बनाने लगते हैं और रसायनों को ऐसे जाँचते हैं कि सभी 15 सम्मिश्रणों को बिना दोहराए एक क्रम में परख सकें। इस प्रकार ये 'अमूर्त-क्रियात्मक' तर्ककर्ता (formal-operational reasoners), जैसा पियाजे ने उन्हें नाम दिया था, सही उत्तर तक पहुँच जाते हैं। अतः किशोरावस्था को, कम से कम संज्ञानात्मक अर्थ में, अमूर्त-क्रियात्मक चरण के रूप में देखा जाने लगा।

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?



तब से दुनिया भर के अनेक किशोरों ने यह काम किया है, और बीकरों में छलकते रसायनों ने हमें दो रोचक पाठ पढ़ाए हैं। अव्वल तो यह कि केवल 20 प्रतिशत किशोर और वयस्क ही अमूर्त-क्रियात्मक तर्ककर्ता होते हैं। मनोवैज्ञानिकों ने तार्किक विवेचना की आवश्यकता वाले अन्य काम भी ढूँढ निकाले हैं, जैसे कौन-सी ब्रांड का सामान खरीदना बेहतर है, और इन सभी कामों में अधिकांश किशोर और वयस्क तार्किक रूप से विवेचना करने में असफल रहते हैं।

दूसरी बात यह है कि स्पष्ट प्रशिक्षण की मदद से केवल किशोर ही नहीं बल्कि उनसे छोटे बच्चे भी व्यवस्थित तर्ककर्ता बन सकते हैं। यह सब इस ओर इशारा करता है कि बुनियादी क्षमताओं में सुधार और स्पष्ट प्रशिक्षण कई तरह के जटिल कार्यों में प्रदर्शन को सुधारता है। उस विकासात्मक वक्र में किशोर ऊँचे बिन्दु पर होते हैं, और स्वाभाविक रूप से हम कई क्षेत्रों में उनकी तार्किकता में बदलाव देखने की उम्मीद कर सकते हैं।

माइकेल कूले से, जो विकासवादी व अन्तर-सांस्कृतिक मनोवैज्ञानिक हैं, आपका अध्याय चार में परिचय हुआ था। वे बताते हैं कि किशोरों की आनुमानिक सम्भावनाओं के बारे में, भविष्य के बारे में, अपने खुद के और दूसरे के विचारों के बारे में सोचने की क्षमता बढ़ती जाती है। वे सामाजिक

परिपाटियों के परे जाकर भी सोच सकते हैं। अनुभव के साथ वे इन सब में और बेहतर होते जाते हैं। सच तो यह है कि इस सूची की आखिरी बात वयस्कों के जीवन और वयस्क समाज में मौजूद विरोधाभासों को उनके लिए उजागर कर देती है तो कभी-कभी उन्हें दोषदर्शिता (cynicism) और परम्परा को नकारने की दिशा में ले जाती है। सम्भव है कि इन दिशाओं में बढ़ना स्वायत्तता की उनकी सामान्य ज़रूरत को और पुख्ता करता हो। तो फिर हमें तब अचरज नहीं करना चाहिए जब किशोर केवल हम वयस्कों के *तर्कसंगत* प्रश्नकर्ता बनने की बजाय विद्रोही या चिड़चिड़े बन जाएँ!

बदलावों से समझौता करना हम सबके लिए कठिन होता है। इसलिए हम यह बखूबी समझ सकते हैं कि जब किशोरों के जीवन में सब कुछ इतनी तेज़ी से बदल रहा हो, स्वयं उनके अन्दर, और कम से कम उनकी नज़र में बाहर भी, तो उनके सामने कैसी चुनौतियाँ होंगी। हमें ऐसे उपाय तलाशने होंगे जिनसे कोई स्कूल इन बदलावों से गुज़रने में, इस संक्रमण काल को थोड़ा सहज बनाने में विद्यार्थियों की मदद कर सके। दुर्भाग्य से, शोध सुझाते हैं कि किशोरों की ज़रूरतों से मेल खाने के बदले स्कूल बेमेल ही सिद्ध होते हैं। अगले भाग में इस बेमेलपन का वर्णन किया जाएगा, जिसके बाद स्कूलों और शिक्षकों के लिए शोध से जो सुझाव उभरते हैं, उन्हें प्रस्तुत किया जाएगा।

स्कूल और किशोर

आपके स्कूल के लक्ष्य क्या हैं, और उनका अनुसरण किस प्रकार किया जाता है? सफलता के अर्थ के बारे में स्कूल क्या सन्देश देता है? और शिक्षक इन्हें किस प्रकार अमल में लाते हैं? क्या विद्यार्थियों को स्वयं को अभिव्यक्त करने के और महत्वपूर्ण निर्णय लेने के अवसर मिलते हैं? क्या शिक्षक समझने और प्रयास करने पर बल देते हैं? या फिर वे 'चतुर' विद्यार्थियों को बाकी विद्यार्थियों से बेहतर मानते हैं? अगर स्कूल समरूप क्षमता वाले समूह (homogenous ability groups) बनाना पसन्द करता है (फिर चाहे वह विद्यार्थियों को चिन्हित कर (tracking) या किसी खास दिशा में मोड़कर (streaming) ऐसा करता हो), उपलब्धि के लिए पुरस्कार देता है, परीक्षा परिणामों में विद्यार्थी के क्रमांक को सार्वजनिक करता है, तो ज़ाहिर

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

है कि वह प्रतिस्पर्धा और सामाजिक तुलना की नींव पर खड़ा है। ऐसे परिवेश में किशोर विद्यार्थी आसानी से यह सन्देश ग्रहण कर लेते हैं कि विद्यार्थियों के व्यक्तिगत स्तर में सुधार या दक्षता 'सफलता' के लिए महत्वपूर्ण नहीं है। यह सीखने के प्रति उनकी प्रेरणा को प्रभावित करता है और उन्हें कुण्ठित बना सकता है, या कम से कम उन्हें सीखने के प्रति संकोचशील तो बना ही सकता है। और यह ऐसे समय होता है जब वे वैसे भी खास तौर से संकोची होते जा रहे हों। यह संकोचशीलता उनकी एकाग्रता को बाधित करती है और अकादमिक जोखिम उठाने के प्रति डर पैदा करती है।

स्कूली वातावरण के कई पहलू दरअसल किशोरों की विशेष आवश्यकताओं के खिलाफ काम करते हैं। मनोवैज्ञानिक रॉबर्ट रोएसर और उनके सहकर्मियों ने अमरीका और भारत दोनों ही देशों में स्कूली वातावरण और किशोरों की ज़रूरतों के बीच जुड़ाव का विश्लेषण किया है। किशोर की एक ज़रूरत होती है माता-पिता के अलावा भावनात्मक सहारा देने वाले कुछ अन्य वयस्कों के सम्पर्क में रहना, क्योंकि जीवन के इस चरण में वह अपने माता-पिता से स्वायत्तता व स्वतंत्रता चाहता है। यह रुमानियत का भी दौर होता है, अतः वह इस बात को लेकर बेहद सचेत होता है कि वह अपने साथियों की नज़र से कैसा लगता है (केवल शारीरिक रूप से ही नहीं)। साधारण-सी सामाजिक तुलना भी उसे सार्वजनिक रूप से अपमानित महसूस करवा सकती है। वह बौद्धिक व शारीरिक रूप से अधिक चुनौतीपूर्ण काम के लिए तैयार होता है। परन्तु जब वह सेकंडरी स्कूल में प्रवेश करता है, तो वहाँ का वातावरण उसकी ज़रूरतों के प्रति बेहद उदासीन हो सकता है।

जब विद्यार्थी किशोरावस्था में पहुँचते हैं तब कुछ मामलों में तो स्कूल और उसकी माँगें दरअसल पहले से और खराब बन सकती हैं। मसलन प्राथमिक शाला की तुलना में शिक्षकों का भावनात्मक सहयोग घट जाता है, तुलनात्मक मूल्यांकन पर बल दिया जाने लगता है, और विभागों में बँटे शिक्षण का रुझान आ जाता है। बड़ी कक्षाएँ घनिष्ठ शिक्षक-विद्यार्थी सम्बन्धों को असम्भव नहीं तो मुश्किल ज़रूर बना देती हैं। और यह तब जब माता-पिता से इतर वयस्कों के साथ समर्थन का एहसास दिलाने वाले सम्बन्ध उनके लिए पहले

से कहीं अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। कुछ मामलों में अपने नए संज्ञानात्मक, भावनात्मक और प्रेरणात्मक अभिमुखीकरण के कारण किशोर उसी वातावरण को एक अलग नज़र से देखने लगते हैं। वयस्क उन्हें ज़्यादा नियंत्रणकारी, या विद्यार्थियों को निर्णय प्रक्रिया में भागीदारी के अवसर और स्वायत्तता देने के कम इच्छुक दिखाई देते हैं। इस बात का स्पष्ट प्रमाण हमें एक्ले और उनके सहकर्मियों के एक अध्ययन में मिलता है। उन्होंने एक ही कक्षा में पढ़ने वाली देर से और जल्दी परिपक्व होने वाली बालिकाओं पर यह अध्ययन किया था। शारीरिक रूप से अधिक परिपक्व लड़कियों ने कक्षा के फैसलों में शामिल होने की इच्छा, अपनी कम परिपक्व सहपाठियों की तुलना में ज़्यादा जताई। उन्होंने बताया कि नियंत्रण करने की उनकी इच्छा और उन्हें दिए जाने वाले अवसरों में 'कर नहीं सकती पर करना चाहती हैं' की तर्ज़ का बेमेलपन है। उदाहरण के लिए जब उनसे पूछा गया कि 'गणित कक्षा में क्या काम करोगी यह तय करने में क्या तुम्हें मदद करने का अवसर मिलता है?' तो उनका जवाब 'नहीं' था। परन्तु, 'क्या इस निर्णय में तुम्हारे मत शामिल होने चाहिए?' के सवाल पर उनका जवाब 'हाँ' था। एक्ले कहती हैं कि यह अन्तर कुछ हद तक वयःसन्धि के दौरान अपने आसपास के बारे में किशोरों की समझ में आए बदलावों के कारण आता है, और कुछ इसलिए कि वयस्क शायद सचमुच ही शारीरिक परिपक्वता के प्रति अपनी प्रतिक्रिया में ज़्यादा नियंत्रणकारी व्यवहार करने लगते हैं।

जिस समय किशोरों में ऊर्जा, दम और ताकत बढ़ रही होती है, उनमें से अधिकांश को ज़्यादा से ज़्यादा मेज़ पर बैठकर किए जाने वाले कामों और किताबों की दिशा में धकेला जाता है। शारीरिक गतिविधि के मौके वास्तव में कम होते जाते हैं। इसी तरह चौदह से सत्रह वर्ष के किशोरों की तार्किक विवेचना कर पाने और जानकारियों को प्रोसेस करने की क्षमता (बेहतर कामकाजी याददाश्त के कारण) बढ़ने लगती है। पर इसी उम्र में उनका ज़्यादा से ज़्यादा समय छोटी और बड़ी परीक्षाओं की तैयारी में बीत जाता है। अगर ये मूल्यांकन सही अर्थों में चुनौतीपूर्ण न हों, यह किशोरों की अमूर्तिकरण करने और समझने की बढ़ती क्षमताओं की बर्बादी ही है।

कई मामलों में इस बेमेलपन के कारण विद्यार्थियों के लिए नकारात्मक

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

परिणाम निकलते हैं। अकादमिक क्षेत्र में इसके असर हैं – गिरती प्रेरणा, स्कूल में घटती रुचि, कमतर उपलब्धि और काबिल न होने का भाव। तो हम इस भाग के शुरू में पूछे गए प्रश्न पर लौटते हैं कि किशोरों के लिए इस संक्रमण के दौर को सहज बनाने के लिए कोई स्कूल क्या कर सकता है? आपकी विशिष्ट परिस्थिति में क्या कारगर सिद्ध हो सकता है, यह तो केवल आप ही तय कर सकते हैं। यही कारण है कि मैं 'क्या करें और क्या न करें' की सूची बनाने से हिचकती हूँ। फिर भी मैं शोध और अपने व्यक्तिगत अवलोकनों के आधार पर कुछ सुझाव प्रस्तुत कर रही हूँ।

अपने विद्यार्थियों को ज़्यादा वास्तविक ज़िम्मेदारियाँ दें। उन्हें न केवल खुद के सीखने के लिए ज़िम्मेदार बनाएँ बल्कि अपने से बाहर की ज़िम्मेदारियाँ भी सौंपें। हालाँकि ऐसा करने से आपका बोझ कम नहीं होगा! बल्कि सम्भावना यह है कि ऐसा करने के लिए आपको (कम से कम शुरुआत में) ज़्यादा समय और ऊर्जा लगानी पड़ेगी। दिए गए कामों और परिस्थितियों की योजना और व्यवस्था कुछ इस प्रकार करनी होगी कि विद्यार्थी खुद निर्णय ले सकें और उन्हें क्रियान्वित कर सकें। मंशा यही होनी चाहिए कि आप धीरे-धीरे अपने विद्यार्थियों के सीखने में नियंत्रक कम और सहायक अधिक बनें।

किशोरों के बीच आपसी दोस्ती के महत्व को स्वीकारें। हम में से कई वयस्क ऐसी दोस्तियों को ज़रा शक की नज़र से देखते हैं। कुछ स्कूलों में तो हर साल कक्षा की संरचना बदलकर दोस्तियों को सायास तोड़ने की नीति अपनाई जाती है। शिक्षकों के रूप में हम में अक्सर मित्रों को 'अलग' करने की प्रवृत्ति होती है। सम्भव है कि हमारे पास इसके पुख्ता कारण भी हों। परन्तु अगर हम हमउम्र साथियों के बीच दोस्ती के महत्व को नकारते हैं, तो उन्हें अलग-थलग महसूस करवाने या **विसम्बन्धन (alienation)** का खतरा मोल लेते हैं। इसके अलावा हम विद्यार्थी के भावनात्मक जीवन में हमउम्र साथी समूह के लाभों से भी उसे वंचित करते हैं, और ऐसे लाभ सच में होते हैं। हालाँकि 'संगत के असर' (peer influence) को एक नकारात्मक अर्थ में लिया जाता है और इस जुमले का प्रयोग अमूमन केवल बुरे व्यवहार

के लिए किया जाता है, परन्तु ऐसे सकारात्मक आचरण भी होते हैं जो व्यक्ति के हमउम्र साथियों से प्रभावित होते हैं। शोध ने यह संकेत भी दिया है कि हमें अपने विद्यार्थियों की अपने हमउम्र साथियों के दबाव का विरोध करने की क्षमता के बारे में बहुत चिन्ता नहीं करनी चाहिए। बॉक्स-1 संक्षेप में इसी विचार की छानबीन करता है।

लड़की-लड़के की दोस्ती पर शिकंजा न कसें। सभी 'वर्जनाओं' में से इसको मानना और लागू करना शायद सबसे कठिन है क्योंकि किशोरों को अपनी यौनिकता को 'पूरी' तरह तलाशने की अनुमति देने में बेशक वास्तविक खतरे भी हैं। अक्सर यही खतरे हमें लड़कियों और लड़कों के बीच किसी भी तरह के सम्पर्क की थानेदारी करने, उन्हें रोकने और उसकी अनुमति नहीं देने की दिशा में धकेलते हैं। ऐसा करना दो कारणों से गलत है। पहली बात तो यह है कि ऐसा करके हम इस तथ्य की उपेक्षा करते हैं कि किशोरों के अधिकांश विचार और भावनाएँ शारीरिक आकर्षण और प्रेम की दिशा में बढ़ते हैं – जो एक नितान्त नैसर्गिक, जैविक दिशा में बढ़ना है। अगर हम यह नहीं चाहते कि इन सहज प्रवृत्तियों को कुछ खास तरह से अभिव्यक्त किया जाए, तो हमें शर्तिया तौर पर उन्हें दबाने के बारे में भी नहीं सोचना चाहिए। हमें रचनात्मक रूप से सोचना होगा कि इन मुद्दों को किस प्रकार सम्हाला जाए। किशोरों पर शिकंजा कसना तो ज़्यादा ही आसान तरीका है, और यह लम्बे समय में कारगर भी नहीं होगा। दूसरे, किशोर अपनी यौनिकता की छानबीन वैसे भी करेंगे ही। बस वे यह सावधानी बरतेंगे कि नाखुश वयस्कों को इसका पता न चले। इस प्रकार हम अपने विद्यार्थियों के साथ यौनिकता पर बातचीत करने के मौके को खो देंगे और वे हमसे कुछ सीख नहीं सकेंगे। ऐसा भी नहीं है कि इन मुद्दों पर खुलकर बातचीत करना आसान हो – ज़ाहिर ही है कि किशोर इन्हें निजी मामले मानते हैं और हमारे साथ अपने विचार और भावनाएँ साझा करना नहीं चाहते। बहरहाल, हाल के शोध ऐसे मसलों पर बातचीत के सीमित प्रभाव की ओर संकेत करते हैं। इस पर अध्याय के अन्तिम भाग में और चर्चा की गई है।

तुलनात्मक मूल्यांकन का उपयोग न करें। भारत में समूची शिक्षा व्यवस्था प्रदर्शन और तुलना करने पर आधारित है। यह सब काफी कम उम्र

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

से ही शुरू हो जाता है। हम बड़े नन्हों से यहाँ तक कह देते हैं, 'देखें कौन जल्दी खाता है', 'जल्दी करो नहीं तो वह पहले खत्म कर लेगा' और 'देखो तो, वह कितनी अच्छी तरह खेल रही है – तुम उसके जैसे क्यों नहीं खेल सकते?' सो, जब बच्चे किशोर बनते हैं तो आपको लग सकता है कि उन्हें तुलना की आदत पड़ जानी चाहिए! जीवन के लगभग हरेक पहलू में सतत तुलनात्मक मूल्यांकन के प्रति निर्विकार या सुन्न हो जाना चाहिए! परन्तु ऐसा करना उनमें दूसरों से खुद की तुलना करने की मज़बूत आदत भी डाल सकता है। बहुत सारे शोधों ने यह दर्शाया है कि यह उनके विकास और सीखने के लिए नुकसानदेह है (देखें प्रेरणा पर अध्याय आठ)। मैं नहीं मानती कि विद्यार्थी कभी भी ऐसे मूल्यांकन से ठीक महसूस करते हैं – वे भी नहीं जो तुलनात्मक रूप से सफल हों। मेरे स्कूली दिनों में सबसे चिन्ताग्रस्त लड़की वह होती थी जो हमेशा 'कक्षा में प्रथम' आती थी। किशोरावस्था में, जब विद्यार्थी स्वयं के बारे में सोच रहे और खुद को परिभाषित कर रहे होते हैं, नकारात्मक फीडबैक नकारात्मक आत्मछवि और आत्म-प्रतिष्ठा में कमी को बढ़ावा ही देता है। इसलिए यह सुनिश्चित करें कि आपके विद्यार्थियों को यह पता हो कि आप उनमें से प्रत्येक की सीखने की प्रक्रिया का सम्मान करते हैं, उसे मूल्यवान मानते हैं। उन्हें बेहतर सीखने को उकसाने के लिए तुलनाओं के उपयोग से बचें।²

विद्यार्थियों को चुनौतीपूर्ण अकादमिक काम दें। इस उम्र में आपके विद्यार्थी अवधारणात्मक रूप से चुनौतीपूर्ण काम की क्षमता रखते हैं –

- विद्यार्थी जो विषय स्कूल में सीख रहे हों उनसे सम्बन्धित उम्दा सामग्री से उन्हें परिचित करवाएँ। उनके साथ उसे पढ़ें और उसका विश्लेषण

2. यह तो लगभग तय है कि आपके कुछ विद्यार्थी ऐसे होंगे ही जिन्हें कुछ भी करने के लिए तुलना आधारित अभिप्रेरणा के धक्के की ज़रूरत होगी! फिर भी किशोर अभिप्रेरणा और तुलना जैसे अमूर्त विचारों को समझ सकते हैं और उन पर चर्चा कर सकते हैं। आप उन्हें खुद में इन भावनाओं में परिवर्तन को आलोचनात्मक दृष्टि से जाँचने को कह सकते हैं। परन्तु ऐसी आत्मालोचना के परिणामों को स्वयं विद्यार्थी पर छोड़ देने के लिए भी आपको तैयार होना होगा।

करें। इन सामग्रियों के स्रोत पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकीय, पत्रिकाओं और जर्नलों में छपे लेख, अच्छी पुस्तकों के अंश हो सकते हैं।

- उनसे की जाने वाली संज्ञानात्मक माँगों को केवल उत्तर दोहराने या तथ्यों को रटने तक सीमित न करें – यह उनके अमूर्तीकरण की बेहतर क्षमता को ज़ाया करना होगा।
- खास तौर से हमारी शिक्षा व्यवस्था में विद्यार्थियों पर और-और परीक्षाएँ लादी जाती हैं, और यह कतई स्पष्ट नहीं है कि वे लगातार अकेले में 'पढ़ाई' करते हुए खुद के लिए किस प्रकार की संज्ञानात्मक चुनौतियाँ रच सकते हैं। परन्तु जब वे किसी जोशीले और अच्छी तैयारी के साथ काम करने वाले शिक्षक से कुछ सीखते हैं, या अवधारणात्मक रूप से श्रेष्ठ सामग्री पर काम करते हैं तो उनकी संज्ञानात्मक क्षमताएँ वास्तव में खिंचती-फैलती, कसरत करती हैं। इसलिए समय के उस अनुपात की ओर ध्यान दें जो वे विभिन्न प्रकार की अकादमिक गतिविधियों पर बिताते हैं, और उनकी संज्ञानात्मक चुनौतियों को बढ़ाने की कोशिश करें।
- किशोरावस्था तक विद्यार्थियों का परिचय इतनी सारी परिघटनाओं से हो चुका होता है कि इनको अधिक से अधिक पाठ्यपुस्तक से जोड़ने में मदद न करना सच में दुखद होगा। वे ज्ञान और कौशलों का एक अच्छा-खासा भण्डार गढ़ चुके होते हैं और यह पहले से मौजूद ज्ञान और अनुभव के व्यापक आधार के साथ सह-सम्बन्ध स्थापित कर नए ज्ञान को सीखने की सम्भावना बनाता है। उदाहरण के लिए, दबाव के मुद्दे को प्रेशर कुकर, ब्रेक, पम्प और ऊँचाई पर कान के परदों पर दबाव के सन्दर्भों की मदद से पढ़ाया जा सकता है। अँग्रेज़ी भाषा को खबरों, विज्ञापनों, भाषणों, वार्तालापों और चिट्ठियों में भाषा के उपयोग के उदाहरणों द्वारा सिखाया जा सकता है। ये सभी ऐसी चीज़ें हैं जिनका किशोरों को खासा अनुभव होता है। उनके अनुभवों का उपयोग करें, और जहाँ तक सम्भव हो ऐसे पेश न आँ मानों ज्ञान का अस्तित्व अलग-अलग, एक-दूसरे से कटे हुए, अछूते टुकड़ों में होता हो।

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

बॉक्स-1

हमउम्र साथियों की संगत का मामला

जिस किसी का किशोरों से थोड़ा-सा भी सम्पर्क है वह जानता है कि समसमूह (peer) या संगत के मूल्य (peer group values) कई प्रकार के होते हैं। उदाहरण के लिए, कुछ समसमूह गहरी और स्नेहपूर्ण मित्रताओं को कीमती मानते हैं, कुछ कसरती ताकत को, तो कुछ और बेहतरीन अकादमिक उपलब्धियों को। मनोवैज्ञानिक शोध और लोकप्रिय मीडिया, दोनों में इस बात पर काफी ध्यान दिया गया है कि कुछ समसमूह असामाजिक आचरणों, जैसे चोरी करना, सम्पत्ति को नुकसान पहुँचाना और आक्रामकता, आदि को मूल्यवान मानते हैं – खासकर लड़कों के समूह। किशोर मनोविज्ञान के क्षेत्र में कार्यरत शोधकर्ता लैरी स्टाइनबर्ग मानते हैं कि इस असन्तुलन को सुधारने के लिए हमें तटस्थ समसमूह मूल्यों, जैसे कपड़े पहनने की शैली, संगीत सम्बन्धी रुचियों और समाजोपयोगी मूल्यों, जैसे स्वेच्छा से श्रमदान करने, किसी परमार्थ के लिए अपनी सेवाएँ देने, की ओर ध्यान देना होगा। स्कूल में मेहनत करने और अच्छा करने सम्बन्धी निर्णय पर अक्सर व्यक्ति के समसमूह का असर होता है, ठीक उसी तरह जैसे शराब, मादक द्रव्यों या यौन सम्भोग से दूर रहने के निर्णय पर।



यह धारणा भी काफी प्रचलित है कि किशोरों में समसमूह प्रभावों का विरोध करने की ताकत लगभग नहीं ही होती है। परन्तु इस रोचक परिवर्तनशील घटक को एक उम्दा प्रश्नावली के माध्यम से मापने पर स्टाइनबर्ग और उनके सहकर्मियों ने

पाया कि चौदह से अठारह वर्ष की आयु के दौरान किशोरों में प्रतिरोध करने की शक्ति लगातार बढ़ती जाती है। प्रश्नावली में आपको दी गई अनेक कथनों की जोड़ियों में हरेक में से किसी एक कथन को चुनना पड़ता है, और यह बताना पड़ता है कि वह वक्तव्य किस हद तक आपका वर्णन करता है। जैसे – ‘कुछ लोग मानते हैं कि एक व्यक्ति होना भीड़ के अनुरूप होने से ज़्यादा महत्वपूर्ण है’, **परन्तु** ‘दूसरों का मानना है कि भीड़ के अनुरूप होना व्यक्ति के रूप में अलग नज़र आने से ज़्यादा महत्वपूर्ण है।’ या जैसे, ‘कुछ लोग अपने दोस्तों को खुश रखने के लिए उनकी बात मान लेते हैं’, **पर** ‘दूसरे अपने दोस्तों की बात मानने से इन्कार कर देते हैं, यह पता होता हुए भी कि इससे उनके दोस्त नाखुश होंगे।’

संयुक्त राज्य अमरीका में किए गए स्टाइनबर्ग के शोध ने दर्शाया कि समसमूह प्रभाव के प्रतिरोध में क्रमशः बढ़त लड़कों और लड़कियों दोनों में, और विभिन्न जातीय समूहों व सामाजिक वर्गों के विद्यार्थियों में समान रूप से दिखाई देती है। दस से चौदह साल की आयु में समसमूह प्रभाव का प्रतिरोध काफी कम होता है। जब किशोर अपने माता-पिता पर भावनात्मक निर्भरता से स्वतंत्र हुए हों, उनके लिए दोस्त ही तब तक वह सुरक्षा जाल होते हैं जब तक कि वे भावनात्मक रूप से स्वायत्त होने को तैयार न हो जाएँ। एक तरह से माता-पिता पर निर्भरता की जगह समसमूह पर निर्भरता ले लेती है। स्टाइनबर्ग कहते हैं कि अठारह वर्ष की उम्र तक एक किशोरी या किशोर अपनी पहचान के एक भाव को पा लेता है जो उसे अपने समसमूह से भी स्वतंत्र होते जाने की अनुमति देता है। उनके शब्दों में ‘...हमारा अनुमान यह है कि समसमूह प्रभाव के प्रतिरोध में बढ़ोत्तरी एक विकासात्मक परिघटना है जिसकी शुरुआत माता-पिता से अलग व्यक्तित्व बनाने से तय होती है और समापन अपनी अस्मिता के विकास से।’ हम यह कयास लगा सकते हैं कि हमारे सन्दर्भ में भी यह विकासात्मक परिघटना लागू होती है, परन्तु सम्भवतः इसकी शुरुआत और समापन की उम्रों में अन्तर होता हो।



स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

वयस्कों और किशोरों के पारस्परिक संवाद का समय निकालें। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, इस आयुवर्ग की एक संज्ञानात्मक प्रगति मौजूदा ढाँचों और परिपाटियों पर सवाल उठाने की क्षमता होती है। विडम्बना यह है कि वे इस समय अपने समसमूह के प्रभाव में जकड़े हुए भी होते हैं। इसका अर्थ कभी-कभी यह भी हो सकता है कि बड़े साहस के साथ वयस्कों की परिपाटियों को खारिज करने के बाद वे बड़े दबूपन के साथ हमउम्र समूह की परिपाटियों को अपना लें। 'चीज़ें जैसी हैं, सो हैं' पर प्रश्न उठाने की उनकी क्षमता को विस्तार दिया जा सकता है – टेलीविज़न, फिल्में और किशोर एक-दूसरे को जो ज़बरदस्त सन्देश देते हैं उन्हें भी इसमें शामिल कर उन पर सवाल उठाए जा सकते हैं। आप अपने विद्यार्थियों से विज्ञापनों, उपभोक्तावाद, पर्यावरण पर हमारी जीवन शैली का प्रभाव, सामाजिक असमता, रिश्ते, नैतिकता, और आज़ादी व सामाजिक व्यवस्था पर अब चर्चाएँ कर सकते हैं। उम्मीद है कि ये केवल आरामकुर्सी पर बैठे हुए की गई रोचक चर्चाएँ न होंगी, बल्कि आपके और आपके विद्यार्थियों के रोज़मर्रा के जीवन से सम्बन्धित चर्चाएँ बन सकेंगी। रोएसर इसका बयान बखूबी करते हैं:

शिक्षा का अर्थ तरुणों को देखने-समझने, महसूस करने, सोचने और करने के आदतन (या स्वचालित) तरीकों के प्रति सजग बनाने और उनसे उभरने में सहायता करने के लिए अपनी इन बुनियादी प्रक्रियाओं और दुनिया में जीने के तरीकों के प्रति ज़्यादा ध्यान देने वाला बनाना भी है... (जो) रचनात्मकता, वैचारिक स्वतंत्रता और व्यक्तिगत व सामाजिक नवीनीकरण के विभिन्न स्वरूपों की पूर्वशर्त है।

ये संवाद सार्थक हो सकें, इसके लिए आपको ऐसी जगह बनानी होगी जहाँ पारस्परिक सम्मान और स्नेह हो, जहाँ विद्यार्थी और शिक्षक अपने विचारों, भावनाओं और मतों को खुलेपन के साथ व्यक्त कर सकें। ऐसे संवाद सत्रों के कुछ दिशानिर्देश बॉक्स-2 में सूचीबद्ध हैं।

बॉक्स-2

युवाओं के साथ संवाद: जगह बनाना

जीवन के सबसे अहम और गम्भीर मसलों पर अपने विद्यार्थियों के साथ विचारों का आदान-प्रदान करने के लिए नियमित संवाद के सत्र आयोजित करना आदर्श है। तेरह से अठारह वर्ष के विद्यार्थियों के साथ ऐसे सत्रों को सम्भव बनाने के बारे में कुछ सुझाव इस प्रकार हैं:

- स्पष्ट ही है कि एक शिक्षक के रूप में आप इन सत्रों के सहजकर्ता हैं – इस रूप में कि आप चर्चा को दिशा देंगे परन्तु उस हद तक नहीं कि आप उसे नियंत्रित करें। सम्भव है कि आपको कोई दिशा न देना बेहतर लगता हो, आप चर्चा को मुक्त ‘बातचीत’ के रूप में बहने देना पसन्द करते हों। परन्तु मेरा निजी अनुभव यह रहा है कि सभी सहभागियों को सुसंगतता और सन्तोष का भाव तब मिल पाता है जब संवाद का फोकस बना रहे। कोई विषय या सवाल मन में हो तो वह संवाद शुरू करने में उपयोगी सिद्ध होता है। परन्तु यह भी सुनिश्चित करें कि अगर कोई बच्चा अनपेक्षित रूप से कोई बात उठाना चाहे, तो उसकी गुंजाइश बनी रहे।
- सबकी भागीदारी सुनिश्चित करना आपकी ज़िम्मेदारी है। बड़ी कक्षा में यह सचमुच एक चुनौती होगी; परन्तु छोटी कक्षाओं में भी इस बारे में आपको सचेत रहना होगा। भागीदारी को बढ़ावा देने का मतलब यह नहीं है कि आप हरेक बच्चे को बोलने पर मजबूर करें। मौन रहकर सुनने का भी महत्व है, पर आपको सावधान रहना होगा कि कोई ‘अपने में ही गुम तो नहीं हो गया।’ इसकी दो सरल तकनीकें हैं – हर ओर से सबकी टिप्पणियाँ आमंत्रित करना, और जो मौन रहें उनका ध्यान रखते हुए उनकी ओर यदा-कदा एक सवाल प्रेषित करना।
- कुछ विद्यार्थियों को अपने विचारों को समेटकर पूरे वाक्य सोच लेने के बाद ही उन्हें अभिव्यक्त करना पसन्द आता है, जबकि कुछ दूसरों को ‘बोलते हुए सोचने या सोचते हुए बोलने’ में झिझक नहीं होती। इसलिए ऐसे तरीकों को तलाशें जिनसे दोनों ही प्रकार के विद्यार्थी भागीदारी कर

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

सकें। उदाहरण के लिए, प्रत्येक बच्चे को समय दें कि वह अपने विचार को पूरा कर ले। टोका-टाकी किसी भी संवाद के लिए अभिशाप हो सकती है, और एक हद से ज़्यादा उसे पूरी तरह हटाया भी नहीं जा सकता। फिर भी हम सभी को इस तथ्य के प्रति संवेदनशील बना सकते हैं कि कोई दूसरा भी बोलना, या अपना विचार पूरा करना चाह सकता है, सो उसे भी जगह दी जानी चाहिए।

- भाषा और शब्दावली सरल हो सकती है और आप अधूरे वाक्यों और (कुछ मामलों में!) 'जैसे' (like), 'जो भी हो' (whatever) और 'कुछ' (something) जैसे शब्दों की भरमार की छूट दे सकते हैं। लेकिन समय के साथ विद्यार्थियों को अपने विचार स्पष्टता से अभिव्यक्त करने और पूरे वाक्यों का प्रयोग करने को प्रोत्साहित करना अच्छा होता है। स्पष्ट भाषा में अपने एहसासों और भावनात्मक स्थिति को अभिव्यक्त कर पाना एक सीखने लायक कौशल है।
- इस जगह को **सुरक्षित स्थान** होना ही होगा जहाँ सभी अपनी भावनाएँ, मत और विचार साझा करने को स्वतंत्र महसूस करें। उन्हें किसी के फैसले का भय न हो। ऐसी जगह बनाने में मेहनत लगती है – और इसके लिए एक दिशानिर्देश यह है कि शिक्षक इस जगह का उपयोग 'फटकार' सत्र के रूप में न करें। न ही इसे, सूक्ष्म रूप से दी जाने वाली 'नैतिकता के सबक' का रूप दें। विद्यार्थियों को अगर इसकी भनक भी लगी तो वे फौरन चुप्पी साध लेंगे।

शायद सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि शिक्षकों के रूप में हमें इन संवादों से ढेर सारी बड़ी-बड़ी उम्मीदें नहीं रखनी चाहिए। ऐसा करने पर हमें दो बिन्दुओं पर निराशा हाथ लग सकती है: अक्सर तो विद्यार्थी मुक्त सम्प्रेषण से हिचकिचा सकते हैं, और दूसरे उनका आचरण उनकी बातों की परिपक्वता से मेल खाए यह ज़रूरी नहीं है। जैसा इस अध्याय का अन्तिम भाग स्पष्ट करता है, हालाँकि किशोर लगातार परिष्कृत अभिव्यक्ति में अधिक से अधिक सक्षम होते जाते हैं, वे अक्सर खुद पर उतने 'काबिज़' नहीं होते, जितना उनकी बातों से लगता है।

किशोरावस्था के खतरे और सम्भावनाएँ

सभी ने किशोरों के जोखिम उठाने के मशहूर आचरण के बारे में सुन रखा होगा – खास तौर से यौनिकता, मादक द्रव्यों के उपयोग और तेज़ गति से वाहन चलाने जैसे मामलों में। इसका एक पसन्दीदा स्पष्टीकरण यह है कि किशोर अपने जोखिम भरे आचरण के सम्भावित नतीजों का सही अनुमान नहीं लगा पाते हैं। उदाहरण के लिए, वे यह मानते लगते हैं कि वे अमर हैं, या उन्हें किसी नशे की लत कभी पड़ ही नहीं सकती, या वे कभी गर्भवती नहीं हो सकतीं। आजकल ज़्यादा से ज़्यादा स्कूल व अन्य समूह किशोरों को इन मुद्दों पर जागरूक बना रहे हैं। सम्भव है कि जागरूकता बढ़ाने के कार्यक्रमों का किशोरों के आचरण पर कुछ असर पड़ता हो, पर जिन किशोरों को 'तथ्य' पता हों वे भी जोखिम भरा आचरण करते हैं। मनोवैज्ञानिक लैरी स्टाइनबर्ग हमें बताते हैं कि जागरूकता अभियानों और जोखिम भरे आचरण के स्तर में कमी के बीच लगभग कोई भी सम्बन्ध नहीं होता है। आखिर हम संज्ञानात्मक विकास सम्बन्धी शोध से यह तो जानते ही हैं कि किशोर छोटे बच्चों की तुलना में अधिक परिष्कृत और तार्किक विचारक होते हैं। यही नहीं, हम यह भी जानते हैं कि वे परिकल्पित स्थितियों, जैसे लापरवाही से गाड़ी चलाने के नतीजों की कल्पना भी कर सकते हैं। तकरीबन पन्द्रह साल की उम्र में हमारे विद्यार्थी अपने चिन्तन में उतने ही तार्किक हो जाते हैं जितने हम। इसलिए यह सम्भव नहीं लगता कि उनका व्यवहार वास्तव में इस विश्वास से उपजता है कि वे *वाकई* में अमर हैं, या कभी गर्भधारण नहीं कर सकते, या उन्हें कभी एड्स नहीं होगा। इसके बावजूद यह एक ठोस तथ्य है कि किशोरावस्था में जोखिम उठाने का स्तर उम्र की किसी भी दूसरी अवस्था से ज़्यादा होता है। तो फिर इस विरोधाभास का स्पष्टीकरण क्या हो सकता है?

इसका उत्तर देने के लिए हमें मस्तिष्क के दो संजालों (network) से परिचित होना होगा। इनमें एक है **संज्ञानात्मक नियंत्रण संजाल** (cognitive control network), जो मस्तिष्क के बाहरी क्षेत्रों (prefrontal and parietal cortices) में स्थित होता है, और दूसरा है **सामाजिक-भावनात्मक संजाल** (socio-emotional network), जो एमीग्डाला जैसे लिम्बिक और

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

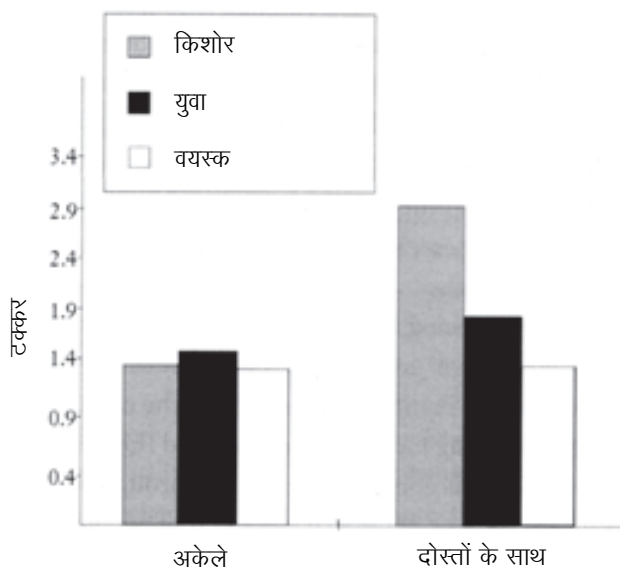
पैरालिम्बिक क्षेत्रों (limbic and paralimbic areas) में स्थित होता है। संज्ञानात्मक नियंत्रण में शामिल है आगे का सोचना, आवेगों पर नियंत्रण, तुष्टि पाने में विलम्ब (यानी भविष्य में किसी पुरस्कार के लिए काम करना) और आत्म-नियमन (self-regulation)। इनसे ताल्लुक रखने वाले मस्तिष्क के भाग क्रमशः और लगातार शुरुआती वयस्क अवस्था तक विकसित होते जाते हैं। वयःसन्धि की शुरुआत इन क्षेत्रों के परिपक्व होने की प्रक्रिया पर कोई विशेष असर नहीं डालती। इसके विपरीत भावनात्मक व सामाजिक उद्दीपनों के प्रति संवेदनशीलता, संवेदनों की तलाश और पुरस्कार पाने के प्रति अभिमुखीकरण (खास तौर से तात्कालिक पुरस्कार पाने की ललक) को सामाजिक-भावनात्मक संजाल नियंत्रित करता है। इससे सम्बन्धित मस्तिष्क के हिस्से वयःसन्धि के दौरान अधिक संवेदनशील और आसानी से उत्तेजित हो जाते हैं और किशोरावस्था के हॉर्मोनल बदलावों से खास तौर से प्रभावित भी होते हैं।

किशोरावस्था के दौरान कई निर्णय लेने की परिस्थितियाँ इन दोनों संजालों को एक-दूसरे से प्रतिस्पर्धा की स्थिति में ले आती हैं। जब किशोर अकेला होता है तब सामाजिक-भावनात्मक संजाल कम सक्रिय होता है, और संज्ञानात्मक नियंत्रण संजाल उसकी निर्णय प्रक्रिया को दिशा दे पाता है। परन्तु अपने हमउम्र साथियों की मौजूदगी जैसी भावावेग की स्थितियों में स्थिति इससे ठीक उलट हो जाती है। ऐसी स्थितियों में संज्ञानात्मक नियंत्रण व्यवस्था पूरी तरह शक्तिहीन हो जाती है, *खास तौर से* किशोरों में जिनमें यह प्रणाली पूरी तरह विकसित भी नहीं हुई होती। स्टाइनबर्ग की परिकल्पना है कि हमउम्र साथियों की उपस्थिति सामाजिक पुरस्कार-सा काम करती है, और यों मस्तिष्क के उन हिस्सों को सक्रिय कर देती है जो इन परिस्थितियों के प्रति संवेदनशील हों। नतीजतन एक खास तरह से व्यवहार या काम करने के उद्दीपन पैदा होते हैं और उन पर अमल कर ही लिया जाता है क्योंकि किशोर उन्हें रोक ही नहीं पाते। हाल में मस्तिष्क स्कैन शोध ने इस सामान्य बिन्दु की पुष्टि कई तरह से की है। उदाहरण के लिए, समसमूह प्रभाव के प्रति ज़्यादा और कम प्रतिरोध वाले विद्यार्थियों पर एक अध्ययन किया गया। इस अध्ययन ने दर्शाया कि जब विद्यार्थियों को गुस्साए हुए लोगों के वीडियो दिखाए गए और उसके बाद उनके मस्तिष्क

का स्कैन किया गया तो मस्तिष्क की गतिविधि के पैटर्न में अन्तर पाया गया। जिन विद्यार्थियों ने एक प्रश्नावली में (देखें बॉक्स-1) समसमूह प्रभाव के प्रति कम प्रतिरोध होने का संकेत दिया था, उनके प्रीमोटर क्षेत्र में अधिक मस्तिष्क गतिविधि थी। यह क्षेत्र दूसरों के व्यवहार को बूझने और अपने व्यवहार की तैयारी के लिए ज़िम्मेदार है। इसके विपरीत जिन विद्यार्थियों ने प्रश्नावली द्वारा समसमूह प्रभाव के प्रति ज़्यादा प्रतिरोध का संकेत दिया था उनके प्रीमोटर और प्रीफ्रंटल क्षेत्रों के जुड़ावों में अधिक मस्तिष्क गतिविधि थी (ये जुड़ाव विवेक से लिए गए निर्णयों के लिए ज़िम्मेदार होते हैं)। मस्तिष्क के प्रीमोटर और प्रीफ्रंटल क्षेत्रों में ज़्यादा जुड़ाव सम्भवतः भावावेग की प्रतिक्रियाओं को ज़रूरत पड़ने पर रोकने में मदद करता है। एक बात और, कम और ज़्यादा प्रतिरोध वाले विद्यार्थियों के बीच यह अन्तर उस वक्त गायब हो गया जब वे तटस्थ-सी फिल्म-क्लिपों को देख रहे थे। यह ज़रूर लगता है कि समसमूह प्रभाव का प्रतिरोध कर पाना भावनात्मक और सामाजिक 'मादकता' (high) (जो हमउम्र साथियों की उपस्थिति से प्रेरित होती है) और आत्म-नियमन व आवेग नियंत्रण के बीच सन्तुलन बैठा पाने का मसला है।

स्टाइनबर्ग एक और रोचक अध्ययन की बात भी बताते हैं जो जोखिम उठाने की प्रवृत्ति पर समसमूह साथियों की उपस्थिति के पड़ने वाले असर पर किया गया था। इसमें किशोरों (तेरह से सोलह वर्ष), कॉलेज के विद्यार्थियों (अठारह से बाईस साल) और वयस्कों (चौबीस साल से बड़े) को एक कम्प्यूटर खेल खेलने को दिया गया। इस खेल में अंक पाने के लिए एक वाहन को यथासम्भव दूरी तक चलाना था। खेल में कुछ बिन्दुओं पर यातायात बत्ती पीली और फिर लाल हो जाती थी। लाल बत्ती को पार करने पर टक्कर होने की सम्भावना रहती थी। मनोवैज्ञानिकों ने यह मापने की कोशिश की कि लोग कितनी बार पीली बत्ती से आगे बढ़ने की कोशिश करते हैं – दूसरे शब्दों में कहें तो जोखिम भरा निर्णय लेते हैं। आधे प्रतिभागियों ने यह खेल अकेले खेला, और बाकी आधे ने दो दोस्तों की मौजूदगी में, जो खेल देखने के साथ सलाह भी दे रहे थे। नीचे बना चित्र नतीजों को साफ-साफ दर्शाता है: किशोरों, और कुछ कम हद तक युवाओं

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?



वाहन चलाने के वीडियो खेल के दौरान अकेले और मित्रों के साथ खेलते हुए किशोरों, युवाओं और वयस्कों द्वारा जोखिम उठाना

में हमउम्र साथियों की मौजूदगी में जोखिम उठाने के आचरण में इज़ाफ़ा हुआ। अकेले खेलते समय तीनों समूहों के खेलने के तरीके में काफी समानता थी।

यह शोध इस निष्कर्ष की ओर संकेत करता है कि अगर हम चौदह से सत्रह वर्षीय किशोरों से जोखिम मोल लेने के आचरण और उसके परिणामों पर केवल बातचीत करें तो उसका सिर्फ सीमित असर होगा। इसलिए, क्योंकि तीव्र भावावेग जगाने वाली स्थितियों में वे अपने निर्णयों को नियंत्रित कर पाने में लगभग असमर्थ होते हैं। स्टाइनबर्ग इसके बदले बाहरी उपायों की सिफारिश करते हैं, जैसे सिगरेट की कीमतें बढ़ाना, वाहन चलाने की मान्य आयु में वृद्धि करना, और मानसिक स्वास्थ्य व गर्भनिरोध सेवाओं तक उनकी पहुँच बढ़ाना। उनके शब्दों में, वे **‘अपरिपक्व फैसलों के नुकसानदेह परिणामों के अवसरों को सीमित करने’** की माँग करते हैं। यह सुझाव बढ़िया है, पर इसमें दुरुपयोग की खूब सम्भावना भी है! इसका अर्थ

यह कतई नहीं लगाना चाहिए कि हमें इस कठिन दौर में अपने विद्यार्थियों की थानेदारी करनी पड़ेगी और उन पर अविश्वास करना पड़ेगा। किशोरों पर हुए शोध की एक ज़्यादा समग्र समझ हमें इससे कहीं ज़्यादा सूक्ष्म, और अन्तरिम (tentative) नज़रिया अपनाने की दिशा दिखाती है। साथ ही हमारे किशोर विद्यार्थी जहाँ एक ओर अविवेकपूर्ण आचरण कर सकते हैं, वहीं अपने चिन्तन में बेहद तार्किक भी हो सकते हैं। इन दोनों प्रवृत्तियों में सन्तुलन बैठाकर अपने विद्यार्थियों में मौजूद सबसे अच्छे गुणों को उभारने के लिए आपको काम करने के अलग-अलग तरीकों को आजमाने और विद्यार्थियों के फीडबैक के अनुसार लगातार बदलाव करते जाने की ज़रूरत होगी। यह वादा कोई नहीं कर रहा कि ऐसा करना आसान होगा। मगर यह बेहद महत्वपूर्ण है कि हम किशोरों की सकारात्मक सम्भावना को हमेशा दिमाग में रखें। आगे जिस शोध का वर्णन किया जा रहा है वह उनके विकास के इस चेहरे को खूबसूरती से प्रस्तुत करता है।

किशोरावस्था में हम तकरीबन बीसेक साल की ज़बरदस्त वृद्धि और विकास की प्रक्रिया की पराकाष्ठा देख रहे होते हैं। इस चरण के समापन के साथ कई बातों को पूर्ण और स्थिर हुआ माना जाता है, जैसे कद, कामकाजी याददाश्त, मस्तिष्क का आकार और बुद्धि-लब्धि (I.Q.)। बेशक, ज्ञान और कौशल आजीवन विकसित होते जाते हैं। एक ऐसा क्षेत्र जिसमें शायद हम यह मानें कि किशोरावस्था के अन्त के साथ विकास भी समाप्त नहीं हो जाता, है, **सूझबूझ या समझदारी (wisdom)**। हम में से अधिकांश यह मानते हैं कि आप तब तक समझदार नहीं हो सकते जब तक आप काफी उम्रदराज़ न हो गए हों। हम निश्चित रूप से किसी इक्कीस वर्षीय युवक को 'समझदार युवक' तो नहीं कहते (सिवाय मज़ाक में!)। मनोवैज्ञानिक पॉल बाल्टेस ने दशकों तक जीवन-अवधि विकास और वयस्क मनोविज्ञान के कई पहलुओं का अध्ययन किया है। उन्होंने सूझबूझ का अध्ययन करने के दुष्कर काम को उठाया है। इतने अमूर्त गुण के अध्ययन में सबसे पहली और सबसे कठिन चुनौती है उसकी एक उपयोग-लायक परिभाषा गढ़ना। बाल्टेस और उनके सहकर्मी सूझबूझ या समझदारी को कुछ इस प्रकार परिभाषित करते हैं: 'जीवन की उन बुनियादी व्यावहारिकताओं का विशिष्ट ज्ञान जो पेचीदा और अनिश्चित मामलों में असाधारण अन्तरदृष्टि रखने,

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

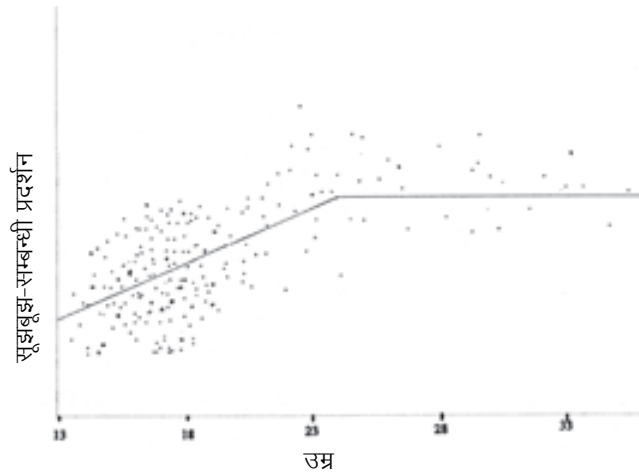
फैसले करने और परामर्श देने की गुंजाइश देता हो।' वे इसे सूझबूझ सम्बन्धी ज्ञान और फैसला कहते हैं और उसे पाँच मानदण्डों पर आधारित करते हैं जो नीचे दी हुई तालिका में दर्शाए गए हैं।

जैसा सभी उपयोग-लायक परिभाषाओं के साथ होता है, आप इस परिभाषा से सहमत हो भी सकते हैं और नहीं भी। परन्तु इतना तो है कि यह परिभाषा तुलनात्मक रूप से स्पष्ट है। बाल्टेस और अन्यों ने इस रोचक परिवर्तनशील कारक का पच्चीस से अस्सी वर्षीय वयस्कों में अध्ययन किया है। और उन सबने आश्चर्यजनक रूप से यह पाया कि सूझबूझ या समझदारी उम्र के साथ खुद-ब-खुद नहीं बढ़ती है। उनकी परिभाषा और विधियों के अनुसार उम्र में बढ़े होने का अर्थ हमेशा समझदार होना नहीं होता। बल्कि सूझबूझ-सम्बन्धी ज्ञान और फैसलों को जो घटक निर्मित करते हैं वे कुछ खास तरह के अनुभव और व्यक्तिगत चारित्रिक गुण प्रतीत होते हैं, जैसे अनुभव के प्रति खुलापन और चीजों पर सोच-विचार करने की प्रवृत्ति।

सूझबूझ के मानदण्ड	संक्षिप्त वर्णन
1. जीवन के बारे में समृद्ध अवधारणात्मक (conceptual) ज्ञान।	जीवन के विविध मुद्दों, सामान्य और विशिष्ट दोनों को, गहराई से जानना।
2. जीवन के बारे में समृद्ध प्रक्रियात्मक (procedural) ज्ञान।	निर्णय लेना, समस्याओं का समाधान करना, लक्ष्य प्राप्त करना और विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों में परामर्श देना आना।
3. जीवन-अवधि सन्दर्भवाद।	अतीत, वर्तमान और सम्भावित भावी परिस्थितियों को समझना।
4. मूल्य सापेक्षवाद।	सार्वभौमिक मूल्यों (जो सबकी भलाई के लिए हों) के एक छोटे समूह का होना, साथ ही यह समझना कि जीवन में कई मूल्य सापेक्ष होते हैं।
5. अनिश्चितता को पहचानना और उसका प्रबन्धन।	यह जानना कि जीवन है ही अनिश्चित और उस अनिश्चितता से कैसे निपटना है, यह जानना।

तो क्या सूझबूझ या समझदारी भी एक और ऐसी विशेषता है जो किशोरावस्था में ही परिपक्वता तक पहुँचती है? बाल्टेस और उनके सहकर्मी मोनीशा पशुपति व अरसुला स्टाउडिगर ने किशोरों में 'बुद्धिमत्ता के बीजों' की तलाश करने का निर्णय लिया। बर्लिन के स्कूलों के डेढ़ सौ विद्यार्थियों, जो चौदह से उन्नीस वर्ष की आयु के थे, और बीस से सैंतीस साल के साठ युवाओं को कुछ परिकल्पित दुविधाओं पर चिन्तन करने को कहा गया, जैसे:

- 'एक किशोर या किशोरी को पता चलता है कि उसे उस परीक्षा में असफलता मिली है जो उसके भविष्य के लिए बेहद महत्वपूर्ण है। ऐसी स्थिति में किसी व्यक्ति या उस किशोर या किशोरी द्वारा क्या करा और सोचा जा सकता है?'
- 'किसी किशोर या किशोरी को एहसास होता है कि उसे अपने दोस्तों की योजनाओं में अब शामिल नहीं किया जा रहा है। ऐसी परिस्थिति में किसी व्यक्ति या उस किशोर या किशोरी द्वारा क्या करा और सोचा जा सकता है?'
- 'अपने जीवन पर सोच-विचार करते समय किसी व्यक्ति को लगता है कि उसने वह सब हासिल नहीं किया है जिसकी कल्पना उसने कभी की थी। ऐसी स्थिति में कोई व्यक्ति या वह व्यक्ति क्या कर सकता है?'



स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

विद्यार्थियों और युवाओं से कहा गया कि वे इन दुविधाओं पर 'बोलते हुए चिन्तन' करें, और उनके विचारों का पहले बताए गए पाँच मानदण्डों के आधार पर आकलन किया गया। परिणाम आश्चर्यजनक थे – पाँचों मानदण्डों पर चौदह से तेईस वर्षीय लोगों के अंकों में तेज़ बढ़त रही। परन्तु तेईस और उससे अधिक उम्र के लोगों में उम्र के साथ कोई इज़ाफ़ा नज़र नहीं आया (देखें पिछले पन्ने पर दिए गए चित्र को)।

यह अध्ययन स्पष्ट इशारा करता है कि सूझबूझ सम्बन्धी ज्ञान और निर्णय क्षमता का चौदह से उन्नीस वर्ष की आयु में एक मानकीय (normative) तरीके से विकास होता है। अर्थात् वह ऐसे घटकों द्वारा निर्धारित होता है जो सभी किशोरों के लिए एक जैसे होते हैं। परन्तु इसके बाद सूझबूझ का आगे का विकास गैर-मानकीय (non-normative) होता है, या व्यक्तिगत घटकों द्वारा निर्धारित होता है। यह तथ्य माँग करता है कि हम किशोरावस्था और शुरुआती वयस्क अवस्था के बारे में जिस प्रकार सोचते हैं, उसमें बदलाव करें। आप इसे सूझबूझ कहें, समझदारी या कोई दूसरा नाम दें, हमें कम उम्र वाले इन लोगों को उस गुण का श्रेय भी देना होगा जो हम अमूमन सिर्फ अपने लिए या उम्र में काफी बड़े लोगों के लिए आरक्षित रखते हैं। दूसरे शब्दों में, सूझबूझ के बीज वास्तव में किशोरावस्था में ही मिलते हैं।

निष्कर्ष

हमारे विद्यार्थी कब किशोरावस्था में सरक आते हैं, उसका एहसास तक हमें नहीं हो पाता। अचानक एक दिन आप पाते हैं कि आप किसी बारह वर्षीय लड़की से ऊपर देखते हुए बात कर रहे हैं, या फोन पर किसी चौदह वर्षीय लड़के को उसका पिता समझ रहे हैं। हालाँकि हमारी नज़रों में वे अब भी 'बच्चे' ही होते हैं, वे हमसे अलग प्रकार का बर्ताव चाहते हैं, जो उचित भी है। इन तूफानी और उत्तेजक वर्षों के दौरान उनके मन-मस्तिष्क और जीवन में चलने वाली बातों के प्रति अधिक जागरूकता हमें उनके साथ काम करते समय ज़्यादा संवेदनशील, समझदार और धैर्यवान बनाएगी। और शायद तब 'किशोरावस्था' शब्द अपनी नकारात्मकता को उतार फेंक सकेगा।

सन्दर्भ और पुस्तक सूची

1. आर्नेट, जे.जे., 1999। 'अडोलेसेंट स्टॉर्म एंड स्ट्रैस, रीकंसिडर्ड।' *अमेरिकन साइकोलॉजिस्ट*, खण्ड-54, संख्या-5, 317-26
2. बुकानन, सी.एम., जे.एस. एक्ले, और जे.बी. बेकर, 1992। 'आर अडोलेसेंट्स द विक्टिम ऑफ रेजिंग हॉर्मोन्स: एविडेंस फॉर ऐक्टिवेशनल इफेक्ट्स ऑफ हॉर्मोन्स ऑन मूड्स एंड बिहेवियर एट अडोलेसेंस।' *साइकोलॉजिकल बुलेटिन*, खण्ड-111, संख्या-1, 62-107
3. केसी, बी.जे., जे.एन. गिएड, और के.एम. थॉमस, 2000। 'स्ट्रक्चरल एंड फंक्शनल ब्रेन डेवलपमेंट एंड इट्स रिलेशन टू कॉग्निटिव डेवलपमेंट।' *बायोलॉजिकल साइकोलॉजी*, खण्ड-54, 241-57
4. एक्ले, जे.एस., सी. मिजली, ए. विगफील्ड, सी.एम. बुकानन, डी. रियूमैन, सी. फ्लैनगन, और डी. मैक आइवर, 1993। 'डेवलपमेंट ड्यूरिंग अडोलेसेंस: द इम्पैक्ट ऑफ स्टेज-एंडॉयरमेंट फिट ऑन यंग अडोलेसेंट्स' एक्सपीरियंसेज़ इन स्कूल्स एंड इन फैमिलीज़,' *अमेरिकन साइकोलॉजिस्ट*, खण्ड-48, संख्या-2, 90-101
5. फुलिगनी, ए.जे., 1998। 'अथोरिटी, ऑटोनमी एंड पेरेंट-अडोलेसेंट कॉन्फ्लिक्ट एंड कोहेज़न: अ स्टडी ऑफ अडोलेसेंट्स फ्रॉम मैक्ज़िकन, चाइनीज़, फिलिपीनो एंड यूरोपियन बैकग्राउंड्स।' *डेवलपमेंटल साइकोलॉजी*, खण्ड-34, संख्या-4, 782-92
6. लार्सन, आर.डब्ल्यू. और एम. हैम, 1993। 'स्ट्रैस एंड 'स्टॉर्म एंड स्ट्रैस' इन अर्ली अडोलेसेंस: द रिलेशनशिप ऑफ नेगेटिव ईवेंट्स विद डिस्फोरिक अफैक्ट।' *डेवलपमेंटल साइकोलॉजी*, खण्ड-29, संख्या-1, 130-40
7. लार्सन, आर.डब्ल्यू., 2000। 'टुवर्ड अ साइकोलॉजी ऑफ पॉज़िटिव यूथ डेवलपमेंट।' *अमेरिकन साइकोलॉजिस्ट*, खण्ड-55, संख्या-1, 170-83
8. पशुपति, एम., यू.एम. स्टाउडिंगर, और पी.बी. बाल्टेस, 2001। 'सीड्स ऑफ विज़डम, अडोलेसेंट्स नॉलेज एंड जजमेंट अबाउट डिफिकल्ट लाइफ प्रॉब्लम्स।' *डेवलपमेंटल साइकोलॉजी*, खण्ड-37, संख्या-3, 351-61
9. रोएसर, आर. डब्ल्यू., जे.एस. एक्ले, और ए.जे. समेरॉफ, 1998। 'अकैडमिक एंड इमोशनल फंक्शनिंग इन अर्ली अडोलेसेंस।' *डेवलपमेंट एंड साइकोपैथॉलजी*, 10, 321-52
10. रोएसर, आर.डब्ल्यू., और एम.जी. गैलोवे, 2002। 'स्टडीइंग मोटिवेशन टू लर्न इन

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

अर्ली अडोलेसेंस: अ होलिस्टिक पर्सपेक्टिव।' टी. उर्डन और एफ. पैजेरस (सम्पादित)
एकेडमिक मोटिवेशन ऑफ अडोलेसेंस: अडोलेसेंस एंड एज्युकेशन, खण्ड-2, (पृष्ठ,
331-72) में शामिल। ग्रैनिच, सी.टी.: इंफॉर्मेशन एज पब्लिशिंग।

11. रोएसर, आर.डब्ल्यू., सी. मिजली, और टी.सी. अर्बन, 1996। 'पर्सपेक्शंस ऑफ द
स्कूल साइकोलॉजिकल एंवायरमेंट एंड अर्ली अडोलेसेंट्स साइकोलॉजिकल एंड
बिहेवियरल फंक्शनिंग इन स्कूल: द मीडिएटिंग रोल ऑफ गोल्स एंड बिलॉन्गिंग।' *जर्नल ऑफ एज्युकेशनल साइकॉलजी*, खण्ड-88, संख्या-3, 408-22
12. स्टाइनबर्ग, एल., 2005। 'कॉग्निटिव एंड अफैक्टिव डेवलपमेंट इन अडोलेसेंस।' *ट्रेंड्स इन कॉग्निटिव साइंस*, 9(2), 69-74
13. स्टाइनबर्ग, एल., 2007। 'रिस्क टेकिंग इन अडोलेसेंस: न्यू पर्सपेक्टिव्स फ्रॉम ब्रेन एंड
बिहेवियरल साइंस।' *करेंट डाइरैक्शंस इन साइकोलॉजिकल साइंस*, 16(2), 55-59
14. स्टाइनबर्ग, एल., और के.सी. मोनाहन, 2007। 'एज डिफरेंसेस इन रेज़िस्टेंस टू
पीयर इन्फ्लूएंस।' *डेवलपमेंटल साइकॉलजी*, खण्ड-43, संख्या-6, 1531-43

इन्डेक्स

- अति-औचित्यपूर्ण (Over-justification), 149, 216
- अधिसंज्ञान (Metacognition), 64, 106, 111, 201, 303
- अनुशासन, 138, 144, 160, 162-64, 274, 287
- अन्तःकरण या आत्म-चेतना (Conscience), 153, 160
- अन्तर्वेशन (Infusion), 64
- अन्तर्सांस्कृतिक विचार (Cross-cultural ideas), 151, 155, 302
- अपराधबोध, 153, 159, 160, 172, 260, 282
- अभ्यास या दोहराव, 34, 57-59, 86, 109, 250
- अमूर्त-क्रियात्मक तर्ककर्ता (Formal-operational reasoners), 303, 304
- अवधारणात्मक बदलाव (Conceptual change), 32, 39, 42-46, 51, 52
- अहंकारी (Egoistic), 154
- आइंस्टाइन, एल्बर्ट (Einstein, Albert), 113
- आइज़ेनबर्ग, नैन्सी (Eisenberg, Nancy), 150, 169, 280
- आइसेन, एलिस (Issen, Alice), 266
- आकलन (Assessment), 237-39, 240, 247, 250, 251-52, 254-57
- गुणात्मक (Qualitative), 239, 255-56
- निर्माणात्मक (Formative), 238, 247
- पोर्टफोलियो विधि, 193, 240, 251
- भरोसेमन्द (Reliable), 182, 240-42, 245-46, 250, 254, 256
- योगात्मक (Summative), 238, 247
- वस्तुनिष्ठ (Objective), 255-56, 285-86
- वैध (Valid), 240-49, 250-51, 296
- सहयोगात्मक (Collaborative) परीक्षा, 240, 252
- आचरण/व्यवहार (Behaviour)
- आक्रामक (Aggressive), 137, 144-45, 157-58, 160-61, 165-66, 197, 230, 260, 277, 298-99, 300, 312
- ज़िम्मेदार (Responsible), 140, 169, 172, 283, 308
- जोखिम उठाने वाला (Risk-taking), 264, 295, 298, 306, 317-19, 320

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

- नियंत्रक/नियंत्रणकारी (Controlling), 138, 146, 148, 225-27, 307-08
- व्यक्तिगत (Personal), 157, 302
- समाजोन्मुख/समाजोपयोगी (Pro-social), 158-59, 267, 312
- सहयोगात्मक/सहकारी (Cooperative), 32, 144-45, 158, 222, 230, 252, 282, 284
- स्वायत्तता समर्थक (Autonomy supporter), 225-28
- आत्मकेन्द्रितता (Egocentricism), 98, 99, 100
- आत्मसात करना (Internalisation), 48, 64, 145, 153, 161-62, 164-65, 170-73, 201, 213-14, 280
- नियमों को, 145, 161
- मूल्यों को, 162, 164-65, 173
- आत्म-प्रतिष्ठा (Self-esteem), 211, 219, 224, 284-89, 290-91
- आनुवंशिक गुणसूत्र, 122-127, 136, 138-39, 178-79
- आनुवंशिक पूर्ववृत्ति (Genetic predisposition), 125, 131, 134, 136
- आरसेनियो, विलियम्स (Arsenio, Williams), 166
- आलोचनात्मक चिन्तन (Critical Thinking), 62, 239
- इज़र्ड, कैरॉल (Izard, Carroll), 169, 172
- इम्मॉरदीनो-यांग, मेरी हेलेन (Immordino-Yang, Mary Helen), 261
- उद्विकासीय मनोविज्ञान (Evolutionary Psychology), 29, 131, 185
- ऊँचे दौंव वाली परीक्षा (High-stake examinations), 238-39, 247, 249
- एक्ले, जैकलिन (Eccles, Jacqueline), 298, 307
- एरिकसन, एरिक (Erikson, Erik), 300
- कक्षा का वातावरण, 210, 222, 231, 274
- विपन्न/साधनहीन, 115, 130, 135-36
- सामान्य/समृद्ध, 116-17, 125, 130-32, 135-36
- कक्षा, स्वायत्तता उन्मुख (Autonomy-oriented classroom), 228
- प्रतिस्पर्धात्मक (Competitive), 222, 224, 231, 274
- व्यक्तिपरक (Individualistic), 223, 231
- सहकारात्मक (Cooperative), 222, 224
- किंडरगार्टन-पूर्व कार्यक्रम (Pre-kindergarten programmes), 109
- किशोरावस्था में हॉर्मोन, 298, 299
- कील, फ्रैंक (Keil, Frank), 105
- कुशल/सक्षम होने का एहसास (Competent feeling), 212, 228, 244, 283, 285, 308
- कूटबद्ध, 70, 84, 241, 272
- कूले, माइकेल (Cole, Michael), 133-34, 304
- कूले, शीला आर. (Cole, Sheila R.), 134
- कृष्णमूर्ति, जे. (Krishnamurti, J.), 291
- केल, रॉबर्ट (Kail, Robert), 104
- कोरी स्लेट, 41, 92, 121, 125, 139, 145
- कोलबर्ग, लॉरेंस (Kohlberg, Lawrence), 152, 154, 155-57

- कोलेस, रॉबर्ट (Coles, Robert), 167-68
 कॉस्मिडेस, लेडा (Cosmides, Leda), 30, 185
 क्रान्तिक चरण (Critical periods), 93, 94, 113-16
 क्रॉकर, जेनिफर (Crocker, Jennifer), 288, 290
 गतिविधियों की अतिव्यस्तता, 276
 गलत अवधारणा/ भ्रान्तियाँ बनना (Misconception), 47, 54, 88
 गार्डनर, हावर्ड (Gardner, Howard), 184-86, 191, 193
 गाल्टन, फ्रांसिस (Galton, Francis), 192
 गुडनाओ, जैकलिन (Goodnow, Jacqueline), 162, 163
 गूल्ड, स्टीफन जे. (Gould, Stephen J.), 177
 गेयरी, डेविड (Geary, David), 30, 31, 34, 59, 131-32, 211-12
 गैदरकोल, सूज़न (Gathercole, Susan), 82, 83
 गॉटफ्रेडसन, लिंडा (Gottfredson, Linda), 178, 203
 ग्रुसेक, जोन (Grusec, Joan), 162, 163
 चयनात्मक ध्यान (Selective attention), 104
 चरण-सा विकास (Stage-like development), 98
 ची, मिशेलिन (Chi, Michelene), 47-48, 74
 चीकसेंतमीहाय, मीहाय (Csikszentmihalyi, Mihaly), 276, 296
 चेज़, विलियम (Chase, William), 198
 जिम्बार्डो, फिलिप (Zimbardo, Philip), 252
 जैविक खतरा (Biological hazards), 118
 टर्नर, जूलिएन (Turner, Julianne), 264
 टूबी, जॉन (Tooby, John), 29, 185
 टॉमसन, कैरन (Thompson, Karen), 249
 ट्यूशन (Tution), 270, 277
 डमासियो, एंटोनियो (Damasio, Antonio), 261
 डार्विन (Darwin), 192
 डेमन, विलियम (Damon, William), 165, 173
 डेसी, एडवर्ड (Deci, Edward), 215-16, 218-19, 225-28, 290
 ड्वेक, कैरल (Dweck, Carol), 231-33
 तंत्रिकीय लचीलापन (Neural plasticity), 33, 34
 तनाव, 26, 28, 116, 118, 230, 252, 269-73, 276-78, 289, 295-96, 299
 तार्किक कौशल (Reasoning skills), 38-39, 61, 65, 104, 198
 अनौपचारिक (Informal), 61, 65
 तुलना (Comparison), 219, 222-23, 227, 229-30, 306-07, 309-10
 तुलनात्मक मूल्यांकन (Comparative evaluation), 238, 261, 274, 306, 309-10
 दुश्चिन्ता (Anxiety), 16, 113, 116, 182, 220, 252, 262-63, 268, 273, 275-77, 280, 287-89, 297-98

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

- नमनीय/लचीले (Resilient), 92, 113
नववल्कुट (Neocortex), 22, 26, 28, 32, 79, 268
नुच्ची, लैरी (Nucci, Larry), 147, 163
नेल्सन, चार्ल्स (Nelson, Charles), 116, 117
नैतिकता, 144, 151-55
नैतिकता के सहज तत्व (Innate elements of morality), 158, 159
न्याय, 151, 154, 165-67, 177
पर्किन्स, डेविड (Perkins, David), 61-62, 64, 197-98
परिणामों का भय, 161
परीक्षा को लेकर दुश्चिन्ता (Test anxiety), 109, 239, 252, 268-69
परोपकारिता (Altruism), 145, 159, 230
पशुपति, मोनीशा (Pasupathi, Monisha), 323
पहचान (Recognition), 30, 84, 101, 106, 212
पहचान का बनना (Identity formation), 300
पारस्परिक अध्यापन (Reciprocal Teaching), 63-65, 221
पिंकर, स्टीवन (Pinker, Steven), 39
पिडाडा, श्री उन्तारी (Pidada, Sri Untari), 280
पियाजे, ज्यॉ (Piaget, Jean), 18, 40, 78, 93, 97-98, 152, 154-55, 303
पुरस्कार और सज़ा (Reward and punishment), 59, 148-50, 209-10, 214-17, 318
पेक्रन, राइनहार्ड (Pekrun, Reinhard), 262, 282-84
पैरिस, स्कॉट (Paris, Scott), 200, 251
प्रकृति बनाम परवरिश, 93-94, 118, 121-27, 135-36, 139-40, 196
प्रतिरोध (Resistance), 137-38, 234, 260, 318
समसमूह प्रभाव के प्रति (To peer influence), 312-13, 318
प्रदर्शन अभिमुखीकरण (Performance orientation), 228, 231-34, 261, 264, 309
प्रवाह का अनुभव, 265
प्रवीणता अभिमुखीकरण (Mastery orientation), 228-29, 231, 233, 306
प्रवृत्ति (Instincts)
आक्रामक (Aggressive), 158, 230
सहयोगात्मक (Cooperative), 230
स्पर्धात्मक (Competitive), 158, 230
प्रेरणा/अभिप्रेरणा (Motivation)
आन्तरिक (Intrinsic), 208-10, 212-14, 226, 228, 288
बाहरी (Extrinsic), 209, 212-14, 220
प्रोसेस करने की गति (Speed of processing), 99, 103, 111-12, 183, 193, 303
फ्रेड्रिकसन, बारबारा (Fredrickson, Barbara), 266, 267
फ्रॉयड, सिगमंड (Freud, Sigmund), 93, 152-53, 155, 161, 295
फ्लिन्न, जेम्स (Flynn, James), 196
बाउमीस्टर, रॉय (Baumeister, Roy), 286, 289
बार्कस्डेल-लैड, मेरी ए. (Barksdale-Ladd, Mary A.), 249

- बाहरीक, हैरी (Bahrick, Harry), 88
- बुद्धिमत्ता (Intelligence)
- बहुल (Multiple), 184, 186
- मापन (Measuring), 176, 196
- रचनात्मक (Creative), 183, 187-88, 192-93, 266, 309
- विश्लेषणात्मक (Analytical), 187, 191, 193
- व्यावहारिक (Practical), 187-89, 190-93
- बुद्धिमान नौसिखिए (Intelligent novice), 197-99, 201
- बुद्धि-लब्धि (IQ), 132, 177-79, 180-84, 186, 190-91, 193, 195-96, 201-03
- प्राप्तांकों में वृद्धि (Boost scores), 201, 202, 203
- बेईमानी, 172, 239
- बेट्स, जॉन (Bates, John), 137
- बेयर, जॉर्ज (Bear, George), 169, 172
- बैल वक्र (Bell curve), 177, 179, 180
- बॉलटेस, पॉल (Baltes, Paul), 321, 322
- ब्राउन, ऐन (Brown, Ann), 63, 64
- ब्रूअर, जॉन (Bruer, John), 197, 200-01
- ब्यॉर्कलुंड, डेविड (Bjorklund, David), 110-12
- भावनात्मक परिपक्वता (Emotional maturity), 278
- मज्जीकरण या मायलिन आच्छादन (Myelination), 95-97, 113
- मस्तिष्क का संजाल (Brain network)
- संज्ञानात्मक (Cognitive), 317, 318
- सामाजिक-भावनात्मक (Socio-emotional), 317, 318
- मस्तिष्क की नम्यता या लचीलापन (Brain plasticity), 95
- अनुभव-आश्रित (Experience-dependent), 96
- अनुभव-प्रत्याशी (Experience-expectant), 95, 96
- मान्यताएँ (Beliefs), 13-15, 17, 89, 140, 163
- विद्यार्थी की, 210, 231, 260, 264, 281, 289-90, 299, 300
- मेयर, डेब्रा (Mayer, Debra), 264
- मेयर, रिचर्ड (Mayer, Richard), 55, 264
- मैस्लो, अब्राहम (Maslow, Abraham), 210
- म्युलर, क्लॉडिया (Mueller, Claudia), 232
- याददाश्त (Memory), 71, 72
- अर्थगत (Semantic), 72, 73
- कामकाजी/कार्यकारी (Working), 79, 80-86, 102-03, 107, 268, 303, 307, 321
- घटना या प्रसंग आधारित (Episodic), 65, 235
- घोषणात्मक/सुस्पष्ट (Declarative/Explicit), 64, 65
- प्रक्रियात्मक/अप्रत्यक्ष (Procedural/Implicit), 64, 65, 78
- याद करना (Memorisation), 69, 71, 86-88, 111, 199, 244, 311
- याद रखना, 24, 61, 69, 73, 75, 81, 86, 101-02, 106, 111, 133, 199, 245-46
- रचनावाद (Constructivism), 15, 39, 40-42, 44, 50, 52, 55, 145, 163
- राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005, 257

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

- राष्ट्रीय शैक्षिक शोध एवं प्रशिक्षण परिषद (NCERT), 78
- रासायनिक परिवर्तन (Chemical change), 297
- अवधारणात्मक (Conceptual), 39, 42-46, 52
- गुणात्मक (Qualitative), 93-94, 97-98, 108, 110, 298
- भावनात्मक (Emotional), 297
- संख्यात्मक (Quantitative), 93, 97, 101, 108, 110, 298
- हॉर्मोन सम्बन्धी (Hormonal), 296-98, 318
- रीव, जॉनमार्शल (Reev, Johnmarshall), 226
- रुबरिक (Rubric), 252, 254
- रूसो, ज़्याँ-जाक्स (Rousseau, Jean-Jacques), 93, 143
- रैडकी-यैरो, मैरियन (Radke-Yarrow, Marian), 159, 160
- रोएसर, रॉबर्ट (Roeser, Robert), 282, 290, 306, 314
- रोगॉफ, बारबरा (Rogoff, Barbara), 133
- रोडिगर, हेनरी (Roediger, Henry), 245, 246
- लार्सन, रीड (Larson, Reed), 270, 296
- लिपमैन, मैथ्यू (Lipman, Mathew), 62
- लीव, जैफ्री (Liew, Jeffrey), 280
- लूथर, सुनिया (Luthar, Suniya), 276, 277
- लैपर, मार्क (Lepper, Mark), 216, 218
- लोक-जीव विज्ञान/भौतिकी/मनोविज्ञान (Folk biology/physics/psychology), 31-32, 212
- वर्मा, सुमन (Verma, Suman), 270, 279
- वांछनीय मनोवृत्तियाँ (Desirable disposition), 109
- वाडेल, कैथरीन (Waddel, Kathryn), 133
- वायगोत्स्की (Vygotsky), 18
- वासुदेव, ज्योत्सना (Vasudev, Jyotsana), 157
- विरासती (Heritable), 123
- विलम्बित नकल (Delayed imitation), 128
- विशेषज्ञ, 31, 59, 62, 178, 197-98, 203, 249, 321
- विषाक्त सामाजिक वातावरण (Toxic social environments), 166
- वोहरा, निहारिका (Vohra, Neharika), 16, 17
- वॉसनिएडाओ, स्टेला (Vosniadou, Stella), 44, 45
- व्यक्तिगत अन्तर (Individual differences), 81, 125, 136-37, 194, 197
- व्यवहारवादी विचारधारा (Behavioural school), 146, 148
- व्यवहार-सम्बन्धी विशेषताएँ (Temperamental characteristics), 137-38, 162-63, 299
- शर्मा, दीपाली (Sharma, Deepali), 270
- श्वेडर (Shweder), 151, 152
- संवाद, 63, 152, 172-73, 314-16
- संवेदनशील चरण (Sensitive periods), 114, 116-17
- संज्ञानात्मक अपरिपक्वता (Cognitive immaturity), 110

- संज्ञानात्मक विकास (Cognitive development), 101, 113-16, 145, 152, 154, 303, 317
- सकारात्मक अनुभूति (Positive affect), 266, 267
- सकारात्मक प्रतिपुष्टि/ प्रशंसा (Positive feedback/Praise), 149, 217-19, 232-33, 285, 289
- सकारात्मक मनोविज्ञान (Positive psychology), 277
- सक्रिय रूप से अनुकूलित (Operantly conditioned), 128, 137
- सत्ता का दबदबा (Power assertion), 164, 165, 166
- समाजीकरण, 93, 143-45, 153, 161-62, 166
- समानुभूति (Empathy), 145, 147, 150-51, 158, 160, 164, 166, 169, 209
- सहयोगी परीक्षा (Collaborative test), 240, 252
- साइमन, हर्बर्ट (Simon, Herbert), 198
- सामाजिक दर्जा (Social status), 280
- सामाजिक वर्ग (Social class), 177, 276, 286, 313
- सामान्यीकरण, 65, 71, 129, 288
- सीखना (Learning)
- अप्रत्यक्ष/प्रक्रियात्मक (Implicit/Procedural), 25, 38-39, 56-58, 60-61
- अवधारणात्मक (Conceptual), 38-39, 48-49, 57-58, 60-61,
- खोजना (Discovery), 22, 35, 51-54, 70, 94, 303
- निर्देशित (Guided), 54
- विशुद्ध (Pure), 53, 54
- गैर-जन्मजात (Non-innate), 30, 33-34, 38-39, 58-59
- जन्मजात (Innate), 30, 32-34, 38, 58-59
- प्रतिपादक विधि (Expository approach), 52
- सहयोगात्मक (Collaborative), 63, 224, 252
- स्पष्ट/प्रत्यक्ष (Explicit), 25, 130-31, 200-01, 304
- सीखने का स्थानान्तरण (Transferred learning), 55, 199
- सीग्लर, रॉबर्ट (Siegler, Robert), 101
- सुजनन विज्ञान (Eugenics), 179
- सूचना प्रसंस्करण/ प्रोसेस करना (Information processing), 101, 107, 130, 307
- सूझबूझ (Wisdom), 111, 117, 321-324
- सेसी, स्टीफन (Ceci, Stephen), 202, 203
- सैलोमन, गेवरिएल (Salomon, Gavriel), 198
- स्किनर (Skinner), 93
- स्कूल-जैसे काम, 133
- स्कूल में शिक्षित बच्चे, 133, 135
- स्टर्नबर्ग, रॉबर्ट (Sternberg, Robert), 184, 186-87, 191, 193
- स्टाइनबर्ग, लैरी (Steinberg, Larry), 312-13, 317, 319
- स्टाउडिंगर, अरसुला (Staudinger, Ursula), 323
- स्पीयरमैन, चार्ल्स (Spearman, Charles), 184
- स्मृति सहायक विधियाँ (Mnemonics), 87
- स्वचालितता (Automaticity), 60, 81, 84-85, 87, 112-13

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

हमेल, रेमंड (Hummel, Raymond), 157
हायसन, मेरिऑन (Hyson, Marion), 109
हिप्पोकैम्पस (Hippocampus), 24-26, 32,
79, 116, 268, 272-73

हुनर (Skills),
सन्दर्भ-आश्रित तर्क शक्ति (Context-
dependent reasoning), 61,
183, 197

हेंडरलॉन्ग, जेनिफर (Henderlong,
Jennifer), 218

क्षमताएँ
जैविक प्राथमिक, 34
जैविक द्वितीयक, 34

ज्ञान (Knowledge)
अर्थगत (Semantic), 73, 74

अवधारणात्मक (Conceptual), 37-39,
58-59, 60, 65, 197, 322

आत्मसात करना (Assimilation), 40
की औपचारिक व्यवस्था (Formal
organisation of), 135

जड़ (Inert), 62

डोमेन/क्षेत्र-विशेष (Domain-
specific), 197-99, 291, 302

प्रक्रियात्मक/अप्रत्यक्ष (Procedural/
Implicit), 38-39, 56, 58-59,
60, 65, 87, 106-07, 197, 322

प्रत्यक्ष (Explicit), 106

समायोजित करना (Accommodation),
40

स्कीमा (Schema), 40, 42-44, 46, 48,
52, 54, 78, 163

भ्रान्तियों (Misconceptions),
42

इच्छेक्स

प्रकाशन सहयोग – विप्रो एप्लाइंग थॉट इन स्कूल्स (WATIS)
एवं पराग इनिशिएटिव, SRTT & NRTT

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?

सायराक्यूज़ विश्वविद्यालय, न्यू यॉर्क से शैक्षणिक मनोविज्ञान में पीएच.डी. करने और कुछ वर्षों तक स्नातक-पूर्व विद्यार्थियों को पढ़ाने के बाद कमला वी. मुकुन्दा 1995 में भारत लौटीं। फिर वे बंगलूरु स्थित अनौपचारिक स्कूल, सेंटर फॉर लर्निंग से जुड़ीं जो शिक्षा की प्रकृति की छानबीन करने में लगा है (www.cfl.in)। इस दौरान कमला ने पाया कि शिक्षक और पालक दोनों ही उन तमाम शैक्षणिक प्रश्नों के प्रति सक्रिय जिज्ञासा रखते हैं जो परम्परागत रूप से मनोवैज्ञानिकों के शोध का विषय रहे हैं। परन्तु मनोवैज्ञानिक बिरले ही इस पाठक वर्ग के लिए लिखते हैं। उनके आलेख विशिष्ट शब्दावली से भरे होते हैं और, जैसा कि कमला ने पाया, शैक्षणिक मनोविज्ञान की पाठ्यपुस्तकें भी इस दूरी को पाट नहीं पातीं। यों कमला ने इस क्षेत्र में हुए शोध के सार-संक्षेप को प्रस्तुत करते हुए सरल, सुगम्य भाषा में अंग्रेज़ी में छोटे आलेख लिखना शुरू किया। जब इन आलेखों का स्वागत हुआ तब उन्होंने भारतीय सन्दर्भ में शिक्षकों के लिए मनोविज्ञान पर यह पुस्तक लिखने का फैसला किया।

बहुत सुन्दर काम है, बहुत अच्छा लिखा हुआ। मानो बच्चों की शिक्षा में रुचि रखने वालों के लिए एक विश्वकोश ही हो।

डॉ. यश पाल, राष्ट्रीय शोध प्रोफेसर

एक प्रतिबद्ध शैक्षिक कार्यकर्ता द्वारा लिखी यह किताब बाल मनोविज्ञान पर पिछले 30 सालों के शोध का सार प्रस्तुत करती है। अपनी सरल और रवानगी-भरी शैली में यह कई ऐसे मिथकों को ध्वस्त करती है जो बच्चों के सीखने के बारे में प्रचलित हैं, और प्रगतिशील शिक्षण पद्धति में हमारे विश्वास को और पुख्ता करती है। साथ ही शिक्षकों के चिन्तन-मनन के लिए यह शोध के कई नए दायरे सामने रखती है। भारतीय सन्दर्भों की ज़मीन पर मज़बूती से खड़ी इस किताब को शिक्षा जगत् के हरेक गम्भीर कार्यकर्ता को ज़रूर ही पढ़ना चाहिए।

अरविन्द गुप्ता, विज्ञान लेखक

कई अन्तरदृष्टियों और गहरी शोधपरक छानबीन से भरी यह किताब शिक्षकों और शिक्षाविदों, तथा बच्चों के साथ करीब-से काम करने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए है। बाल मनोविज्ञान के क्षेत्र में हो रहे आधुनिकतम शोध को लागू करते हुए लेखिका स्कूली शिक्षा के बारे में हमारे नज़रिए और तौर-तरीकों में नाटकीय बदलाव की गुहार करती हैं। मुकुन्दा कहती हैं कि सही जवाब देने से कहीं ज़्यादा महत्वपूर्ण है सही सवाल पूछ पाना। वे शिक्षकों को बेहतर सीखने-सिखाने के तरीके और बच्चों के सीखने की प्रक्रिया के प्रति एक खुली सोच अपनाने को प्रेरित करती हैं।

कदम-कदम चलते हुए और दुनिया भर की स्कूली स्थितियों की मिसाल देते हुए यह किताब सीखना, याददाश्त, बुद्धि-लब्धि, बाल विकास और भावनात्मक स्वास्थ्य के बारे में कई रोचक सवालों की पड़ताल करती है। यह महज़ अध्यापन पर एक पाठ्यपुस्तक नहीं है, बल्कि अभिभावकों, सामाजिक कार्यकर्ताओं, मनोवैज्ञानिकों और परामर्शदाताओं के लिए भी एक रोचक किताब है।